☐ प्रकाशक :

देवेन्द्रराज मेहता

सचिव, प्राकृत भारती अकादमी,
3826, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जौहरी बाजार,
जयपुर-302003 (राजस्थान)

●

पारसमल भंसाली

अध्यक्ष, श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
पो: मेवानगर, स्टेशन बालोतरा
344025 जिला बाड़मेर (राज०)

☐ प्रथम संस्करण : मार्च 1988

☐ मूल्य : 100-00 एक सौ रुपया मात्र

☐ मुद्रक :

पॉपुलर प्रिण्टर्स
नवाब साहब की हवेली,
त्रिपोलिया, जयपुर ।

PRAKRIT BHARATI PUSHPA—46

ISIBHASIYAIM SUTTAIM

(RISHIBHASHIT SUTRA)

□

Editor & Hindi Translator

Mahopadhyay Vinaysagar

●

English Translator

KALANATH SHASTRI

DINESH CHANDRA SHARMA

□

PRAKRIT BHARATI ACADEMY, JAIPUR

SHRI JAIN SWETAMBER NAKODA PARSHWANATH

TEERTH, MEWANAGAR

Publishers :

D. R. Mehta,
Secretary,
Prakrit Bharati Academy,
3826, Yati Shyamlalji ka Upasara,
Rasta M. S. B., Jaipur—302003

•

Parasmal Bhansali,
President,
Shri Jain Swetamber Nakoda Parshwanath Teerth
P. O. Mewanagar, St. Balotra,
Distt. Barmer—344025.

□

First Edition : March, 1988

□

Price : Rs. 100.00

□

Printed by :

Popular Printers,
Nawab Sahab ki Haweli
Tripolia Bazar, Jaipur.

[illegible] SUTTA/Philosophy
[illegible] Sagar, [illegible], Shastri, Dinesh Chandra Sharma/1988

अनुक्रमणिका
CONTENTS

प्रकाशकीय

आज हम अत्यन्त प्रमुदित हैं कि प्राकृत भारती का 46वां पुष्प प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर और श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर के संयुक्त प्रकाशन के रूप में यह ग्रन्थ चिन्तनशील पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

ऋषिभाषित न केवल जैन श्रमण-परम्परा की ही अमूल्य निधि है अपितु भारतीय परम्परा–वैदिक, बौद्ध एवं श्रमण-परम्परा की अमूल्य निधि है। इसमें ईसा पूर्व १०वीं शती से लेकर छठी शती तक के तीर्थंकरों, श्रमणों, ऋषियों, महर्षियों, परिव्राजकों के न केवल विचारों का ही संकलन है, अपितु उनके मूलभूत सिद्धान्तों/मन्तव्यों के साथ अनुभूतिपूर्ण आध्यात्मिक एवं नीतिपरक उपदेशों का भी संकलन है। जो है, वह भी पूर्ण प्रामाणिक है। इसमें कहीं भी, किसी भी परम्परा का आग्रह या विरोध दृष्टिपथ में नहीं आता है। बल्कि, सर्वदा समभाव की गूँज ही परिलक्षित होती है। केवल उत्कल को छोड़कर, चाहे वह तीर्थंकर हो, परिव्राजक हो, ऋषि हो या श्रमण हो, सबको अर्हत् शब्द से सम्बोधित/सम्मानित किया है।

यह जैन श्रमण परम्परा की अभूतपूर्व/असाधारण उदारता ही थी कि उसने इस अमूल्य थाती को न केवल सुरक्षित ही रखा, अपितु परम्परावाद से दूर रहकर अपने आगमिक साहित्य में महत्वपूर्ण एवं उचित स्थान भी दिया। नन्दिसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र के अनुसार आगम साहित्य में प्रकीर्णक ग्रन्थ में इसे स्वीकार भी किया। इतना ही नहीं, बल्कि आगम ग्रन्थों के समान इसके पठन/ग्रहण करने की साधना-विधि भी निर्धारित की।

आज के साम्प्रदायिक विषम वातावरण में, जहाँ जैन जैन को, हिन्दू हिन्दू को हीन और निम्न दिखाने की छलना में ग्रस्त होकर भारतीयता की धज्जियां बिखेरने लगा है, वहाँ ऐसे समय में समभाव और समन्वय भाव के विचारों से ओत-प्रोत ऐसे ही अनुपमेय ग्रन्थों के पठन-पाठन से विवेक जाग्रत हो सकता है। और यह, विवेक ही भविष्य में भारतीयता की सुरक्षा कर सकता है।

पूर्व में इस ग्रन्थ के संस्करण मूल, अंग्रेजी टिप्पण और हिन्दी अनुवाद (भाष्य) के साथ प्रकाशित हुए अवश्य हैं, किन्तु, प्रांजल भाषा में मूलानुसारी हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद संयुक्त रूप से प्रकाशित नहीं हुए थे। मूल के साथ दोनों भाषाओं के अनुवाद एक साथ प्राकृत भारती से प्रकाशित हों, यह हमारी प्रबल उत्कण्ठा थी। इसी उत्कण्ठा ने इसे मूर्त रूप प्रदान किया। फलतः प्राकृत भारती

परिशिष्ट–1.

परिशिष्ट–2.

Publisher's Note

We are pleased to present before our learned readers this 46th Pushpa of Prakrit Bharti, published jointly by Parkrit Bharti Academy, Jaipur and Shri Jain Swetamber Nakoda Parshwanath Teerth, Mewanagar.

Rishibhashit is an invaluable treasure, not only of the Jain tradition but also of Indian, Vedic, Buddhist and Sraman traditions. This work is a compilation of thoughts, basic principles, ideas, philosophical and moral teachings of original thinkers, traditionally addressed as Teerthankars, Sramans, Rishis, Maharshis, Parivrajaks etc; belonging to the period between 10th to 6th century B.C. All that is there is authentic. Inter-traditional bias or antagonism is not at all evident, equanimity reflects every where. Besides Utkal every ascetic, whether he is Teerthankar, Parivrajak, Rishi or Shraman, has been reverently addressed as Arhat.

Credit goes to the unbiased approach of Jain Sraman tradition that they not only preserved this invaluable work but also gave it an important and deserved place in their canons, keeping away from the normal traditionalism. Nandisutra and Pakshiksutra have confirmed its inclusion *in canons as anthological works. Even the ritrial procedures for its study* have been prescribed as for other canonical works.

In prevailing complex communal atmosphere, where nationalism is disintegrating under the self destructive pressures within communities, such exceptional collection of thoughts of equanimity and assimilation can promote and enhance moral values. Only such moral values can revive Indianism in future.

In the past, some editions have been published with original text and English or Hindi notes and translation. But a good bilingual translation was never published. Our craving to publish original text with English as well as Hindi translations prompted us to launch this edition. The director of Prakrit Bharti completed the Hindi translation. On our request Shri Kalanath Shashtri, Bhasha Vibhag, Government of Rajasthan and Shri Dinesh Chandra Sharma jointly did the English translation in their scholarly style. Both these are established scholars of their subject and highly posted with Government of Rajasthan. We are grateful to both these scholars.

Dr. Sagarmal Jain, Diriector, Parshwanath Vidyashram Shodh Sansthan, Varanasi, deserves our gratitude for writing a detailed preface in Hindi, titled. 'Rishibhashit; Ek Adhyayan' on our request. The learned author has disscussed in details all facts of Rishibhashit in his peculiar style. Dr. Sagarmal is a renowned scholar of Jain canons and literature besides philosophy. His research work has been published in 1982 by Prakrit Bharti in two volumes under the title—'Jain, Bauddh Aur Gita Ke Achar Darshan Ka Tulanatmak Adhyayan'. He was awarded the 1987 Pradip Kumar Rampuria Memorial literary prize for this work. We are thankful to Shri Surendra Bothara for the English translation of this preface. His book AHIMSA : The Science of Peace has been published in English only this year by Prakrit Bharti.

We are pleased that the Government of Rajasthan has given valuable contribution in form of financial grant-in-aid for publication of this work. We are as such, grateful to officers of the Art and Culture Department of Govt. of Rajasthan.

Last but not the least, we are thankful to the managers of Popular Printers, Jaipur for the neat printing of this book.

Parasmal Bhansali M. Vinay Sagar D. R. Mehta

अनुवादकीय भूमिका

जैनागमों के बहुमूल्य और विशाल भण्डार में एक सूत्र/प्रकीर्णक ग्रंथ "इसि-भासियाइं" (ऋषि-भाषितानि) बहुत समादृत और प्राचीन सूत्र माना जाता है। इसमें 45 ऋषियों के अध्यात्म दर्शन, जिसे सही अर्थो में जीवन-दर्शन कहा जाना चाहिये, का सार-संक्षेप, उपदेशात्मक अभिव्यक्तियां, देशना तथा मार्गदर्शन देने वाले प्राकृत सूत्र निबद्ध हैं। इनकी भाषा मिली-जुली प्राकृत है जो कहीं मागधी और अर्द्धमागधी प्रधान है और कहीं उस पर शौरसैनी और पैशाचि की छाया भी है। कहीं महाराष्ट्री का प्रभाव है। भाषाविज्ञों ने यह मत व्यक्त किया है कि इनकी भाषा को देखते हुए यह सूत्र बहुत प्राचीन प्रतीत होता है। इसकी यह विशेषता तो स्वतः स्पष्ट है ही कि इन ऋषियों में जैन, अर्हत् और तत्त्व-चिन्तक (जैसे पार्श्व-नाथ, महावीर आदि) तो हैं ही, प्राचीन वैदिक परम्परा के ऋषि भी हैं (जैसे अंगिरा, याज्ञवल्क्य), पौराणिक परम्परा के ऋषि भी हैं (जैसे नारद, उद्दालक), पिंग और इसिगिरि जैसे ब्राह्मण परिव्राजक भी हैं तो सातिपुत्र जैसे बौद्ध भिक्षु भी। यह अपने आप में इस देश की प्राचीन चिन्तन-परम्परा की उस विशेषता का प्रमाण है जिसमें सम्प्रदाय विशेष से ऊपर उठकर भी दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन हुआ करता था और प्रत्येक शाखा के मनीषी अन्य शाखाओं के तत्त्वचिन्तन को भी आदर देकर उसका संकलन करते थे। इस सूत्र के महत्त्व और विशेषताओं पर इस ग्रंथ में अन्यत्र डॉ० सागरमल जैन की "ऋषिभाषित: एक अध्ययन" शीर्षक प्रस्तावना के अन्तर्गत पर्याप्त सामग्री मिलेगी।

प्राकृत भारती अकादमी के प्रमुख कार्यभारियों का, विशेषकर इसके कमठ सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता का ध्यान ऋषिभाषित सूत्रों की ओर गया; जिनकी उपर्युक्त विशेषता इसे अन्य ग्रन्थों से अलग-अलग स्थापित करती है। उन्होंने अनुभव किया कि इन सूत्रों का हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित यदि एक संस्करण प्रकाशित हो तो वह बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर सकेगा; क्योंकि अब तक इस प्रकार का कोई संस्करण इन सूत्रों का उपलब्ध नहीं था। यद्यपि इसका गुजराती एवं हिन्दी अनुवाद सर्वप्रथम 1963 में निकला था। अनुवाद किया था प्रसिद्ध वक्ता एवं विचारक श्री मनोहरमुनि शास्त्री ने। इस अनुवाद के साथ भाष्य की शैली में उन्होंने हिन्दी व्याख्या भी दी थी जो प्रो. शुब्रिंग के सम्पादन में छपी संस्कृत टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुई थी। यह संस्कृत टिप्पणी 1942 में प्रोफेसर शुब्रिंग के सम्पादन में सर्वप्रथम छपी बतलाई गई है। यह संक्षिप्त टीका जिज्ञासुओं के लिए पर्याप्त नहीं है तथापि हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय जर्मनी के प्रोफेसर डॉ. वाल्टर शुब्रिंग ने अपने संस्करण में इसे संस्कृत टीका के रूप में छपाया था। सर्वप्रथम 1942 में गोटिंजन

की विद्या अकादमी की पत्रिका में पृष्ठ 489/576 पर रोमन लिपि में इन सूत्रों का मूल पाठ तथा प्रो. शुब्रिंग की जर्मन टिप्पणियां भी साथ थी। उस समय जर्मन अनुवाद नहीं छपा था। वह बाद में हाम्बुर्ग से 1969 में छपा। सुनते हैं उसका अंग्रेजी अनुवाद भी किसी ने किया था किन्तु वह देखने में अब तक किसी के नहीं आया है। इन सूत्रों का एक रोमन देवनागरी संस्करण अहमदाबाद के एल. डी. इन्स्टीट्यूट ने भी 1974 में पहली बार प्रकाशित हुआ, जो शुब्रिंग के सम्पादनानुसार उनकी भूमिका के अंग्रेजी अनुवाद सहित तथा उनकी संक्षिप्त टिप्पणियों के अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ। इसमें भी केवल रोमन तथा देवनागरी मूल है, हिन्दी अनुवाद कहीं नहीं है। इस प्रकार हिन्दी तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित इसके प्रकाशन से जिज्ञासुओं को एक साथ वह सारी सामग्री मिल जायेगी, यह अकादमी का निर्णय रहा।

अनुवादकों का प्रमुख उद्देश्य प्राकृत के इन सूत्रों का आशय तथा मूल का सीधा अर्थ पाठक तक पहुंचाना रहा है। इसलिए सरलता की ओर ध्यान रखते हुए भी यह प्रयत्न नहीं किया गया है कि यह व्याख्या अथवा भाष्य बने, इसे केवल अनुवाद ही रहने देने का प्रयत्न किया गया है। इससे पाठक मूल का भाव सीधे-सीधे समझ सकता है और उसके बाद अपने अध्ययन अथवा तुलनात्मक विवेचन के बाद अपने निष्कर्ष निकाल सकता है। सूत्रों का मूल प्राचीन होने के कारण अनेक स्थानों पर इसमें अस्पष्टता थी। किन्तु उनके पाठालोचन के फेर में न पड़कर उनका जो सीधा अर्थ बन सकता है वही अनुवाद के रूप में रखा गया है। अंग्रेजी अनुवाद में प्रोफेसर शुब्रिंग के टिप्पणों से कुछ सीमा तक सहायता अवश्य मिली है, किन्तु इन टिप्पणों का उद्देश्य अर्थ या अनुवाद करने का नहीं था। इस टिप्पणी का उद्देश्य पाठालोचन के साथ तुलनात्मक भाषिक तथा समीक्षात्मक टिप्पणियां देना मात्र था। उन्होंने एक स्थान पर स्पष्ट किया है कि 1942 में केवल मूल और टिप्पणियां ही प्रस्तुत की गई थीं। अनुवाद बाद के लिए छोड़ दिया गया था (यद्यपि वह तैयार था)। कारण था कि तब तक कुछ ही मूल प्रतियां उपलब्ध थीं। टूटे हुए स्थलों का पूरा करना तथा अस्पष्ट स्थलों को स्पष्ट करना, भारत से अन्य प्रतियां प्राप्त होने के बाद ही हो सकता था।

प्रस्तुत संस्करण में मूल प्राकृत पाठ एल. डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद से 1974 में प्रकाशित संस्करण के अनुसार मूल प्राकृत सर्वप्रथम उद्धृत है, फिर हिन्दी अनुवाद और फिर अंग्रेजी अनुवाद। जिससे कि एक साथ ही तीनों भाषाओं को पाठक पढ़ सकें, यह क्रम प्रत्येक छंद या गद्यांश के क्रमशः हिन्दी अंग्रेजी अनुवाद देते हुए समस्त 45 अध्ययनों में निभाया गया है। आशा है इससे पाठकों को सुविधा होगी तथा इन सूत्रों का आशय उन्हें हृदयंगम हो सकेगा।

—अनुवादक गण

TRANSLATORS' NOTE

Isi-bhasiyaiyam (Rishibhashitani) is considered to be a very old and revered anthological work within the vast and valuable collection of Jain canonical literature. It is a collection of aphorisms enveloping philosophy, preachings, teachings, and doctrines or in other words the sum total of philosophy of life of 45 sages. The language is mixed Prakrit having influence of Magadhi and Ardha-Magadhi at some places and Shaurseni and Paishachi at others. There is an influence of Maharashtri also at some places. According to linguists, its language indicates that this work is probably very old.

The inclusion of Angira and Yajnavalkya of ancient Vedic tradition, Narad and Uddalak of Puranik tradition, Ping and Isigiri of Brahmin Parivrajak tradition and Satiputra of Buddhist tradition alongwith the Jain Arhats and original thinkers like Parshwa and Mahavir is evidence of the uniqueness of this work. It confirms the open-mindedness of the ancient philosophical traditions of this country where philosophical thinking rose above the communal or sectarian bias and scholars of one *school of thought respected and compiled thoughts of other schools.*

The importance and distinctive feature of this work have been elaborated by Dr. Sagarmal Jain in the preface of this book (Rishibhashit : A study).

The executive members of the academy, especially the devoted secretary, Shri D. R. Mehta, were attracted toward this book, which is conspicuous even in the heap of literature. They felt that if these aphorisms were published with English and Hindi translations it would fulfill an important need. Till date no such edition is available.

A Gujarati and Hindi translation of this book was published in 1963. The translator was the famous thinker and orator Shri Manohar Muni Shashtri. This translation also included a commentary alongwith the Sanskrit commentary from Schubring's edition. Although this short Sanskrit commentary was not adequate, it was still included in the book compiled by Prof. D. Walther Schubring of Hamburg University.

The original Sanskrit text of these aphorisms in Roman Script were first published in 1942 in the booklet—den Nachrichten der Akademie der Wissenschaften Zu Gottingen alongwith introduction and critical

notes in German by Dr. Schubring (pp. 489-576). The German translation was published only in 1969 from Hamburg. It is said that some one did an English translation but no one has seen it till date. A Roman and Devnagari script edition of this book was published for the first time in 1974 by L. D. Institute, Ahmedabad; this also contained English translations of the preface and critical notes by Schubring, This too has only the original text in Roman and Devnagari script and no Hindi translation.

As such, it was decided by Prakrit Bharti that the publication of Hindi and English translation with original text will provide all that is needed by the probing scholars in one volume. The main goal of the translators is to convey the idea and simple meaning of these aphorisms to the reader. As such inspite of the intention to simplify the meaning, care has been taken that it does dot turn out to be a commentary or explanation. It has been kept as a translation strictly. . This would enable the reader to understand the original text and arrive at his own conclusions after study and critical analysis. As the original text is ancient, it was confusing at many places. However, not going into the discrepancies of various texts, only the primary and direct meaning has been given in this edition.

The critical notes of Dr. Schubring have helped in the English translation, but only to a certain extent because these notes were not meant to be translations. They were written for the purpose of critical analysis of the text, language etc. Dr. Schubring has explained that in 1942 only original text and critical notes were published. Translation, although ready, was left for later publication. The reason was that only a few copies of the text were available. Completing the missing portions and clarifying the vague parts could only be done after getting some more copies from India.

The original Prakrit text, taken from the 1974 L. D. Inst. Edition, is at the beginning, followed by Hindi translation and then English one of every verse or prose part. This system has been followed throughout the 45 chapters of this book. We hope this facilitates verse-wise reading in all the three languages.

—**Translators**

ऋषिभाषित : एक अध्ययन

☐ प्रो० सागरमल जैन

जैन आगम साहित्य में ऋषिभाषित का स्थान—

ऋषिभाषित- (इसिभासियाइं) अर्धमागधी जैन आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। वर्तमान में जैन आगमों के वर्गीकरण की जो पद्धति प्रचलित है, उसमें इसे प्रकीर्णक ग्रन्थों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। दिगम्बर परम्परा में १२ अंग और १४ अंगबाह्य माने गये हैं किन्तु उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में स्थानकवासी और तेरापंथी, जो ३२ आगम मानते हैं, उनमें भी ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, २ चूलिकासूत्र और १० प्रकीर्णक, ऐसे जो ४५ आगम माने जाते हैं, उनमें भी १० प्रकीर्णकों में हमें कहीं ऋषिभाषित का नाम नहीं मिलता। यद्यपि नन्दीसूत्र और पक्खीसूत्र में जो कालिक सूत्रों की गणना की गयी है उनमें ऋषिभाषित का उल्लेख है[1]। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थभाष्य में अंग-बाह्य ग्रन्थों की जो सूची दी है उसमें सर्वप्रथम सामायिक आदि ६ ग्रन्थों का उल्लेख है और उसके पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा

---

१. (अ) से किं कालियं ? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं।
तं जहा उत्तरज्झयणाइं १, दसाओ २, कप्पो ३, ववहारो ४, निसीहं ५, महानिसीहं ६, इसिभासियाइं ७, जंबुद्दीवपण्णत्ती ८, दीवसागरपण्णत्ती।
—नन्दिसूत्र ८४।

—(महावीर विद्यालय, बम्बई १९६८)

(ब) नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं अंगबाहिरं कालिअं भगवंतं।
तं जहा—
१. उत्तरज्झयणाइं, २. दसाओ, ३. कप्पो, ४. ववहारो,
५. इसिभासिआइं, ६. निसीहं ७. महानिसीहं........।
(ज्ञातव्य है कि पक्खियसुत्त में अंग-बाह्य ग्रन्थों की सूची में २८ उत्कालिक और ३६ कालिक कुल ६४ ग्रन्थों के नाम हैं। इनमें ६ आवश्यक और १२ अंग मिलाने से कुल ८२ की संख्या होती है, लगभग यह सूची विधिमार्गप्रपा में भी उपलब्ध होती है।)

—पक्खियसुत्त (पृ० ७९)
(देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सीरिज क्रमांक ९९)

(आचारदशा), कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का उल्लेख है[२]। हरिभद्र आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में एक स्थान पर इसका उल्लेख उत्तराध्ययन के साथ करते हैं[३] और दूसरे स्थान पर 'देविन्दथुय' नामक प्रकीर्णक के साथ[४]। हरिभद्र के इस भ्रम का कारण यह हो सकता है कि उनके सामने ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) के साथ-साथ ऋषिमण्डल स्तव (इसिमण्डलत्थउ) नामक ग्रन्थ भी था, जिसका उल्लेख आचारांग-चूर्णि में है और उनका उद्देश्य ऋषिभाषित को उत्तराध्ययन के साथ और ऋषिमण्डलस्तव को 'देविन्दथुय' के साथ जोड़ने का होगा। यह भी स्मरणीय है कि इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) में न केवल ऋषिभाषित के अनेक ऋषियों का उल्लेख है, अपितु उनके इसिभासियाइं में जो उपदेश और अध्ययन हैं उनका भी संकेत है। इससे यह भी निश्चित होता है कि इसिमण्डल का कर्ता ऋषिभाषित से अवगत था। मात्र यही नहीं, ऋषिमण्डल में तो क्रम और नामभेद के साथ ऋषिभाषित के लगभग सभी ऋषियों का उल्लेख मिलता है। इसिमण्डल का उल्लेख आचारांग-चूर्णि 'इसिणामकित्तणं इसिमण्डलत्थउ' (पृष्ठ ३८४) में होने से यह निश्चित ही उसके पूर्व (७वीं शती के पूर्व) का ग्रन्थ है। विद्वानों को इस सम्बन्ध में विशेष रूप से चिन्तन करना चाहिए। इसिमण्डल के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि वह तपागच्छ के धर्मघोषसूरि की रचना है; किन्तु मुझे यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है, क्योंकि ये १४ वीं शती के आचार्य हैं। वस्तुतः इसिमण्डल की भाषा से भी ऐसा लगता है कि यह प्राचीन ग्रन्थ है और इसका लेखक ऋषिभाषित का ज्ञाता है। आचार्य जिनप्रभ ने विधिमार्गप्रपा में तप आराधना के साथ आगमों के स्वाध्याय की, जिस विधि का वर्णन किया है, उसमें प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित का उल्लेख करके प्रकीर्णक अध्ययनक्रम विधि को समाप्त किया

---

२. अंगबाह्यमनेकविधम्। तद्यथा—सामायिकं, चतुर्विंशति स्तवः, वन्दनं, प्रतिक्रमणं, कायव्युत्सर्गः, प्रत्याख्यानं, दशवैकालिकं, उत्तराध्यायाः, दशाः, कल्पव्यवहारौ, निशीथं, ऋषिभाषितानीत्येवमादि।

—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्य) १/२०

(देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, क्रम संख्या ५७)

३. तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि····।

—आवश्यक निर्युक्तिः, हारिभद्रीयवृत्ति पृ० २०६

४. ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवादीनां निर्युक्तिं·······।

—आवश्यक निर्युक्ति, हारिभद्रीय वृत्ति पृ० ४१

है[५]। इस प्रकार वर्गीकरण की प्रचलित पद्धति में ऋषिभाषित की गणना प्रकीर्णक सूत्रों में का जा सकती है।

प्राचीन काल में जैन परम्परा में इसे एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता था। आवश्यक निर्युक्ति में भद्रबाहु ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं[६], वर्तमान में यह निर्युक्ति उपलब्ध नहीं होती है। आज तो यह कहना भी कठिन है कि यह निर्युक्ति लिखी भी गई थी या नहीं। यद्यपि 'इसिमण्डल' जिसका उल्लेख आचारांगचूर्णि में है, इससे सम्बन्धित अवश्य प्रतीत होता है। इन सबसे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि ऋषिभाषित एक समय तक जैन परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है। स्थानांग में इसका उल्लेख प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में हुआ है[७]। समवायांग इसके ४४ अध्ययनों का उल्लेख करता

---

५. इसिभासियाइं पणयालीसं अज्झयणाइं कालियाइं, तेसु दिण ४५ निव्विएहिं अणागाढ-जोगो। अण्णे भणंति उत्तरज्झयणेसु चेव एयाइं अंतब्भवंति।

विधिमार्गप्रपा पृ० ५८

देविंदत्थयमाई पइण्णगा होंति इगिगनिविएण।
इसिभासिय अज्झयणा आयंबिलकालतिगसज्झा ॥ ६१ ॥
केसिं चि मए अंतब्भवंति एयाइं उत्तरज्झयणे।
पणयालीस दिणेहिं केसिं वि जोगो अणागाढो ॥ ६२ ॥

विधिमार्गप्रपा पृ० ६२

(ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की संख्या के सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा में भी मतैक्य नहीं है। 'सज्झायपट्ठवण विही' पृ० ४५ पर ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद, ४ मूल एवं २ चूलिका सूत्र के घटाने पर लगभग ३१ प्रकीर्णकों के नाम मिलते हैं। जबकि पृ० ५७–५८ पर ऋषिभाषित सहित १५ प्रकीर्णकों का उल्लेख है।)

६. (अ) कालियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपण्णत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होई अणुओगो ॥ १२४ ॥ (मू० भा०)
तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि 'तृतीयश्च' कालानुयोगः,

—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति : पृ० २०६

(ब) आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्तिं वुच्छामि तहा दसाणं च ॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभासिआणं च ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति ८४–८५

७. पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पन्नता, तंजहा—उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासिताइं, महावीरभासिताइं, खोमपसिणाइं, कोमलपसिणाइं अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं।

—ठाणंगसुत्ते, दसमं अज्झयणं दसट्ठाणं
(महावीर जैन विद्यालय संस्करण पृ० ३११)

है[8]। जैसा कि पूर्व में हम सूचित कर चुके हैं नन्दीसूत्र, पक्खीसूत्र आदि में इसकी गणना कालिकसूत्रों में की गई है। आवश्यकनिर्युक्ति इसे धर्मकथानुयोग का ग्रन्थ कहती है (आवश्यक-निर्युक्ति हारिभद्रीय वृत्तिः पृ. २०६)।

ऋषिभाषित का रचनाक्रम एवं काल—

यह ग्रन्थ अपनी भाषा, छन्द-योजना और विषय वस्तु की दृष्टि से अर्धमागधी जैन आगम ग्रन्थों में अतिप्राचीन है। मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध से किंचित् परवर्ती तथा सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। मेरी दृष्टि में इसका वर्तमान स्वरूप भी किसी भी स्थिति में ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं होता है। स्थानांग में प्राप्त सूचना के अनुसार यह ग्रन्थ प्रारम्भ में प्रश्नव्याकरणदशा का एक भाग था; स्थानांग में प्रश्नव्याकरण दशा की जो दस दशाएं वर्णित हैं, उसमें ऋषिभाषित का भी उल्लेख है। समवायांग इसके ४४ अध्ययन होने की भी सूचना देता है। अतः यह इनका पूर्ववर्ती तो अवश्य ही है। सूत्रकृतांग में नमि, बाहुक, रामपुत्त, असित देवल, द्वैपायन, पराशर आदि ऋषियों का एवं उनकी आचारगत मान्यताओं का किंचित् निर्देश है। इन्हें तपोधन और महापुरुष कहा गया है। उसमें कहा गया है कि पूर्व ऋषि इस (आर्हत् प्रवचन) में 'सम्मत' माने गये हैं। इन्होंने (सचित्त) बीज और पानी का सेवन करके भी मोक्ष प्राप्त किया था[9]। अतः पहला प्रश्न यही उठता है कि इन्हें सम्मानित रूप में जैन परम्परा में सूत्रकृतांग के पहले किस ग्रन्थ में स्वीकार किया गया है? मेरी दृष्टि में केवल ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें इन्हें सम्मानित रूप से स्वीकार किया गया है। सूत्रकृतांग की गाथा का 'इह-सम्मता' शब्द स्वयं सूत्रकृतांग की अपेक्षा ऋषिभाषित के पूर्व अस्तित्व की सूचना देता है। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृतांग

---

८. चोयालीसं अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुताभासिया पण्णत्ता।

—समवायंगसुत्त-४४

९ आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति॥ १॥

अभुंजिया नमी विदेही, रामपुत्ते य भुंजिया।
बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसी॥ २॥

आसिले देविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य॥ ३॥

एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह सम्मता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेयमणुस्सुयं॥ ४॥

—सूत्रकृतांग १/३/४/१–४

और ऋषिभाषित दोनों में जैनेतर परम्परा के अनेक ऋषियों यथा असित देवल, वाहुक आदि का सम्मानित रूप में उल्लेख किया गया है। यद्यपि दोनों की भाषा एवं शैली भी मुख्यतः पद्यात्मक ही है, फिर भी भाषा के दृष्टिकोण से विचार करने पर सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध की भाषा भी ऋषिभाषित की अपेक्षा परवर्तीकाल की लगती है। क्योंकि, उसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत के निकट है, जबकि ऋषिभाषित की भाषा कुछ परवर्ती परिवर्तन को छोड़कर प्राचीन अर्धमागधी है। पुनः जहाँ सूत्रकृतांग में इतर दार्शनिक मान्यताओं की समालोचना की गयी है वहाँ ऋषिभाषित में इतर परम्परा के ऋषियों का सम्मानित रूप में ही उल्लेख हुआ है। **यह सुनिश्चित सत्य है कि यह ग्रन्थ जैन धर्म एवं संघ के सुव्यवस्थित** होने के पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन संघ में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णतः अभाव था। मंखलि गोशालक और उसकी मान्यताओं का उल्लेख हमें जैन आगम सूत्रकृतांग[१०], भगवती[११], और उपासकदशांग[१२] में और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, दीघनिकाय के सामञ्ञ-फलसुत्त[१३] आदि में मिलता है। सूत्रकृतांग में यद्यपि स्पष्टतः मंखलि गोशालक का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसके आर्द्रक नामक अध्ययन में नियतिवाद की समालोचना अवश्य है। यदि हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश के विकास की दृष्टि से विचार करें तो भगवती का मंखलि गोशालक वाला प्रकरण सूत्रकृतांग और उपासकदशांग की अपेक्षा भी पर्याप्त परवर्ती सिद्ध होगा। सूत्रकृतांग, उपासकदशांग और पालि-त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थ मंखलि गोशालक के नियतिवाद को प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हैं। फिर भी जैन आगम ग्रन्थों की अपेक्षा सुत्तनिपात में मंखलि गोशालक की गणना बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों में करके उनके महत्व और प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन अवश्य किया गया है[१४], किन्तु पालि-त्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी ऋषिभाषित में उसे अर्हत् ऋषि कह

---

१०. सूत्रकृतांग २/६/१–३, ७, ९

११. भगवती, शतक १५

१२. उपासकदशांग अध्याय ६ एवं ७

१३. (अ) सुत्तनिपात ३२ सभियसुत्त
    (ब) दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त

१४. ये ते समणब्राह्मणा संगिनो गणिनो गणाचरिया आता यसस्सिनो तित्थकरा साधु सम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं–पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकम्वली, पकुधो कच्चायनो, संजयो बेलट्ठिपुत्ता, निग्गण्ठो नातपुत्तो।

—सुत्तनिपात, ३२–सभियसुत्त

कर सम्मानित किया गया है। अतः धार्मिक उदारता की दृष्टि से ऋषिभाषित की रचना पालि त्रिपिटक की अपेक्षा भी प्राचीन है। क्योंकि, किसी भी धर्म संघ के सुव्यवस्थित होने के पश्चात् ही उसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश का विकास होता है। ऋषिभाषित स्पष्टरूप से यह सूचित करता है कि उसकी रचना जैन परम्परा में साम्प्रदायिक अभिनिवेश आने के बहुत पूर्व हो चुकी थी। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष सभी जैन आगम ग्रन्थों में धार्मिक अभिनिवेश न्यूनाधिक रूप में अवश्य परिलक्षित होता है। अतः ऋषिभाषित केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर शेष सभी जैनागमों से प्राचीन सिद्ध होता है। भाषा, छन्द-योजना आदि की दृष्टि से भी यह आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के मध्य में ही सिद्ध होता है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात है[१५] किन्तु उसमें भी वह उदारता नहीं है जो ऋषिभाषित में है। त्रिपिटक साहित्य में ऋषिभाषित में उल्लेखित कुछ ऋषियों यथा नारद[१६], असितदेवल[१७], पिंग[१८], मंखलिपुत्र[१९], संजय (वेलट्ठिपुत्त)[२०], वर्धमान (निग्गंठ नायपुत्त)[२१], कुम्मापुत्त[२२] आदि के उल्लेख हैं, किन्तु इन सभी को बुद्ध से निम्न ही बताया गया है—दूसरे शब्दों में वे ग्रन्थ भी साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त नहीं हैं, अतः यह उनका भी पूर्ववर्ती ही है। ऋषिभाषित में उल्लेखित अनेक गाथांश और गाथायें भाव, भाषा और शब्दयोजना की दृष्टि से जैन परम्परा के सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक

---

१५. (अ) पालिसाहित्य का इतिहास (भरतसिंह उपाध्याय) पृ० १०२–१०४

(ब) It is............the oldest of the poetic books of the Buddhist Scriptures.

—The Suttanipata (sister Vayira) Introduction for P. 2

१६. उभो नारद पब्बता।

—सुत्तनिपात ३२, सभियसुत्त ३४,

१७. असितो इसि अद्दस दिवाविहारे।

—सुत्तनिपात ३७, नालक सुत्त १

१८. जिण्णोऽहमस्मि अबलो वीतवण्णो (इच्चायस्मा पिंगियो)।

—सुत्तनिपात ७१ पिंगियमाणवपुच्छा

१९. सुत्तनिपात ३२, सभियसुत्त।

२०. वही।

२१. वही।

२२. थेरगाथा ३८; डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स।

—वोल्यूम प्रथम, पेज ६२१, वोल्यूम द्वितीय पेज १५

और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती हैं। अतः उनकी रचना-शैली की अपेक्षा भी यह पूर्ववर्ती ही सिद्ध होता है। यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि यह भी संभव है कि ये गाथायें एवं विचार बौद्ध त्रिपिटक साहित्य एवं जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक से ऋषिभाषित में गये हों, किन्तु यह बात इसलिए समुचित नहीं है कि प्रथम तो ऋषिभाषित की भाषा, छन्द-योजना, आदि इन ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीनकाल की है और आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा सुत्तनिपात के अधिक निकट हैं। दूसरे जहाँ ऋषिभाषित में इन विचारों को अन्य परम्पराओं के ऋषियों के सामान्य सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वहाँ बौद्ध त्रिपिटक साहित्य और जैन साहित्य में इन्हें अपनी परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के रूप में आध्यात्मिक कृषि की चर्चा ऋषिभाषित[23] में दो बार और

---

२३. (अ) 'आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअणंगलं ।
झाणं फालो निसित्तो य, संवरो य बीयं दढं ॥ ८ ॥
अकूडत्तं च कुडेसु, विणए णियमणे ठिते ।
तितिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा ॥ ६ ॥
सम्मत्तं गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा ।
धितिजोत्तसुसंबद्धा सव्वण्णुवयणे रया ॥ १० ॥
पंचेव इंदियाणि तु खन्ता दन्ता य णिज्जिता ।
माहणेसु तु ते गोणा गंभीर कसते किसिं ॥ ११ ॥
तवो वीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं परं ।
ववसातो धणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥ १२ ॥
धिती खलं वसुयिकं, सद्धा मेढी य णिच्चला ।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंवुडं ॥ १३ ॥
कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा ।
णिज्जरा तु लवामीसा इति दुक्खाण णिक्खति ॥ १४ ॥
एतं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वापि विसुज्झती ॥ १५ ॥
—इसिभासियाइं २६/८–१५

(ब) कत्तो छेत्तं, कत्तो वीयं, कत्तो ते जुगणंगले ?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णाम ते किसी ? ॥ १ ॥
आता छेत्तं, तवो वीयं, संजमो जुगणंगलं ।
अहिंसा समिती जोज्जा, एसा धम्मन्तरा किसी ॥ २ ॥
एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता ।
एसा बहुसई होई परलोकसुहावहा ॥ ३ ॥

सुत्तनिपात[२४] में एक बार हुई है, किन्तु जहाँ सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि मैं इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करता हूँ, वहाँ ऋषिभाषित का ऋषि कहता है कि जो भी इस प्रकार की कृषि करेगा वह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो मुक्त होगा। अतः ऋषिभाषित आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध को छोड़कर जैन और बौद्ध परम्परा के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीन ही सिद्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम यह भी पाते हैं कि ऋषिभाषित में अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित है। उदाहरण के रूप में ऋषिभाषित में आत्मा के लिए 'आता' का प्रयोग हुआ है, जबकि जैन अंग आगम साहित्य में भी अत्ता, अप्पा, आदा, आया, आदि शब्दों का प्रयोग देखा जाता है जो कि परवर्ती प्रयोग है। 'त' श्रुति की बहुलता निश्चित रूप से इस ग्रन्थ को उत्तराध्ययन की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध करती है, क्योंकि उत्तराध्ययन की भाषा में 'त' के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऋषिभाषित में जाणति, परितप्पति, गच्छती, विज्जती, वट्टती, पवत्तती आदि रूपों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और विषय वस्तु दोनों की ही दृष्टि से यह एक पूर्ववर्ती ग्रन्थ है।

अगन्धन कुल के सर्प का रूपक हमें उत्तराध्ययन[२५], दशवैकालिक[२६]

एयं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वावि य सिज्झती ॥ ४ ॥

—इसिभासियाइं ३२/१–४

२४. सद्धा बीजं तपो वुट्ठि पञ्ञा मे युगनंगलं ।
हिरि ईसा मनो योत्तं सति मे फालपाचनं ॥ २ ॥
कायगुत्तो वचीगुत्तो आहारे उदरे यतो ।
सच्चं करोमि निदानं सोरच्चं मे पमोचनं ॥ ३ ॥
विरियं मे धुरधोरय्हं योगक्खेमाधिवाहनं ।
गच्छति अनिवत्तन्तं यत्थ गन्त्वा न सोचति ॥ ४ ॥
एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला ।
एतं कसिं कसित्वान सब्बदुक्खा पमुच्चतीति ॥ ५ ॥

—सुत्तनिपात, ४–कसिभारद्वाजसुत्त

२५. अहं च भोयरायस्स तं च सि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चर ॥

—उत्तराध्ययन २२/४४

२६. पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥

—दसवैकालिक २/६

और ऋषिभाषित[२७] तीनों में मिलता है। किन्तु, तीनों स्थानों के उल्लेखों को देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि ऋषिभाषित का यह उल्लेख उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन है। क्योंकि, ऋषिभाषित में मुनि को अपने पथ से विचलित न होने के लिए इसका मात्र एक रूपक के रूप में प्रयोग हुआ है, जबकि दशवैकालिक और उत्तराध्ययन में यह रूपक राजमती और रथनेमि की कथा के साथ जोड़ा गया है।

अतः ऋषिभाषित सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक की अपेक्षा प्राचीन है। इस प्रकार ऋषिभाषित आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध का परवर्ती और शेष सभी अर्धमागधी आगम साहित्य का पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। इसी प्रकार पालि त्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी प्राचीन होने से सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक से भी पूर्ववर्ती है।

जहाँ तक इसमें वर्णित ऐतिहासिक ऋषियों के उल्लेखों के आधार पर काल-निर्णय करने का प्रश्न है वहाँ केवल वज्जीयपुत्र को छोड़कर शेष सभी ऋषि महावीर और बुद्ध से या तो पूर्ववर्ती हैं या उनके समकालिक हैं। पालि-त्रिपिटक के आधार पर वज्जीयपुत्त (वात्सीयपुत्र) भी बुद्ध के लघुवयस्क समकालीन ही है– वे आनन्द के निकट थे। वज्जीपुत्रीय सम्प्रदाय भी बुद्ध के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही अस्तित्व में आ गया था। अतः इनका बुद्ध का लघुवयस्क समकालीन होना सिद्ध है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से भी ऋषिभाषित बुद्ध और महावीर के निर्वाण की प्रथम शताब्दी में ही निर्मित हो गया होगा। यह सम्भव है कि इसमें बाद में कुछ परिवर्तन हुआ हो। मेरी दृष्टि में इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी और अन्तिम सीमा ई०पू० ३ शती के बीच ही है। मुझे अन्तः और बाह्य साक्ष्यों में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं मिला, जो इसे इस कालावधि से परवर्ती सिद्ध करे। दार्शनिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसमें न तो जैन सिद्धान्तों का और न बौद्ध सिद्धान्तों का विकसित रूप पाते हैं। इसमें मात्र पंचास्तिकाय और अष्टविध कर्म का निर्देश है। यह भी सम्भव है कि ये अवधारणाएं पार्श्वापत्यों में प्रचलित रही हो और वहीं से महावीर की परम्परा में ग्रहण की गई हो। परिषह, कषाय आदि की अवधारणाएं तो प्राचीन ही हैं। ऋषिभाषित के वात्सीयपुत्र, महाकाश्यप, सारिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियों के उपदेश में भी केवल बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धान्त सन्ततिवाद, क्षणिकवाद आदि ही मिलते हैं। अतः बौद्ध दृष्टि से भी पालि-त्रिपिटक से प्राचीन है।

---

२७. अगन्धणे कुले जातो जधा णागो महाविसो।
मुंचित्ता सविसं भूतो पियन्तो जाती लाघवं ॥

—इसिभासियाइं, ४५/४०

ऋषिभाषित की रचना—ऋषिभाषित की रचना के सम्बन्ध में प्रो० शुब्रिंग एवं अन्य विद्वानों का मत है कि यह मूलत: पार्श्व की परम्परा में निर्मित हुआ होगा, क्योंकि उस परम्परा का स्पष्ट प्रभाव प्रथम अध्याय में देखा जाता है, जहाँ ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक साथ मानकर उसे चातुर्याम की व्यवस्था के अनुरूप ढाला गया है[२९]। पुन: पार्श्व का विस्तृत अध्याय भी उसी तथ्य को पुष्ट करता है। दूसरा इसे पार्श्व की परम्परा का मानने का एक आधार यह भी है कि पार्श्व की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक उदार थी—उसकी अन्य परिव्राजक और श्रमण परम्पराओं से आचार-व्यवहार आदि में भी अधिक निकटता थी। पार्श्वापत्यों के महावीर के संघ में प्रवेश के साथ यह ग्रन्थ महावीर की परम्परा में आया और उनकी परम्परा में निर्मित दशाओं में प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप में सम्मिलित किया गया।

ऋषिभाषित का प्रश्नव्याकरण से पृथक्करण—

अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्यों तो पहले उसे प्रश्नव्याकरणदशा में डाला गया और बाद में उसे उससे अलग कर दिया गया? मेरी दृष्टि में पहले तो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन होने से इसे अपने आगम साहित्य में स्थान देने में महावीर की परम्परा के आचार्यो को कोई बाधा प्रतीत नहीं हुई होगी; किन्तु जब जैन संघ सुव्यवस्थित हुआ और उसकी अपनी एक परम्परा बन गई तो अन्य परम्पराओं के ऋषियों को आत्मसात करना उसके लिए कठिन हो गया। मेरी दृष्टि में प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को अलग करना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु एक उद्देश्यपूर्ण घटना है। यह सम्भव नहीं था कि एक ओर तो सूत्रकृतांग, भगवती[३०] और उपासकदशांग[३१] में मंखलि गोशालक की तथा ज्ञाताधर्म[३२] में नारद की आलोचना करते हुए उनके चरित्र के हनन का प्रयत्न किया जाये और दूसरी ओर उन्हें अर्हत् ऋषि कहकर उनके उपदेशों को आगम-वचन के रूप में सुरक्षित रखा जाये। ईसा की प्रथम शती तक जैन संघ की श्रद्धा को टिकाये रखने का प्रश्न प्रमुख बन गया था। नारद, मंखलि गोशालक, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत ऋषि मानकर उनके वचनों को तीर्थंकर की आगम-वाणी के रूप में स्वीकार करना कठिन हो गया था। यद्यपि इसे भी जैन आचार्यों का सौजन्य ही कहा जाना चाहिए कि उन्होंने ऋषिभाषित को प्रश्न-

---

29. See-Introduction of Isibhasiyaim by walther Schubring, Ahmedabad—1974.

३०. देखें—भगवती, शतक १५

३१. देखें—उपासकदशांग, अध्याय ६ एवं ७

३२. ज्ञाताधर्मकथा, द्रौपदी नामक अध्ययन

व्याकरण से अलग करके भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में उसे सुरक्षित रखा। साथ ही उसकी प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए उसे प्रत्येकबुद्ध भाषित माना। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश ने इतना अवश्य किया कि उसमें उल्लेखित पार्श्व, वर्धमान, मंखलिपुत्र आदि को आगम में वर्णित उन्हीं व्यक्तित्वों से भिन्न कहा जाने लगा।

ऋषिभाषित के ऋषियों को प्रत्येकबुद्ध क्यों कहा गया ?

ऋषिभाषित के मूलपाठ में केतलिपुत्र को ऋषि, अम्बड (२५) को परिव्राजक; पिंग (३२), ऋषिगिरि (३४) एवं श्री गिरि को ब्राह्मण (माहण) परिव्राजक अर्हत् ऋषि, सारिपुत्र को बुद्ध अर्हत् ऋषि तथा शेष सभी को अर्हत् ऋषि के नाम से सम्बोधित किया गया। उत्कट (उत्कल) नामक अध्ययन में वक्ता के नाम का उल्लेख ही नहीं है, अतः उसके साथ कोई विशेषण होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यद्यपि ऋषिभाषित के अन्त में प्राप्त होने वाली संग्रहणी गाथा में[३३] एवं ऋषिमण्डल[३४] में इन सब को प्रत्येकबुद्ध कहा गया है तथा यह भी उल्लेख है कि इनमें से बीस अरिष्टनेमि के, पन्द्रह पार्श्वनाथ के और शेष महावीर के शासन में में हुए हैं। किन्तु, यह गाथा परवर्ती है और बाद में जोड़ी गयी लगती है। मूलपाठ में कहीं भी इनका प्रत्येकबुद्ध के रूप में उल्लेख नहीं है। समवायांग में ऋषिभाषित की चर्चा के प्रसंग में इन्हें मात्र देवलोक से च्युत कहा गया है, प्रत्येकबुद्ध नहीं कहा गया है। यद्यपि समवायांग में ही प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का विवरण देते समय यह कहा गया है कि इसमें स्वसमय और परसमय के प्रवक्ता प्रत्येकबुद्धों के विचारों का संकलन है। चूंकि ऋषिभाषित प्रश्नव्याकरण का ही एक भाग रहा था। इस प्रकार ऋषिभाषित के ऋषियों को सर्वप्रथम समवायांग में परोक्षरूप से प्रत्येकबुद्ध मान लिया गया था[३५]। यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के अधिकांश ऋषि

---

३३. पत्तेयबुद्धमिसिणो वीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स ।
पासस्स य पण्ण दस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥

—इसिभासियाइं, पृ० २०५

३४. नारयरिसिपामुक्खे, वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि ।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि ॥ ४४ ॥
पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता ।
पणयालीसं इसिभासियाइं अज्झयणपवराइं ॥ ४५ ॥

—ऋषिमण्डल प्रकरणम् 'आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला ग्रन्थांक ३१, वालापुर, गाथा ४४, ४५

३५. पण्हावागरणदसासु णं ससमय-पर-समय पण्णवय पत्तेयबुद्ध-विविहत्थभासाभासियाणं

—समवायांग सूत्र ५४६

जैन परम्परा में के नहीं थे, अतः उनके उपदेशों को मान्य रखने के लिए उन्हें प्रत्येक-बुद्ध कहा गया। जैन और बौद्ध दोनों परम्परा में प्रत्येकबुद्ध वह व्यक्ति है, जो किसी निमित्त से स्वयं प्रबुद्ध होकर एकाकी साधना करते हुए ज्ञान प्राप्त करता है; किन्तु न तो वह स्वयं किसी का शिष्य बनता है और न किसी को शिष्य बनाकर संघ व्यवस्था करता है। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध किसी परम्परा या संघ व्यवस्था में आबद्ध नहीं होता है, फिर भी वह समाज में आदरणीय होता है और उसके उपदेश प्रामाणिक माने जाते हैं।

ऋषिभाषित और जैनधर्म के सिद्धान्त—

ऋषिभाषित का समग्रतः अध्ययन हमें इस संबंध में विचार करने को विवश करता है कि क्या ऋषिभाषित में अन्य परम्पराओं के ऋषियों द्वारा उनकी ही अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है अथवा उनके मुख से जैन परम्परा की मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया गया है ? प्रथम दृष्टि से देखने पर तो ऐसा भी लगता है कि उनके मुख से जैन मान्यताओं का प्रतिपादन हुआ है। प्रो० शुब्रिंग और उनके ही आधार पर प्रो० लल्लनजी गोपाल ने प्रत्येक ऋषि के उपदेशों के प्रतिपादन के प्रारम्भिक और अन्तिम कथन की एकरूपता के आधार पर यह मान लिया है कि ग्रन्थकार ऋषियों के उपदेशों के प्रस्तुतिकरण में प्रामाणिक नहीं है। उसने इनके उपदेशों को अपने ही ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अधिकांश अध्यायों में जैन पारिभाषिक पदावली यथा पंच महाव्रत, कषाय, परिषह आदि को देखकर इस कथन में सत्यता परिलक्षित होने लगती है। उदाहरणार्थ प्रथम नारद नामक अध्ययन में यद्यपि शौच के चार लक्षण बताये गये हैं, किन्तु यह अध्याय जैन परम्परा के चातुर्याम का ही प्रतिपादन करता है। वज्जीयपुत्त नामक द्वितीय अध्याय में कर्म के सिद्धान्त की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। यह अध्याय जीव के कर्मानुगामी होने की धारणा का प्रतिपादन करता है, साथ ही मोह को दुःख का मूल बताता है। यह स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की परम्परा चलती रहती है उसी प्रकार से मोह से कर्म और कर्म से मोह की परम्परा चलती रहती है और मोह के समाप्त होने पर कर्म सन्तति ठीक वैसे ही समाप्त होती है जैसे वृक्ष के मूल को समाप्त करने पर उसके फल पत्ती अपने आप समाप्त होते हैं। कर्म सिद्धान्त की यह अवधारणा ऋषिभाषित के अध्याय १३, १५, २४ और ३० में भी मिलती है। जैन परम्परा में इससे ही मिलता-जुलता विवरण उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्याय में प्राप्त होता है। इसी प्रकार तीसरे असित देवल नामक अध्याय में हमें जैन परम्परा और विशेष रूप से आचारांग में उपलब्ध पाप को लेप कहने की बात मिल जाती है। इस अध्याय में हमें पांच महाव्रत, चार कषाय तथा इसी प्रकार हिंसा से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ पापों का उल्लेख भी मिलता है। यह अध्याय मोक्ष के स्वरूप का विवेचन भी करता है और उसे शिव, अतुल, अमल, अव्याघात, अपुनरावर्तन तथा

शाश्वत स्थान बताता है। मोक्ष का ऐसा ही स्वरूप हमें जैन-आगम-साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। पांच महाव्रतों और चार कषायों का विवरण तो ऋषि-भाषित के अनेक अध्यायों में आया है। महाकाश्यप नामक ९ वें अध्ययन में पुण्य, पाप तथा संवर और निर्जरा की चर्चा उपलब्ध होती है। इसी अध्याय में कषाय का भी उल्लेख है। नवें अध्याय में कर्म आदान की मुख्य चर्चा करते हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बन्धन का कारण कहा गया है जो कि जैन परम्परा के पूर्णतः अनुरूप है। इसमें जैन परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्द यथा उपक्रम, बद्ध, स्पृष्ट, निकाचित, निर्जीर्ण, सिद्धि, शैलेषी-अवस्था, प्रदेशोदय, विपाकोदय आदि पाये जाते हैं। इस अध्याय में प्रतिपादित आत्मा की नित्यानित्यता की अवधारणा, सिद्धावस्था का स्वरूप एवं कर्मबन्धन और निर्जरा की प्रक्रिया जैन दर्शन के समान है।

इसी तरह अनेक अध्यायों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधारणा भी मिलती है। बारहवें याज्ञवल्क्य नामक अध्ययन में जैन परम्परा के अनुरूप गोचरी के स्वरूप एवं शुद्धैषणा की चर्चा मिल जाती है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और कृत-कर्मों के फल का भोक्ता है यह बात भी १५ वें मधुरायन नामक अध्ययन में की गयी है। सतरहवें विदुर नामक अध्ययन में सावद्ययोग, विरति और समभाव की चर्चा है। उन्नीसवें आरियायण नामक अध्याय में आर्य ज्ञान, आर्य दर्शन और आर्य चरित्र के रूप में प्रकारान्तर से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की ही चर्चा है। बाईसवां अध्याय धर्म के क्षेत्र में पुरुष की प्रधानता की चर्चा करता है तथा नारी की निन्दा करता है, इसकी सूत्रकृतांग के 'इत्थिपरिण्णा' नामक अध्ययन से समानता है। तेईसवें रामपुत्त नामक अध्याय में उत्तराध्ययन (२८/३५) के समान ही ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन द्वारा देखने, संयम के द्वारा निग्रह करने की तथा तप के द्वारा अष्टविध कर्म के विधूनन की बात कही गयी है। अष्टविध कर्म की यह चर्चा केवल जैन परम्परा में ही पायी जाती है। पुनः चौवीसवें अध्याय में भी मोक्ष मार्ग के रूप में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की चर्चा है। इसी अध्याय में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक—इन चतुर्गतियों की भी चर्चा है। पचीसवें अम्बड़ नामक अध्याय में चार कषाय, चार विकथा, पांच महाव्रत, तीन गुप्ति, पंच इन्द्रिय-संयम, छः जीव-निकाय, सात भय, आठ मद, नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य तथा दस प्रकार के समाधिस्थान की चर्चा है। इस प्रकार इस अध्याय में जैन परम्परा में मान्य अनेक अवधारणायें एक साथ उपलब्ध हो जाती हैं। इसी अध्याय में आहार करने के छः कारणों की चर्चा भी है, जो स्थानांग (स्थान ६) आदि में मिलती है। स्मरण रहे कि यद्यपि जैनागमों में अम्बड को परिव्राजक माना है, फिर भी उसे महावीर के प्रति श्रद्धावान बताया है[३६]। यही कारण है कि

---

३६. भगवती

इसमें सर्वाधिक जैन अवधारणायें उपलब्ध हैं। ऋषिभाषित के छब्बीसवें अध्याय में उत्तराध्ययन के पचीसवें अध्याय के समान ही ब्राह्मण के स्वरूप की चर्चा है। इसी अध्याय में कषाय, निर्जरा, छः जीवनिकाय और सर्व प्राणियों के प्रति दया का भी उल्लेख है। एकतीसवें पार्श्व नामक अध्ययन में पुनः चातुर्याम, अष्टविध कर्मग्रन्थि, चार गति, पंचास्तिकाय तथा मोक्ष स्थान के स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। इसी अध्याय में जैन परम्परा के समान जीव को ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है, किन्तु पार्श्व तो जैन परम्परा में मान्य ही हैं अतः इस अध्याय में जैन अवधारणाएं होना आश्चर्यजनक नहीं है।

अब विद्वानों की यह धारणा भी बनी है कि जैन दर्शन का तत्त्वज्ञान पार्श्वापत्यों की ही देन है। शुब्रिंग ने भी इसिभासियाईं पर पार्श्वापत्यों का प्रभाव माना है। पुनः ३२वें पिंग नामक अध्याय में जैन परम्परा के अनुरूप चारों वर्णों की मुक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। ३४वें अध्याय में परिषह और उपसर्गों की चर्चा है। इसी अध्याय में पंच महाव्रत से युक्त, कषाय से रहित, छिन्नस्रोत, अनास्रव भिक्षु की मुक्ति की भी चर्चा है। पुनः ३५वें उद्दालक नामक अध्याय में तीन गुप्ति, तीन दण्ड, तीन शल्य, चार कषाय, चार विकथा, पांच समिति, पंचेन्द्रिय-संयम, योग-सन्धान एवं नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष से रहित विभिन्न कुलों की परकृत, परनिर्दिष्ट, विगतधूम, शस्त्रपरिणत भिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है। इसी अध्याय में संज्ञा एवं २२ परिषहों का भी उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषिभाषित में अनेक जैन अवधारणायें उपस्थित हैं। अतः स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या जैन आचार्यों ने ऋषिभाषित का संकलन करते समय अपनी ही अवधारणाओं को इन ऋषियों के मुख से कहलवा दिया अथवा मूलतः ये अवधारणायें इन ऋषियों की ही थीं और वहाँ से जैन परम्परा में प्रविष्ट हुईं? यह तो स्पष्ट है कि ऋषिभाषित उल्लेखित ऋषियों में पार्श्व और महावीर को छोड़कर शेष अन्य सभी या तो स्वतन्त्र साधक रहे हैं या अन्य परम्पराओं के रहे हैं। यद्यपि इनमें कुछ के उल्लेख उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग में भी हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इसमें जो विचार हैं वे उन ऋषियों के नहीं हैं तो ग्रन्थ की और ग्रन्थकर्त्ता की प्रामाणिकता खण्डित होती है, किन्तु दूसरी ओर यह मानना कि ये सभी अवधारणायें जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं से प्रविष्ट हुईं; पूर्णतः सन्तोषप्रद नहीं लगता है। अतः सर्वप्रथम तो हम यह परीक्षण करने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के उपदेश संकलित हैं वे उनके अपने हैं या जैन आचार्यों ने अपनी बात को उनके मुख से कहलवाया है।

ऋषिभाषित में उपदिष्ट अवधारणाओं की प्रामाणिकता का प्रश्न—

यद्यपि ऋषिभाषित के सभी ऋषियों के उपदेश और तत्सम्बन्धी साहित्य हमें जैनेतर परम्पराओं में उपलब्ध नहीं होता, फिर भी इनमें से अनेकों के विचार

और अवधारणायें आज भी अन्य परम्पराओं में उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य का उल्लेख भी उपनिषदों में है। वज्जीयपुत्त, महाकाश्यप और सारिपुत्त के उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में हैं। इसी प्रकार विदुर, नारायण, असित देवल आदि के उल्लेख महाभारत एवं हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रन्थों में मिल जाते हैं। ऋषिभाषित में इनके जो विचार उल्लेखित हैं, उनकी तुलना अन्य स्रोतों से करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित में जिन ऋषियों के जिन विचारों का उल्लेख किया गया है उनमें कितनी प्रामाणिकता है। ऋषिभाषित के ग्यारहवें अध्याय में मंखलिपुत्र गोशालक का उपदेश संकलित है। मंखलिपुत्र गोशालक के सम्बन्ध में हमें जैन परम्परा में भगवतीसूत्र और उपासकदशांग में, बौद्ध परम्परा में दीघ-निकाय के सामञ्ञ महाफलसुत्त और सुत्तनिपात में एवं हिन्दू परम्परा में महाभारत के शान्तिपर्व के १७७वें अध्याय में मंखी ऋषि के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। तीनों ही स्रोत उसे नियतिवाद का समर्थक बताते हैं। यदि हम ऋषिभाषित अध्याय ११ में वर्णित मंखलि गोशालक के उपदेशों को देखते हैं तो यहाँ भी हमें परोक्ष रूप से नियतिवाद के संकेत उपलब्ध हैं। इस अध्याय में कहा गया है कि जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, वेदना का अनुभव करता है, क्षोभित होता है आहत होता है, स्पंदित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है, वह त्यागी नहीं हैं। इसके विपरीत जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित नहीं होता है, क्षोभित नहीं होता है, दुःखित नहीं होता है वह त्यागी है। परोक्ष रूप से यह पदार्थों की परिणति के सम्बन्ध में नियतिवाद का प्रतिपादक है। संसार की अपनी एक व्यवस्था और गति है वह उसी के अनुसार चल रहा है, साधक को उसका ज्ञाता-द्रष्टा तो होना चाहिए किन्तु द्रष्टा के रूप में उससे प्रभावित नहीं होना चाहिए। नियतिवाद की मूलभूत आध्यात्मिक शिक्षा यही हो सकती है कि हम संसार के घटनाक्रम में साक्षी भाव से रहें। इस प्रकार यह अध्याय गोशालक के मूलभूत आध्यात्मिक उपदेश को ही प्रतिविम्बित करता है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्य में जो मंखलि गोशालक के सिद्धान्त का निरूपण है, वह वस्तुतः गोशालक की इस आध्यात्मिक अवधारणा से निकाला गया एक विकृत दार्शनिक फलित है। वस्तुतः ऋषिभाषित का रचयिता गोशालक के सिद्धान्तों के प्रति जितना प्रामाणिक है, उतने प्रामाणिक त्रिपिटक और परवर्ती जैन आगमों के रचयिता नहीं हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के १७७ वें अध्याय में मंखि ऋषि का उपदेश संकलित है उसमें एक ओर नियतिवाद का समर्थन है, किन्तु दूसरी ओर इसमें वैराग्य का उपदेश भी है। इस अध्याय में मूलतः द्रष्टा भाव और संसार के प्रति अनासक्ति का उपदेश है। यह अध्याय नियतिवाद के माध्यम से ही अध्यात्म का उपदेश देता है। इसमें यह बताया गया है कि संसार की अपनी व्यवस्था है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भी उसे अपने अनुसार नहीं मोड़ पाता है, अतः व्यक्ति को द्रष्टा भाव रखते हुए संसार से विरक्त हो जाना चाहिए। महाभारत के इस अध्याय की

विशेषता यह है कि मंखि ऋषि को नियतिवाद का समर्थक मानते हुए भी उस नियतिवाद के माध्यम से उन्हें वैराग्य की दिशा में प्रेरित बताया गया है।

इस आधार पर ऋषिभाषित में मंखलिपुत्र का उपदेश जिस रूप में संकलित मिलता है वह निश्चित ही प्रामाणिक है।

इसी प्रकार ऋषिभाषित के अध्याय ९ में महाकश्यप के और अध्याय ३८ में सारिपुत्त के उपदेश संकलित हैं। ये दोनों ही बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित रहे हैं। यदि हम ऋषिभाषित में उल्लेखित इनके विचारों को देखते हैं तो स्पष्ट रूप से इसमें हमें बौद्धधर्म की अवधारणा के मूल तत्त्व परिलक्षित होते हैं। महाकश्यप अध्याय में सर्व प्रथम संसार की दुःखमयता का चित्रण है। इसमें कर्म को दुःख का मूल कहा गया है और कर्म का मूल जन्म को बताया गया है, जो कि बौद्धों के प्रतीत्य-समुत्पाद का ही एक रूप है। इसी अध्याय में एक विशेषता हमें यह देखने को मिलती है कि, इसमें कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए "सन्तानवाद" की चर्चा है जो कि बौद्धों का मूलभूत सिद्धान्त है। इस अध्याय में निर्वाण के स्वरूप को समझाने के लिए बौद्ध दर्शन के मूलभूत दीपक वाले उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। पूरा अध्याय सन्तानवाद और कर्मसंस्कारों के माध्यम से वैराग्य का उपदेश प्रदान करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इसमें बौद्धधर्म के मूल बीज उपस्थित हैं। इसी प्रकार ३८ वें सारिपुत्त नामक अध्याय में भी बौद्ध धर्म के मूल उत्स मध्यम मार्ग का प्रतिपादन मिलता है। इसके साथ बुद्ध के प्रज्ञावाद का भी इसमें प्रतिपादन हुआ है। इस अध्याय में कहा गया है कि, मनोज्ञ भोजन, मनोज्ञ शयनासन का सेवन करते हुए और मनोज्ञ आवास में रहते हुए भिक्षु सुखपूर्वक ध्यान करता है। फिर भी प्रज्ञ पुरुष को सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिए, यही बुद्ध का अनुशासन है। इस प्रकार यह अध्याय भी बुद्ध के उपदेशों को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य नामक १२वें अध्याय में भी हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों का प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का उल्लेख हमें उपनिषदों एवं महाभारत में भी मिलता है[३७]। उपनिषद् में जहाँ याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद है वहाँ उनकी संन्यास की इच्छा को स्पष्ट किया गया है। ऋषिभाषित में भी याज्ञवल्क्य के उपदेश के रूप में लोकैषणा और वित्तैषणा के त्याग की बात कही गयी है तथा यह कहा गया है कि जब तक लोकैषणा होती है तब तक वित्तैषणा होती है और जब वित्तैषणा होती है तो लोकैषणा होती है। इसलिए लोकैषणा और वित्तैषणा के स्वरूप को जानकर गोपथ से जाना चाहिए, महापथ से नहीं जाना चाहिए। वस्तुतः ऐसा लगता है कि यहाँ

---

३७. बृहदारण्यक उपनिषद्, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण।

निवृत्तिमार्ग को गोपथ और प्रवृत्तिमार्ग को महापथ कहा गया है और याज्ञवल्क्य निवृत्ति मार्ग का उपदेश देते प्रतीत होते हैं। यहाँ सबसे विचारणीय बात यह है कि बौद्ध धर्म में जो हीनयान और महायान की अवधारणा का विकास है, कहीं वह गोपथ और महापथ की अवधारणा का विकसित रूप तो नहीं है? आचारांग में भी महायान शब्द आया है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी अध्याय ३१० से लेकर ३१८ तक याज्ञवल्क्य के उपदेशों का संकलन है। इसमें मुख्य रूप से सांख्य और योग की अवधारणा का प्रतिपादन है। ऋषिभाषित के इस अध्याय में मुनि की भिक्षा-विधि की भी चर्चा है जो कि जैन परम्परा के अनुरूप ही लगती है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषिभाषित के लेखक ने याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशों को विकृत नहीं किया है। ऋषिभाषित के २० वें उत्कल नामक अध्याय के उपदेष्टा के रूप में किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि इसमें चार्वाक के विचारों का पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित में वर्धमान का जो उपदेश है उसकी यथार्थ प्रतिच्छाया आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्ययन में एवं उत्तराध्ययन के ३२वें अध्याय में यथावत् रूप से उपलब्ध है।

उपर्युक्त आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित में ऋषियों के उपदेश को सामान्यरूप से प्रामाणिकता पूर्वक ही प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसमें मुख्य रूप से उनके आध्यात्मिक और नैतिक विचारों का ही प्रस्तुतीकरण हुआ है और उसके पीछे निहित दर्शन पर इसमें कोई बल नहीं दिया गया है। दूसरा यह भी सत्य है कि उनका प्रस्तुतीकरण या ग्रन्थ-रचना जैन परम्परा के आचार्यों द्वारा हुई है। अतः यह स्वाभाविक था कि उसमें जैन परम्परा में मान्य कुछ अवधारणाएं प्रतिबिम्बित हो गयी हों। पुनः इस विश्वास के भी पर्याप्त आधार हैं कि जिन्हें आज हम जैन परम्परा की अवधारणाएं कह रहे हैं, वे मूलतः अन्य परम्पराओं में प्रचलित रही हों। अतः ऋषिभाषित के ऋषियों के उपदेशों की प्रामाणिकता को पूर्णतः निरस्त नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उन पर अपरोक्षरूप से जैन परम्परा का कुछ प्रभाव आ गया है।

ऋषिभाषित के ऋषियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न—

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि ऋषिभाषित में वर्णित अधिकांश ऋषिगण जैन परम्परा से सम्बन्धित नहीं है। उनके कुछ के नामों के आगे लगे हुए ब्राह्मण, परिव्राजक आदि शब्द ही उनका जैन परम्परा से भिन्न होना सूचित करता है। दूसरे देव नारद, असित देवल, अंगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, बाहुक, विदुर, वारिषेण कृष्ण, द्वैपायन, आरुणि, उद्दालक, तारायण, ऐसे नाम हैं जो वैदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध रहे हैं और आज भी उनके उपदेश उपनिषदों, महाभारत एवं पुराणों में

सुरक्षित हैं। इनमें से देव नारद, असित देवल, अंगिरस भारद्वाज, द्वैपायन के उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग, औपपातिक, अंतकृत्दशा आदि जैन ग्रन्थों में तथा बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी मिलते हैं। इसी प्रकार वज्जीयपुत्त, महाकश्यप और सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं और उनका उल्लेख त्रिपिटक साहित्य में उपलब्ध है। मंखलिपुत्र, रामपुत्त, अम्बड (अम्बष्ट) संजय (वेलट्ठिपुत्र) आदि ऐसे नाम हैं जो स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित हैं और इनके उल्लेख जैन और बौद्ध परम्पराओं में हमें स्पष्ट रूप से मिलते हैं। ऋषिभाषित के जिन ऋषियों के उल्लेख बौद्ध साहित्य में हमें मिलते हैं उस पर विस्तृत चर्चा प्रो० सी. एस. उपासक ने अपने लेख 'इसिभासियाइं एण्ड पालि बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स : ए स्टडी' में किया है। यह लेख पं० दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहा है। पार्श्व और वर्द्धमान जैन परम्परा के तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में सुस्पष्ट रूप से मान्य हैं। आर्द्रक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृतांग में है। इसके अतिरिक्त वल्कलचीरी, कूर्मापुत्र, तेतलिपुत्र, भयालि, इन्द्रनाग ऐसे नाम हैं जिनमें अधिकांश का उल्लेख जैन परम्परा के इसि-मण्डल एवं अन्य ग्रन्थों में मिल जाता है। वल्कलचीरी, कूर्मापुत्र आदि का उल्लेख बौद्ध परम्परा में भी है। किन्तु, जिनका उल्लेख जैन और बौद्ध परम्परा में अन्यत्र नहीं मिलता है, उन्हें भी पूर्णतया काल्पनिक व्यक्ति नहीं कह सकते। यदि हम ऋषिभाषित के ऋषियों की सम्पूर्ण सूची का अवलोकन करें तो केवल सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रमण, ऐसे नाम हैं जिन्हें काल्पनिक कहा जा सकता है; क्योंकि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराएं इन्हें सामान्यतया लोकपाल के रूप में ही स्वीकार करती है, किन्तु इनमें भी महाभारत में वायु का उल्लेख एक ऋषि के रूप में मिलता है। यम को आवश्यक चूर्णि में यमदग्नि ऋषि का पिता कहा गया है। इस सम्भावना को पूरी तरह निरस्त नहीं किया जा सकता कि यम कोई ऋषि रहे हों। यद्यपि उपनिषदों में भी यम को लोकपाल के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु, इतना तो निश्चित है कि ये एक उपदेष्टा हैं। यम और नचिकेता का सम्वाद औपनिषदिक परम्परा में सुप्रसिद्ध ही है। वरुण और वैश्रमण को भी वैदिक परम्परा में मंत्रोपदेष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सम्भव है कि सोम, यम, वरुण, वैश्रमण इस ग्रन्थ के रचनाकाल तक एक उपदेष्टा के रूप में लोक परम्परा में मान्य रहे हों और इसी आधार पर इनके उपदेशों का संकलन ऋषि-भाषित में कर लिया गया है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के ऋषियों में उपर्युक्त चार-पांच नामों को छोड़कर शेष सभी प्रागैतिहासिक काल के यथार्थ व्यक्ति हैं, काल्पनिक चरित्र नहीं है।

निष्कर्ष रूप में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि ऋषिभाषित न केवल जैन परम्परा की अपितु समग्र भारतीय परम्परा की एक अमूल्य निधि है और इसमें

भारतीय चेतना की धार्मिक उदारता अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह हमें अधिकांश ज्ञात और कुछ अज्ञात ऋषियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक सूचनाएं देता है। जैनाचार्यों ने इस निधि को सुरक्षित रखकर भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की बहुमूल्य सेवा की है। वस्तुतः यह ग्रन्थ ईसा पूर्व १०वीं शती से लेकर ईसा पूर्व ६ठी शती तक के अनेक भारतीय ऋषियों की ऐतिहासिक सत्ता का निर्विवाद प्रमाण है।

ऋषिभाषित के ऋषियों का काल एवं परम्परा

जैन परम्परा के अनुसार इन ४५ ऋषियों में २० अरिष्टनेमि के काल के, १५ पार्श्व के काल के, शेष १० महावीर के काल के माने गये हैं।[३८] इसिमण्डल भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। यद्यपि यदि हम इनके काल का यह वर्गीकरण इस आधार पर करें कि प्रथम २० अरिष्टनेमि के काल के, उसके बाद के १५ पार्श्व के काल के और अन्त में १० महावीर के काल के हैं तो यह वर्गीकरण उचित नहीं बैठता; क्योंकि फिर २९ वें क्रम में स्थित वर्धमान को पार्श्व के काल का मानना होगा। और, ४०वें क्रम पर स्थित द्वैपायन को महावीर के काल का मानना होगा। जबकि स्थिति इससे भिन्न ही है। द्वैपायन अरिष्टनेमि के काल के हैं और वर्धमान स्वयं महावीर ही हैं। अतः यह मानना समुचित नहीं होगा कि जिस क्रम से ऋषिभाषित में इन ऋषियों का उल्लेख हुआ है उस क्रम से ही वे अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर के काल में विभाजित होते हैं। कौन ऋषि किस काल का है? इसके सन्दर्भ में पुनर्विचार की आवश्यकता है। शुब्रिग ने स्वयं भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत नहीं किया है। ऋषिभाषित के ऋषियों की पहचान का एक प्रयत्न शुब्रिग ने अपनी इसिभासियाइँ की भूमिका में किया है।[३९] उनके अनुसार याज्ञवल्क्य, वाहुक (नल), अरुण, महाशालपुत्र या आरुणि और उद्दालक स्पष्ट रूप से औपनिषदिक परम्परा के प्रतीत होते हैं। इसके साथ ही पिंग, ऋषिगिरि और श्रीगिरि इन तीनों को ब्राह्मण परिव्राजक और अम्बड को परिव्राजक कहा गया है। इसलिए यह चारों भी ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित हैं। यौगन्धरायण, जिनका अम्वड़ से सम्वाद हुआ है, वे भी ब्राह्मण परम्परा के ऋषि प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार मधुरायण, आर्यायण, तारायण (नारायण) भी ब्राह्मण परम्परा से सम्वन्धित

---

३८. ऋषिमण्डल ४३

३९. Introduction page 3-7. ISIBHASIYAIM. L. D. Institute of Indology Ahmedabad-9, 1974.

लगते हैं। आंगिरस और वारिषेण कृष्ण भी ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित माने जाते हैं। शुब्रिंग महाकाश्यप, सारिपुत्र और वज्जियपुत्त को बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित मानते हैं। उनकी यह मान्यता मेरी दृष्टि से समुचित भी है। यद्यपि शुब्रिंग ने पुष्पशालपुत्र, केतलीपुत्र, विदु, गाथापतिपुत्र तरुण, हरिगिरि, मातंग और वायु को प्रमाण के अभाव में किसी परम्परा से जोड़ने में असमर्थता व्यक्त की है।

यदि हम शुब्रिंग के उपर्युक्त दृष्टिकोण को उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर रखते हैं तो नारद, असित देवल, आंगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, पिंग, नारायण को स्पष्ट रूप से वैदिक या औपनिषदिक परम्परा के ऋषि मान सकते हैं। इसी प्रकार महाकाश्यप, सारिपुत्त और वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा का मानने में भी हमें कोई आपत्ति नहीं होगी। पार्श्व और वर्धमान स्पष्ट रूप से जैन परम्परा के माने जा सकते हैं। मंखलिपुत्र स्पष्ट रूप से आजीवक परम्परा के हैं। शेष नामों के सम्बन्ध में हमें अनेक पहलुओं से विचार करना होगा। यद्यपि पुष्पशालपुत्र, वक्कलचीरी, कुम्मापुत्त, केतलिपुत्र, भयालि, मधुरायण, सौर्यायण, आर्यायण, गर्दभालि, गाथापतिपुत्र तरुण, वारत्रय, आर्द्रक, वायु, संजय, इन्द्रनाग, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण आदि की ऐतिहासिकता और परम्परा का निश्चय करना कठिन है, किन्तु यदि हम तीनों अर्थात् जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में प्राप्त उनके उल्लेख के आधार पर उनकी ऐतिहासिकता का विचार करें तो सम्भवतः किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

प्रो. सी. एस. उपासक ने 'इसिभासियाइं और पॉलि बुद्धिस्ट टेक्स्ट' नामक अपने एक लेख में इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है, किन्तु उन्होंने अपने को बौद्ध त्रिपिटक साहित्य तक ही सीमित रखा है। प्रस्तुत आलेख में शुब्रिंग और उपासक के इन प्रयत्नों को तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवरण के आधार पर प्रामाणिकता से आगे बढ़ाना का प्रयास किया गया है। अतः ऋषिभाषित के एक-एक ऋषि को लेकर उनके सम्बन्ध में अधिक गम्भीरता से विचार करना होगा।

१. देव नारद

ऋषिभाषित का प्रथम अध्याय अर्हत् ऋषि देव नारद से सम्बन्धित है। नारद के सम्बन्ध में उल्लेख हमें जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों ही परम्पराओं में मिलते हैं। जैन परम्परा में नारद का उल्लेख ऋषिभाषित[४०] के अतिरिक्त सम-

---

४०. ऋषिभाषित—प्रथम अध्ययन

वायांग[४१], ज्ञाताधर्मकथा[४२], औपपातिक[४३], ऋषिमण्डल[४४], और आवश्यकचूर्णि[४५] में भी उपलब्ध है। समवायांग में यह कहा गया है कि नारद का जीव आगामी उत्सर्पिणी काल में विमल नामक इक्कीसवाँ तीर्थंकर होगा। इस प्रकार ऋषिभाषित और समवायांग दोनों में नारद को सम्मानित रूप में प्रस्तुत किया गया है। समवायांग में प्रकारान्तर से एवं ऋषिभाषित की टीका में उन्हें स्पष्ट रूप से प्रत्येक-बुद्ध कहा गया है। किन्तु, हमें स्मरण रखना होगा कि अर्हत्ऋषि, प्रत्येकबुद्ध और भावी तीर्थंकर की अवधारणाओं में अन्तर है। जैन परम्परा के अनुसार अर्हत् एवं प्रत्येकबुद्ध उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जबकि भावी तीर्थंकर आगामी तीसरे भव में मुक्ति प्राप्त करता है। अतः जैन परम्परा के अनुसार अर्हत् एवं प्रत्येकबुद्ध के भावी तीर्थंकर होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येकबुद्ध और भावी तीर्थंकर की अवधारणायें ऋषिभाषित की रचना के पश्चात् ही विकसित हुई हैं। यद्यपि दोनों ही अवधारणायें एक दृष्टि से व्यक्ति को सम्मानित रूप से देखने का प्रयत्न तो है, फिर भी जहाँ प्रत्येकबुद्ध को जैन परम्परा से असम्पृक्त रखा गया वहाँ भावी तीर्थंकर को जैन परम्परा में स्थान दिया गया है। असम्पृक्त रखने की इसी प्रक्रिया में ऋषिभाषित के ऋषियों को प्रत्येकबुद्ध कह दिया गया,, किन्तु उनमें से कुछ को परम्परा से सम्बन्धित करने के लिए भावी तीर्थंकर के रूप में भी मान्य कर लिया गया।

ऋषिभाषित के देव नारद को ज्ञाताधर्मकथा और इसिमण्डल (ऋषिमण्ड़ल) में कल्छुल नारद कहा गया है, फिर भी दोनों एक ही व्यक्ति हैं। क्योंकि, ऋषिभाषित की संग्रहणी गाथा इन्हें अरिष्टनेमि के काल में होने वाला प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। ज्ञाताधर्मकथा के नारद भी कृष्ण और अरिष्टनेमि के समकालिक ही हैं। ज्ञाताधर्मकथा में इन्हें एक ओर भद्र और विविध विद्याओं का ज्ञाता कहा गया है, किन्तु दूसरी ओर कलुष हृदय एवं कलहप्रिय भी कहा है। औपपातिक में ब्राह्मण परिव्राजकों के रूप में नारद का उल्लेख हुआ है। औप-पातिक और ज्ञाताधर्मकथा, दोनों ही उन्हें चारों वेद और अनेक विद्याओं के ज्ञाता एवं शौचधर्म के प्रवर्तक मानते हैं। ऋषिभाषित में भी इनके उपदेश में शौचधर्म की प्रधानता है, फिर भी यहाँ ये आन्तरिक पवित्रता का उपदेश देते हैं, वाह्य पवित्रता का नहीं। आवश्यक चूर्णि में भी नारद का जो उल्लेख उपलब्ध है उसमें उन्हें शौरीपुर निवासी ब्राह्मण यज्ञदत्त और सोमयशा का पुत्र कहा गया है।

---

४१. समवायांग सूत्र प्रकीर्णसमवाय २५२/३, जैनविश्वभारती (लाडनूं)
४२. ज्ञाताधर्मकथा—अध्ययन १६/१३९-१४२
४३. औपपातिक सूत्र ३८
४४. ऋषिमण्डल वृत्ति पूर्वार्द्ध गाथा ३५
४५. आवश्यकचूर्णि भाग २, पृष्ठ १९४ (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम १९२८)

ऋषिमण्डल में भी नारद का उल्लेख है । उसमें उन्हें 'सत्य ही शौच है' नामक प्रथम अध्ययन का प्रवक्ता कहा गया है । इससे ऐसा लगता है कि ऋषिमण्डलकार ने इस तथ्य को ऋषिभाषित से ही लिया है । इस समग्र विवरण से ऐसा लगता है कि ऋषिभाषित, समवायांग, ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक और ऋषिमण्डल में उल्लिखित नारद भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं हैं बल्कि एक ही व्यक्ति हैं। इतना निश्चित है कि ऋषिभाषित एवं समवायांग में उन्हें अर्हत् ऋषि और भावी तीर्थंकर के रूप में जो सम्मानपूर्ण स्थिति प्राप्त है वह परवर्ती आगमिक और अन्य जैन साहित्य में उपलब्ध नहीं है । यह तथ्य ऋषिभाषित के साम्प्रदायिक अभिनिवेश से पूर्णतया मुक्त होने का प्रमाण भी है ।

जहाँ तक ऋषिभाषित में उल्लिखित नारद के उपदेश का प्रश्न है उसमें जैन परम्परा में स्वीकृत ५ महाव्रतों को ही ४ शौचों में विभाजित कर उन्हें उनका प्रवक्ता कहा गया है । इसमें ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग में दिखाया गया है । साथ ही ऋषिभाषित और अन्य जैन आगमों में उन्हें शौच धर्म का प्रतिपादक भी माना गया है । यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ अन्य जैन आगमों में उन्हें बाह्य शौच अर्थात् शरीर-शुद्धि पर बल देने वाला कहते हैं, वहाँ ऋषिभाषित में उन्हें सद्गुणों के धारणरूप आन्तरिक पवित्रता का प्रतिपादक कहलाया गया है ।

ऋषिभाषित के प्रथम अध्ययन में अर्हत् ऋषि देव नारद ने शौच को श्रोतव्य एवं सर्वःदुखों से मुक्ति का आधार बताते हुए निम्न चार प्रकार के शौच लक्षणों का उल्लेख किया है ।

१—प्राणातिपात (हिंसा) से विरति

२—मृषावाद से विरति

३—अदत्तादान से विरति

४—अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरति

इसके साथ ही इस अध्याय में सर्वथा निर्ममत्व भाव रखने का निर्देश भी दिया गया है तथा यह कहा गया है कि साधक को सभी स्थितियों में समभाव रखना चाहिए । जो साधक शौच का पालन करता है, ममत्वभाव से रहित है और समभाव का आचरण करता है वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है। उसका पुनरागमन नहीं होता है ।

शूब्रिंग की मान्यता है कि ग्रन्थ प्रणेता पर पार्श्व के चातुर्याम का प्रभाव स्पष्ट है, यही कारण है कि इसमें ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग में वर्गीकृत किया गया है । अहिंसा, सत्य आदि को शौच अर्थात् पवित्रता का आधार मानना

यह सूचित करता है कि नारद मात्र बाह्य पवित्रता के ही प्रतिपादक नहीं थे, अपितु वे आन्तरिक पवित्रता का भी प्रतिपादन करते थे। ऋषिभाषित में नारद को निर्ममत्व, विरक्ति और विमुक्ति का प्रवक्ता भी कहा गया है। इस अध्याय के अन्त में साधक को सत्यवादी, दत्तभोजी और ब्रह्मचारी होने का निर्देश दिया गया है। ये आचाराङ्ग में उल्लेखित त्रियाम तो नहीं है ? यह विचारणीय है।

सामान्यतया अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा आन्तरिक पवित्रता और निर्ममत्व की अवधारणायें भारतीय परम्परा की सर्वमान्य अवधारणा थी। अतः हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि ऋषि-भाषित में उल्लेखित नारद का यह उपदेश उनका वास्तविक उपदेश रहा होगा।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नारद का व्यक्तित्व जैन परम्परा में इतना प्रभावशाली रहा कि आगे चल कर नव बलदेवों और नव वासुदेवों की परिकल्पना के साथ नव नारदों की कल्पना भी कर ली गयी। औपपातिक में नारदीय परिव्राजकों की एक परम्परा का उल्लेख यह सूचित करता है कि नारद के अनुयायी परिव्राजकों की एक स्वतन्त्र परम्परा थी।

बौद्ध परम्परा में भी हमें अनेक नारदों का उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम चौवीस बुद्धों की अवधारणा में नवें बुद्ध को नारद कहा गया है।[४६] इसके अतिरिक्त थेरगाथा की अट्ठकथा में पद्मोत्तर बुद्ध के समकालीन नारद नामक एक ब्राह्मण का भी उल्लेख मिलता है।[४७] इसी प्रकार थेरगाथा की अट्ठकथा में अर्थदर्शी बुद्ध के समकालीन एक अन्य नारद नामक ब्राह्मण का भी उल्लेख है।[४८] साथ ही बौद्ध साहित्य में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त के मंत्री का नाम भी नारद बताया गया है।[४९] मिथिला के एक राजा का नाम भी नारद मिलता है,[५०] किन्तु हमारी दृष्टि में इन सभी नारदों का ऋषिभाषित के नारद से कोई सम्बन्ध नहीं है। बौद्ध साहित्य में एक काश्यपगोत्रीय नारद का उल्लेख मिलता है।[५१] इनका उल्लेख ब्राह्मण ऋषि नारद देव के रूप में भी हुआ है। कहीं इन्हें नारद देवल भी कहा गया हैं। किन्तु, हमें ऐसा लगता है कि नारद और देवल एक व्यक्ति न होकर अलग-अलग व्यक्ति हैं। महाभारत में नारद और असित देवल के संवाद का उल्लेख है। अतः यह माना जा सकता है कि नारद और असित देवल समकालीन रहे

---

४६. बुद्धवंश अट्ठकथा १०/६

४७. थेरगाथा अट्ठकथा भाग १ पृष्ठ २६८

४८. वही, पृष्ठ २६६

४९. जातक कथा तृतीयभाग (सर्वजातक वर्ग पृष्ठ नं. ३०६)

५०. वही, भाग चतुर्थ पृष्ठ ५६७

५१. वही, भाग पंचम पृष्ठ ४७६

होंगे। हमारी दृष्टि में बौद्ध साहित्य में उल्लेखित नारद देव और ऋषिभाषित के देव नारद एक ही व्यक्ति रहे होंगे।

वैदिक एवं हिन्दू परम्परा में देवऋषि नारद के उल्लेख व्यापक रूप से मिलते हैं। ऋग्वेद[५२] के कुछ सूक्तों के रचयिता पर्वत नारद और अथर्ववेद[५३] के कुछ सूक्तों के रचयिता कण्व नारद माने गये हैं। इसी प्रकार सामवेद[५४] की परम्परा में भी नारद का उल्लेख आता है। छांदोग्य उपनिषद् में नारद को विभिन्न विद्याओं का ज्ञाता कहा गया है।[५५] इसी उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार के संवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है। छांदोग्य उपनिषद् के समान जैन आगम ज्ञाता-धर्मकथा और औपपातिक में इन्हें चारों वेद और विभिन्न विद्याओं में निष्णात कहा गया है। छांदोग्य उपनिषद् में नारद कहते हैं कि मैं विविध विद्याओं का ज्ञाता होते हुए भी मन्त्रविद् हूँ, आत्मविद् नहीं। इससे ऐसा लगता है कि प्रथमतः नारद बाह्य कर्मकाण्ड, शौच तथा विविध लौकिक एवं चमत्कारी विद्याओं की साधना में तत्पर रहे होंगें, किन्तु आगे चलकर उनकी अध्यात्म में रुचि जागृत हुई होगी। परिणामतः वे वैदिक परम्परा से श्रमण परम्परा की ओर आकृष्ट हुए होगें, फलतः श्रमण परम्परा में भी उन्हें आदरपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। छांदोग्य उपनिषद् के नारद-सनत्कुमार संवाद से इसकी पुष्टि होती है। छांदोग्य उपनिषद् के अतिरिक्त नारद के उल्लेख नारदपरिव्राजकोपनिषद्[५६] एवं नारदोपनिषद्[५७] आदि अनेक उपनिषदों में मिलता है। गीता[५८] में नारद को दिव्यविभूतियों में माना गया है। महाभारत[५९] में नारद और असित देवल के संवाद की सूचना भी उपलब्ध होती है। वहाँ इन्हें पर्वत का मामा भी बताया गया है। भागवत[६०] में भी नारद के उल्लेख प्राप्त हैं। भागवत की अवतारों की एक सूची में इन्हें ऋषियों की सृष्टि में होने वाला विष्णु का तीसरा अवतार भी कहा गया है। जहाँ हिन्दू परम्परा नारद को विष्णु का अवतार कहती है, वहाँ बौद्ध परम्परा इन्हें गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती एक बुद्ध के रूप में स्वीकार करती है, जबकि जैन परम्परा में इन्हें भावी तीर्थङ्कर कहा गया है। यदि हम तीनों परम्परा में उपलब्ध नारद सम्बन्धी विवरणों को देखें तो प्रथम तो

---

५२ ऋग्वेद
५३ अथर्ववेद
५४. सामवेद
५५. छान्दोग्योपनिषद् ७/१/१
५६. नारदपरिव्राजकोपनिषद् २; ६; १४; १५; ३३; ३७;
५७ नारदोपनिषद् ६
५८ देवर्षि नारदस्तथा—गीता १०/१३ तथा १०/२६
५९. शान्तिपर्व २७५/३ (गीता प्रेस)
६० भागवत १, ३/८, १, ५/३८, ३९

यह लगता है कि वस्तुतः नारदों की कोई एक परम्परा रही है। जैन आगम औपपातिक सूत्र से यह ज्ञात होता है कि नारदीय परिव्राजकों की एक विशिष्ट परम्परा अनेक शताब्दियों तक चलती रही है। नारदों की इस परम्परा में ही ऋषिभाषित के देव नारद भी एक माने जा सकते हैं जो निश्चितरूप से बुद्ध, महावीर और पार्श्व के पूर्व अरिष्टनेमि के काल में हुए होंगे।

प्रस्तुत अध्याय में जैन परम्परा में स्वीकृत पाँच महाव्रतों को ही चार शौचों में विभाजित किया गया है। इसमें विशेषता यह है कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही में वर्गीकृत किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि ग्रन्थप्रणेता पर पार्श्वापत्य परम्परा के चातुर्याम की अवधारणा का प्रभाव है, क्योंकि पार्श्व के चातुर्याम में भी ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग में वर्गीकृत किया गया है।

२. वज्जीपुत्त (वात्सीपुत्र)

जैन परम्परा में वज्जीपुत्त का उल्लेख केवल ऋषिभाषित में पाया जाता है।[६१] किन्तु, बौद्ध परम्परा में वज्जियपुत्त थेर का उल्लेख हमें अनेक स्थानों पर मिलता है।[६२] शुब्रिंग और उपासक दोनों वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध करते हैं।[६३] बौद्ध परम्परा में वज्जीपुत्तकों का एक सम्प्रदाय ही था जो कुछ बातों में सामान्य बौद्ध भिक्षुओं से मत-वैभिन्य रखता था। यद्यपि प्रो० सी० एस० उपासक ने ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध मानने में एक शंका उपस्थित की है। उनके मतानुसार वज्जीपुत्त का सम्प्रदाय इस ऋषिभाषित ग्रन्थ की रचना की अपेक्षा कुछ परवर्त्ती है। वस्तुतः बौद्ध परम्परा में जिस वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय का उल्लेख है, वह ईसा पूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी में ही अस्तित्व में आ गया था, अतः उनकी यह आशंका समुचित प्रतीत नहीं होती है। फिर वज्जीपुत्त तो बुद्ध के समकालीन ही है।

पुनः बौद्ध संघ में वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय का आविर्भाव इस बात का भी सूचक है कि वज्जीपुत्त बौद्ध परम्परा में एक प्रभावशाली आचार्य रहे होगें। और, इनकी शिष्य सम्पदा भी विपुल रही होगी तभी इनके नाम पर सम्प्रदाय बना। बौद्ध साहित्य से हमें यह भी ज्ञात होता है कि वज्जीपुत्त बुद्ध और महावीर के समकालीन थे। थेरगाथा अट्ठकथा में इन्हें वैशाली के निवासी लिच्छवि राजकुमार कहा गया है तथा यह बताया गया है कि बुद्ध से ये इतने प्रभावित हुए कि बौद्ध परम्परा में

---

६१ इसिभासियाइं अध्ययन २

६२. थेरगाथा अट्ठकथा भाग १ पृ० २०६, ३४८

६३. इसिभासियाइं Introduction page–4
[L. D. Institute of Indology, Ahmedabad 1974]

दीक्षित होकर वैशाली के जंगलों में अपनी साधना प्रारम्भ कर दी। जैन परम्परा में विशेषरूप से ऋषिभाषित में उन्हें स्थान देने का कारण यह भी हो सकता है कि ये भी महावीर की वंश परम्परा अर्थात् लिच्छवि वंश से सम्बन्धित थे।

बौद्ध परम्परा में वज्जिपुत्तीय श्रमण सुविधावादी माने गये हैं। इन्होंने बौद्ध संघ में कुछ सुविधाओं की मांग की थी यथा—भोजन के पश्चात् अल्पाहार करना, शृंग में नमक रखना, भिक्षा के लिये दो बार भी चले जाना, स्वर्ण-रजत मुद्रायें रखना आदि। वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय के कुछ उपनिकायों का भी उल्लेख बौद्ध साहित्य एवं अभिलेखों से प्राप्त होता है। उपनिकाय निम्न हैं—

१. धर्मोत्तरीय निकाय—इसका उस समय पर्याप्त प्रचार-प्रसार था, किन्तु इनके सिद्धान्तों की हमें कोई जानकारी नहीं है।

२. भद्रयानिक निकाय—इस सम्बन्ध में महावंश, दीपवंश आदि ग्रन्थों में विस्तृत उल्लेख मिलते हैं।

३. छन्नागारिक निकाय—इसका अर्थ है जो भिक्षु छन्न=छाये हुए, आगारिक=आवास में रहने वाले अर्थात् वृक्ष, मूल, गुफा आदि स्थानों को छोड़कर संघारामों में रहकर साधना करते थे, वे छन्नागारिक कहलाते थे।

ऋषिभाषित में उल्लिखित वज्जीपुत्त बौद्ध परम्परा में उल्लिखित वज्जीपुत्त हैं। वे लिच्छवि वंश से सम्बन्धित तथा बुद्ध और महावीर के समकालीन थे तथा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी जीवित थे। पुनः ऋषिभाषित में जो इनका उपदेश है, उसकी बौद्ध धर्म दर्शन से कहीं भी असंगति नहीं है।

जहां तक वज्जियपुत्त के उपदेशों का प्रश्न है ऋषिभाषित में इनका उपदेश मुख्य रूप से कर्म-सिद्धान्त को स्पष्ट करता है। ये कहते हैं कि बीज और अंकुर की भांति जन्म-मरण और दुःख की परम्परा भी चलती रही है। कर्म के मूल स्रोत के रूप में इसमें मोह को बताया गया है। कर्म सम्बन्धी यह विचार धारा जैन और बौद्ध परम्पराओं में सामान्य रूप से स्वीकृत है। वज्जीपुत्त के इन उपदेशों की समरूपता हमें उत्तराध्ययन के तीसवें अध्याय में भी मिलती है। इस अध्याय में प्रस्तुत विचारों की प्रामाणिकता का आधार यह है कि इसमें कर्म-सन्तति की चर्चा है जो बौद्ध परम्परा के सन्ततिवाद के प्रभाव को सूचित करती है। इस अध्याय को देखने से यह भी स्पष्ट होता है कि वज्जीपुत्त आचरण की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक बल देते हैं। बौद्ध परम्परा में वज्जिपुत्तीय (वात्सीपुत्रीय) सम्प्रदाय भी मुख्य रूप से आचरण के रूढ़ नियमों के विरुद्ध ज्ञानमार्ग और चित्तशुद्धि पर बल देता है।

मेरी दृष्टि में यह निर्विवाद सत्य है कि ऋषिभाषित के वज्जियपुत्त अन्य कोई नहीं बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त थेर ही हैं।

वैदिक परम्परा में वात्सीपुत्र का उल्लेख है जो कि प्राकृत वज्जीपुत्त का ही संस्कृत रूप है। बृहदारण्यक उपनिषद् की अन्तिम वंश-सूची में वात्सीपुत्र का नाम प्राप्त होता है। काण्व शाखा के अनुसार ये पाराशरीपुत्र के शिष्य और माध्यंदिन शाखा के अनुसार ये माण्डवी पुत्र के शिष्य हैं।

वैदिक परम्परा में इनके नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु इस आधार पर इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये औपनिषदिक काल के कोई ऋषि हैं। इस संदर्भ में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त, बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त और बृहदारण्यक उपनिषद् के वात्सीपुत्र ये तीनों एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न व्यक्ति है ? चूंकि वैदिक परम्परा में वात्सीपुत्र का दर्शन या चिन्तन अनुपलब्ध है, अतः इनकी ऋषिभाषित के वज्जियपुत्त के साथ एकरूपता स्थापित करना कठिन है। जब कि चिन्तन-साम्यता की दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त की ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त से अधिक निकटता सिद्ध होती है। पुनः बौद्ध परम्परा में वज्जिपुत्तियों का सम्प्रदाय होना भी यही सिद्ध करता है कि ये मूलतः बौद्ध परम्परा के ही रहे होंगे। किन्तु, अभी यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि बृहदारण्यक उपनिषद् के वात्सीपुत्र कौन थे ? चूंकि उपनिषदों में अन्य किसी बौद्ध परम्परा के भिक्षु का नामोल्लेख नहीं है अतः बृहदारण्यक के वात्सीपुत्र और बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त एक ही व्यक्ति रहे होंगे यह कहना कठिन ही है। यदि ये बौद्ध परम्परा में उल्लेखित सामान्य थेर होते तो यह सम्भावना हो सकती थी कि बौद्धों ने नारद आदि की भांति इन्हें भी अपनी परम्परा में स्थान दे दिया होगा, किन्तु बौद्ध संघ में इनकी स्थिति सम्प्रदाय के नेता के रूप में है। फिर भी यह सम्भावना हो सकती है कि ये पूर्व में औपनिषदिक ऋषियों की परम्परा से जुड़े हों किन्तु बाद में बुद्ध से प्रभावित होकर बौद्ध परम्परा से जुड़ गये हों। क्योंकि, बौद्ध परम्परा में इनका अरण्यवासी होकर रहना किसी भिन्न तथ्य का ही सूचक है। पुनः बौद्ध संघ में सर्व प्रथम इनकी शिष्य परम्परा का विरोध में उठ खड़ा होना भी यही सूचित करता है कि इनकी परम्परा के संस्कार कुछ भिन्न ही थे। वैसे औपनिषदिक ऋषि परम्परा में इनके नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ सूचना नहीं मिलना भी यही सूचित करता है कि ये बाद में किसी अन्य धारा से जुड़ गये होंगे।

३. असित देवल

असित देवल का उल्लेख हमें भारतीय चिन्तन की वैदिक, जैन एवं बौद्ध तीनों धाराओं में उपलब्ध होता है। देवल का धर्मसूत्र भी प्राचीन काल में प्रचलित था, जिसके अनेक उद्धरण हमें परवर्ती काल के ग्रन्थों में आज भी उपलब्ध होते हैं। इस आधार पर इतना तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि असित देवल मात्र पौराणिक पुरुष न होकर एक ऐतिहासिक व्यक्ति रहे होंगे।

जैन परम्परा में असित देवल का उल्लेख ऋषिभाषित[६४] और सूत्रकृतांग[६५] में उपलब्ध होता है। ऋषिभाषित में उन्हें 'अर्हत् ऋषि' कहा गया है। उनका जो उपदेश ऋषिभाषित में संकलित है वह हमारे सामने निम्न तथ्यों को प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम व्यक्ति को चतुर्गति रूप संसार से निवृत्त होकर अतुल, अबाध, शाश्वत स्थान अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। यह मुक्ति कैसे प्राप्त होती है? इसकी चर्चा करते हुए बताया गया है कि सर्वकामनाओं, सर्व-आसक्तियों, सर्वराग और सर्वक्रिया-कलापों से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से विरत होकर तथा सब प्रकार से संवृत्त, उपरत, संयमी और प्रतिबुद्ध होकर संसार के सभी लेपों से अर्थात् बन्धन-कारक कर्मों से बचा जा सकता है तथा मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। इसके बाद ग्यारह गाथाओं में यह बताया गया है कि किन-किन कर्मों को करने से प्राणी पाप कर्मों में लिप्त होता है। अन्त में यह कहा गया है कि सामान्य अग्नि को तो जल के द्वारा बुझाया जा सकता है किन्तु मोह-अग्नि दुर्निवार है। जो इस तथ्य को समझ लेता है वही जन्म-मरण को समाप्त कर सिद्धि को प्राप्त करता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि असित देवल निवृत्ति-मार्ग के उपदेशक थे। उनके नाम के साथ लगे हुए अर्हत् ऋषि विशेषण से भी यह बात पुष्ट होती है। सूत्रकृतांग में जो असित देवल को बीज वनस्पति एवं सचित्त जल का उपभोग करते हुए सिद्धि को प्राप्त करने वाला कहा गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि ये मूलतः निर्ग्रन्थ परम्परा से सम्बद्ध नहीं थे, किन्तु फिर भी इन्हें इस परम्परा में पूर्व में सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त था, क्योंकि निर्ग्रन्थ परम्परा के भिक्षु इनके और इसी प्रकार से नमि आदि अन्य ऋषियों के उदाहरण देकर ही सुविधावादी प्रवृत्तियों का समर्थन कर रहे थे।

सूत्रकृतांग के टीकाकार शीलांक ने 'असिते दविले' पाठ के आधार पर असित और देवल ऐसे दो व्यक्तियों की कल्पना कर ली, किन्तु ऋषिभाषित के आधार पर ही यह सिद्ध हो जाता है कि असित देवल दो व्यक्ति नहीं हैं, अपितु एक ही व्यक्ति है। इसिमण्डल[६६] में इन्हें काम-वासना से निवृत्त होने वाला बताया गया है। ऋषिमण्डल वृत्ति जो लगभग १३-१४वीं शदी की रचना है—इनका पूरा जीवन दिया गया है। उसमें कहा गया है कि ये अपनी पुत्री अर्धशकासा के प्रति ही कामासक्त हो गये, किन्तु प्रबुद्ध हो वे वासना-निवृत्त हो गये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ये मूलतः तापस परम्परा से ही सम्बन्धित थे।

---

६४. ऋषिभाषित अध्ययन ३

६५. सूत्रकृताङ्ग १।१।३।४-३

६६ असियग्गं नमु नो सव्व-कामविरागेण एअमज्झयणं।
आसिय देवलाघुय-महरिसी सिवयं पत्तो ॥

—ऋषिमण्डल गाथा १२४

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी असित देवल का उल्लेख एक ऋषि के रूप में हुआ है। मज्झिमनिकाय का आसलायन सुत्त[६७] उनके सम्बन्ध में हमें कुछ विवरण देता है। उसमें कथा यह है कि एक समय सात ब्राह्मण विद्वान जंगल में निवास कर रहे थे। उनकी अवधारणा यह थी कि ब्राह्मण ही सर्वोच्च जाति है और वही ब्रह्मा के वास्तविक पुत्र हैं। असित देवल ने जब इस बात का विरोध किया तब ब्राह्मणों ने उसे शाप दिया, किन्तु ब्राह्मणों का शाप असित देवल को प्रभावित नहीं कर सका। अन्त में ब्राह्मणों ने अपनी तपस्या को निरर्थक जानकर असित देवल से अपने प्रश्नों का समाधान चाहा। असित ने उनके प्रश्नों का समाधान किया और अन्त में वे ब्राह्मण असित के अनुयायी हो गये।

बुद्धघोष ने महावंस में असित देवल का उल्लेख बोधिसत्त्व के रूप में किया है (महावंश II. 785)। इसके अतिरिक्त इन्द्रियजातक[६८] में भी देवल का काल-देवल के रूप में उल्लेख है। इस जातक कथा में नारद को असित देवल का छोटा भाई बताया गया है तथा उनके द्वारा उसे उपदेशित किये जाने का भी उल्लेख है। इस प्रकार बौद्ध परम्परा में भी असित देवल एक संन्यासी के रूप में हमारे सामने आते हैं और वे अपने लघु भ्राता नारद को भी संसार के प्रेम-पाश से मुक्त कराने का प्रयत्न करते हैं।

हिन्दू परम्परा में हम महाभारत और गीता में असित देवल के उल्लेख पाते हैं। महाभारत के आदिपर्व[६९], सभापर्व[७०], शल्यपर्व[७१], शान्तिपर्व[७२] और अनुशासनपर्व[७३] में असित देवल का उल्लेख हुआ है। शल्यपर्व में असित देवल को प्रारम्भ में गृहस्थ धर्म का आश्रय लेकर साधना करने वाला बताया गया है। जैन स्रोतों से भी इसकी पुष्टि होती है। उसमें यह भी बताया गया है कि असित देवल समभाव से युक्त तथा महातपस्वी थे। इस अध्याय में असित देवल और जेगीशव्य की चर्चा का भी उल्लेख है। इस अध्याय में एक बात जो सबसे महत्वपूर्ण है, वह यह है कि वे जेगीशव्य के उपदेश से प्रभावित होकर गृहस्थ धर्म का त्याग कर मोक्ष-धर्म अर्थात् सँन्यास धर्म का पालन करने लगे।

शान्तिपर्व में भी जेगीशव्य और असित देवल को समत्व बुद्धि का उपदेश देते हुए प्रस्तुत किया गया है। इन तथ्यों से इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि असित

---

६७. मज्झिमनिकाय खण्ड २ पृष्ठ १५४ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

६८. इन्द्रियजातक, पृष्ठ ४६३ (गीता प्रेस संस्करण)

६९. आदि पर्व १/१०७; ५३/८; वही

७०. सभापर्व ५३/१०; ७८/१५; वही

७१. शल्यपर्व ५०; वही

७2. शान्तिपर्व २२९/५; २७५/४–३९ वही

७३. अनुशासनपर्व १८/१७–१८ वही

देवल प्रारम्भ में गृहस्थ-साधक के रूप में तपस्यारत थे, परन्तु अन्त में उन्होंने संन्यास मार्ग को ग्रहण कर समत्व-बुद्धि की साधना की। शान्तिपर्व के ही एक अन्य अध्याय (२७५) में नारद और असित देवल का संवाद है। प्रस्तुत अध्याय में देवल पंचमहाभूत, काल, भाव और अभाव इन आठ नित्य तत्त्व की स्थापना करते हैं और इनसे ही जगत की उत्पत्ति बताते हैं। इसी अध्याय में उन्होंने नारद को इन्द्रियों के संयम का भी उपदेश दिया है। इससे ऐसा लगता है कि बौद्ध परम्परा में असित देवल और नारद को सम्बन्धित करने का जो प्रयत्न है, उसमें आंशिक सत्यता तो अवश्य है।

इसके अतिरिक्त गीता[७४], माठरवृत्ति[७५], ब्रह्मसूत्र भाष्य और याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य टीका में भी देवल के उल्लेख हैं। यद्यपि महाभारत में कहीं-कहीं देवल को एक पौराणिक पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है, परन्तु तीनों परम्पराओं में उनके उल्लेख होने से इतना तो निश्चित होता है कि देवल एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। यद्यपि यह प्रश्न अभी अवशेष रहता है कि यह कितने प्राचीन ऋषि हैं। इस सन्दर्भ में दो-तीन बातें विचारणीय हैं। महाभारत में तथा गीता में इन्हें नारद का समकालीन प्रस्तुत किया गया है। बौद्ध परम्परा की जातक कथा में भी इन्हें नारद को उपदेश देने वाला कहा गया है। ऋषिभाषित में देव नारद और वज्जियपुत्त के बाद असित देवल का अध्याय आता है। इन सबसे यह अवश्य सिद्ध होता है कि असित देवल भी महाभारत काल के ऋषि हैं। जातक कथा में इन्हें गौतम बुद्ध के काल में अन्य जन्म ग्रहण करने वाला बताया गया है; जो इनकी गौतम बुद्ध से प्राचीनता को सिद्ध करता है। यद्यपि इन सब आधारों पर इनका निश्चित समय बता पाना कठिन है, पर इतना अवश्य है कि ये बुद्ध एवं महावीर के पूर्ववर्ती तथा महाभारत काल के समवर्ती ऋषि रहे होंगे जिन्हें पर्याप्त समय तक लोकप्रियता प्राप्त होती रही और सम्भवतः उनकी अपनी कोई परम्परा भी चलती रही। अन्यथा जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में इनका जो उल्लेख उपलब्ध है, वह हमें नहीं प्राप्त होता।

४. अंगिरस भारद्वाज

ऋषिभाषित के चतुर्थ अध्याय में अंगिरस भारद्वाज के उपदेश संकलित हैं। ऋषिभाषित के अतिरिक्त अंगिरस का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[७६] आवश्यक

---

७४. गीता (गोरखपुर संस्करण) १०/१३

७५. माठरवृत्ति २१ देखें—सांख्यदर्शन और विज्ञान भिक्षु—डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी पृष्ठ २५

७६. आवश्यक निर्युक्ति गाथा १२८८ (विजयदानसूरि जैन सिरीज सूरत)

भाष्य[७७], आवश्यक चूर्णि[७८] और ऋषिमण्डल[७९] (इसिमण्डल) में भी मिलता है। वहाँ इन्हें कौशिक नामक उपाध्याय का तापस शिष्य कहा गया है। अन्य अध्यायों की अपेक्षा ऋषिभाषित का यह अध्याय पर्याप्त विस्तृत है। इसमें गद्य भाग के अतिरिक्त २४ गाथायें भी हैं। इस अध्याय में सर्वप्रथम मनुष्य के छद्मपूर्ण जीवन का चित्रण है। इसमें कहा गया है कि मनुष्य-हृदय को जान पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उसके मन के भीतर अन्य वातें होती हैं, वह अन्य रूप से कर्म करता है और अन्य रूप से भाषण करता है। साथ ही इसमें यह भी वताया गया है कि अपने अच्छे और बुरे का ज्ञाता स्वयं ही है। जो व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियों का निरीक्षण करता है उसके पाप कर्म निरुद्ध हो जाते हैं। अन्तर और वाह्य के द्वैत की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि अनेक वार व्यक्ति आन्तरिक रूप से कल्याण का या शुभ का कर्ता होता है जवकि वह वाहर से पाप करने वाला दिखाई देता है। इसके विपरीत अनेक वार पापी व्यक्ति भी वाहर से शीलवान जैसा आचरण करने वाला देखा जाता है। अनेक स्थितियों में लोग चोर की प्रशंसा करते हैं और मुनि की निन्दा करते हैं। केवल वाह्य कार्यो को देखकर शब्दों में किसी व्यक्ति को चोर या साधु कहने मात्र से वह चोर या साधु नहीं होता। वस्तुतः यह तो व्यक्ति स्वयं ही जानता है कि वह अच्छा है या बुरा। इस प्रकार इस सम्पूर्ण अध्ययन में मुख्य रूप से अन्तर और वाह्य की द्विविधा का चित्रण उपलब्ध है। मनुष्य में यह अन्दर और वाहर का द्वैत ऐसा है कि उसे समझ पाना कठिन है। व्यक्ति की साधुता या दुराचारिता का आधार वाहर की प्रशंसा या निन्दा नहीं, लेकिन अन्तर की मनोवृत्ति ही है।

वौद्ध परम्परा में अंगिरस भारद्वाज का उल्लेख अनेक वार एक वैदिक ऋषि के रूप में हुआ है। मज्झिमनिकाय[८०] में अंगिरस भारद्वाज नाम के प्रत्येकबुद्ध का उल्लेख है। जातक ४/९९ में ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाले जिन ११ संन्यासियों का उल्लेख है उनमें एक अंगिरस भारद्वाज भी हैं। इसके अतिरिक्त सुत्तनिपात[८१] में कृषि भारद्वाज, सुन्दरिक भारद्वाज का उल्लेख हैं, किन्तु भारद्वाज एक गोत्र है। गोत्र की समानता होने पर नाम की भिन्नता के कारण ये दोनों व्यक्ति अंगिरस भारद्वाज से भिन्न माने जाने चाहिए। सुत्तनिपात के वासेट्ठ सुत्त में भी वशिष्ठ और भारद्वाज के बीच इस प्रश्न को लेकर चर्चा उठती है कि व्यक्ति अपने शील और सदाचार के

---

७७. आवश्यक भाष्य पृष्ठ ७८२ (विजय दान सूरि जैन सिरीज, सूरत)

७८. आवश्यक चूर्णि भाग २ पृष्ठ ७९ व १९३

७९. ऋषिमण्डल गाथा १२३, द्रष्टव्य वृत्ति पृष्ठ १९० (जैन विद्याशाला दोसीवाडा पोल अहमदावाद १९२५)

८०. मज्झियनिकाय खण्ड २ पृष्ठ १६९, २०० (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

८१. सुत्तनिपात प्रथम खण्ड पृष्ठ १९६ (पा० टे० सो०)

आधार पर ब्राह्मण होता है या जन्म के आधार पर ? जब हम सुत्तनिपात के इस वासेट्ठ सुत्त में हुई चर्चा की और ऋषिभाषित के अंगिरस भारद्वाज के उपदेशों की तुलना करते हैं, तो एक सबसे महत्वपूर्ण बात परिलक्षित होती है, वह यह कि दोनों ही व्यक्ति की आन्तरिक पवित्रता को ही महत्वपूर्ण मानते प्रतीत होते हैं, जन्म या बाह्य आचरण को नहीं। इस प्रकार धर्म और साधना के क्षेत्र में अन्तर और मनोभावों को प्रमुखता देने की बात दोनों में ही प्रमुख रूप से पायी जाती हैं।

अंगिरस के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण हमें थेरगाथा की अट्ठकथा[८२] में मिलता है। सर्वप्रथम चूलपंथक थेरगाथा में अंगिरस को आदित्य के समान तपस्वी बताया गया है। वेणिथेर गाथा में उन्हें महामुनि कहा गया है तथा उनकी तुलना चन्द्रमा से की गयी है। बौद्ध परम्परा में ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण बात यह मिली कि उसमें अंगिरस की इस चर्चा के प्रसंग में चम्पानगर का उल्लेख आया है। जैन परम्परा में इसिमण्डल वृत्ति एवं आवश्यक चूर्णि में इन्हें चम्पानगर के कौशिक उपाध्याय का शिष्य कहा गया है। सम्पूर्ण पालि साहित्य में लगभग ७ अंगिरसों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन सात अंगिरसों में ऋषिभाषित के उल्लेखित अंगिरस कौन हैं ? यह विचारणीय है। सुत्तनिपात में जिन १० ऋषियों के साथ अंगिरस का उल्लेख हुआ है सम्भवतः वे ही ऋषिभाषित के अंगिरस हैं। मेरी दृष्टि में छान्दोग्य उपनिषद् के अंगिरस और सुत्तनिपात के अंगिरस तथा जैन परम्परा के ऋषिभाषित, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यक चूर्णि के अंगिरस एक ही व्यक्ति हैं; जिनके कथानक को तीनों परम्पराओं ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। पं० कैलाशचन्द्र जी ने जैन साहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका में छान्दोग्य उपनिषद् के देवकी पुत्र कृष्ण के उपदेशक अंगिरस को अरिष्टनेमि मानने का प्रयास किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह एक क्लिष्ट कल्पना ही है। इतना निश्चित सत्य है कि अंगिरस, कृष्ण और अरिष्टनेमि के समकालीन तथा बुद्ध, महावीर और पार्श्व के पूर्ववर्ती श्रमण परम्परा के औपनिषदिक काल के ऋषि हैं।

वैदिक परम्परा में अंगिरस का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद[८३] में प्राप्त होता है। उसके पश्चात् छान्दोग्य उपनिषद[८४] में घोर अंगिरस के नाम से इनका उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ इनको देवकी पुत्र कृष्ण का उपदेशक बताया गया है। छान्दोग्य के अतिरिक्त महाभारत में अंगिरा नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है। इनके आठ पुत्रों में एक पुत्र का नाम घोर था। इससे ऐसा लगता है कि छान्दोग्य के घोर अंगिरस, महाभारत[८५] में उल्लिखित अंगिरा ऋषि के पुत्र घोर होंगे। क्योंकि, पुत्र

---

८२ थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृष्ठ ५०३ (पाली टेक्स्ट सोसाइटी)

८३. ऋग्वेद १/४५/३; २/१३६/६; ३/११/७

८४. छान्दोग्य० १/२/१०

८५. आदिपर्व १२२/५१

के नाम के साथ पिता के नाम का उल्लेख भारत में प्राचीनकाल से होता रहा है। पुनः अंगिरस यह नाम भी अंगिरा के पुत्र का ही सूचक है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के अंगिरस भारद्वाज, छान्दोग्य उपनिषद् के घोर अंगिरस और सुत्तनिपात के अंगिरस भारद्वाज एक ही व्यक्ति हैं; जो एक ऋषि के रूप में सुविख्यात रहे हैं और तीनों ही परम्पराओं ने अपने-अपने ढंग से इन्हें स्वीकार कर लिया है।

५. पुष्पशालपुत्र

ऋषिभाषित के पञ्चम अध्याय में पुष्पशाल पुत्र के उपदेशों का सङ्कलन है। ऋषिभाषित [८६] के अतिरिक्त पुष्पशालपुत्र का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[८७] विशेषावश्यक भाष्य,[८८] और आवश्यक चूर्णि[८९] में भी मिलता है। आचारांग की शीलांक कृत टीका[९०] में भी पुष्पशाल का उल्लेख आया है। आवश्यक चूर्णि में भी पुष्पशाल के दो उल्लेख मिलते हैं। इसमें एक पुष्पशाल को गोवर ग्राम का और दूसरे को वसन्तपुर का निवासी बताया गया है। वसन्तपुर निवासी पुष्पशाल का ऋषिभाषित के पुष्पशालपुत्र से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। उसे एक संगीतज्ञ बताया गया है, किन्तु गोबर ग्राम निवासी पुष्पशालपुत्र वही है जिनका उल्लेख ऋषिभाषित में है। इस समानता का कारण यह भी है कि आवश्यक चूर्णि में गोबर ग्राम निवासी पुष्पशालपुत्र को सेवा-धर्म प्रधान बताया गया है। ऋषिभाषित में भी वे विनय को प्रधानता देते हुए प्रतीत होते हैं। अतः दोनों एक हो सकते हैं। दोनों को एक मानने में मात्र आपत्ति यह हो सकती है कि गोबर ग्राम वासी पुष्पशालपुत्र महावीर के समकालीन बताये गये हैं जबकि ऋषिभाषित की संग्रहणी गाथा में उल्लिखित पुष्पशालपुत्र को अरिष्टनेमि के तीर्थ का बताती है। किन्तु, संग्रहणी गाथा काल-निर्णय के सन्दर्भ में प्रामाणिक नहीं लगती, क्योंकि उसमें मंखलिपुत्र-गोशालक को भी अरिष्टनेमि के तीर्थ का बताया गया है। जबकि वे वस्तुतः महावीर और बुद्ध के समकालीन हैं।

आवश्यक चूर्णि में उपलब्ध विवरण और ऋषिभाषित में उल्लिखित पुष्पशाल के उपदेशों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे विनय

---

८६. ऋषिभाषित ५वां अध्ययन

८७. आवश्यक निर्युक्ति पृष्ठ ३९८ (आगमोदय समिति, बम्बई १९१६–१७)

८८. विशेषावश्यक भाष्य पृष्ठ ७८७ (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम १९३६)

८९. आवश्यकचूर्णि भाग १, पृष्ठ ५२९–३० (वही)

९०. आचारांग शीलांक वृत्ति पृष्ठ १५४ (आगमोदय समिति, बम्बई १९१६)

को प्रधानता देने वाले विचारक हैं। बुद्ध और महावीर के युग में विनयवादियों की एक परम्परा थी। मेरी दृष्टि में पुष्पशालपुत्र उसी से सम्बन्धित एक प्रभावशाली आचार्य रहे होंगे। ऋषिभाषित में उनके उपदेशों में मुख्य रूप से प्राणातिपात, असत्य वचन, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा क्रोध, मान आदि पाप-कर्मो से दूर होने का निर्देश मिलता है। वे कहते हैं कि क्रोध, मान आदि से रहित विनम्र आत्मा शास्त्रानुसार आचरण करता हुआ आत्मपर्यायों का ज्ञाता होता है; अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करता है। इस प्रकार इनके चिन्तन में पाप-निवृत्ति और विनम्रता ही प्रमुख प्रतीत होती है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा में भी हमें पुष्पस्थविर (फुस्सथेर) का उल्लेख मिलता है। थेरगाथा की अट्ठकथा[६१] में तथा अपदान में इनके उपदेशों का विस्तार से विवरण दिया गया है। पालि साहित्य में उपलब्ध इनके उपदेश में मुख्य रूप से भविष्य में होने वाले भिक्षु-भिक्षुणियों की पाप-प्रवृत्तियों का निर्देश किया गया है और इस प्रकार ये शास्त्रानुकूल सदाचार के पालन पर अधिक बल देते हुए प्रतीत होते हैं। यह बात सामान्य रूप से ऋषिभाषित में भी उपलब्ध होती है। फिर भी सुनिश्चित रूप से यह कह पाना कि पुष्पशालपुत्र पालि साहित्य के पुष्पस्थविर ही हैं, कठिन है। एक संकेत जो हमें बौद्ध साहित्य में मिलता है वह यह कि ये पण्डर भिक्षु थे। पण्डर भिक्षुओं का उल्लेख हमें जैन और बौद्ध दोनों ही स्रोतों से प्राप्त होता है। सम्भव है कि पुष्पशालपुत्र पण्डर भिक्षुओं की परम्परा के रहे हों, और वह परम्परा विनयवादियों की परम्परा रही हो। ऋषिभाषित में उनके उपदेश का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—"अंजलि पूर्वक पृथ्वी पर मस्तक रखकर उन्होंने समस्त शयनासन तथा भोजनपान का त्याग कर दिया। सम्भावना यही लगती है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के ऋषि थे, जिन्होंने अन्त में आमरण अनशन करके शरीर त्यागा होगा, किन्तु विस्तृत जानकारी के अभाव में अधिक कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। वैदिक परम्परा में उनके सम्बन्ध में हमे कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी।

६. वल्कलचीरी

ऋषिभाषित[६२] के षष्ठ अध्याय में वल्कलचीरी के उपदेशों का संकलन है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त वल्कलचीरी का उल्लेख हमें औपपातिक,[६३] भगवती

६१. थेरगाथा अट्ठकथा (खण्ड २) पृष्ठ ८२

६२. ऋषिभाषित ६ठां अध्ययन

६३. औपपातिक सूत्र ३८ (आगमोदय समिति बम्बई, १९१६)

सूत्र,[६४] आवश्यक चूर्णि[६५] तथा ऋषिमण्डल[६६] में भी मिलता है। वल्कलचीरी की कथा जैन परम्परा में एक प्रसिद्ध कथा है। आवश्यक चूर्णि और ऋषिमण्डल वृत्ति में यह कथा उपलब्ध है। आवश्यक चूर्णि के निर्देशानुसार यह कथा वसुदेवहिंडी में भी उपलब्ध है।[६७]

आवश्यक चूर्णि में एवं अन्यत्र उपलब्ध कथा के अनुसार ये पोतनपुर निवासी राजा सोमचन्द्र के पुत्र तथा प्रसन्नचन्द्र के भाई बताये गये हैं। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का भाई होने के कारण इन्हें महावीर का समसामयिक माना जा सकता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा जैन परम्परा में प्रसिद्ध ही है। आवश्यक चूर्णि में इन की कथा भी उपलब्ध होती है। इन कथा-स्रोतों से इतनी सूचना अवश्य मिलती है कि इनके पिता दिशाप्रोपक तापसी साधना करते थे। दिशाप्रोषक तापसों का उल्लेख औपपातिक आदि अन्य जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। अपने पिता के सानिध्य में जंगल में ही पलने के कारण इन्हें स्त्री-पुरुष, अश्व और मृग का भेद भी ज्ञात नहीं था। इन्हें अपने पिता के साधना-उपकरणों का प्रमार्जन करते हुए ज्ञान प्राप्त हुआ।

ऋषिभाषित में उपलब्ध वल्कलचीरी के उपदेशों से लगता है कि इनके मन में स्त्रियों के प्रति विशेष रूप से वैराग्य भाव था। ब्रह्मचर्य की शिक्षा इनके उपदेश का मूल सारतत्त्व है। ये कहते हैं कि, हे पुरुष! स्त्रीवृन्द के प्रति अत्यन्त आसक्त होकर अपना ही शत्रु मत बन। तुमसे जितना सम्भव हो (कामवासना से) युद्धकर। क्योंकि, इनसे तू जितना दूर रहेगा उतना ही उपशान्त बनेगा।

इस समग्र विवरण से ऐसा लगता है कि वल्कलचीरी ब्रह्मचर्य की साधना पर विशेष रूप से बल देने वाले ऋषि रहे होंगे। जैन परम्परा में उनके लिए प्रयुक्त भगवन् शब्द भी उनकी महत्ता को स्पष्ट करता है। वल्कलचीरी नाम इस तथ्य को भी प्रकट करता है कि वे वल्कल के वस्त्र धारण करते होंगे।

जैन परम्परा के अतिरिक्त वल्कलचीरी का उल्लेख हमें बौद्ध परम्परा[६८] में भी मिलता है। यहाँ उन्हें वल्कली थेर कहा गया है तथा उन्हें तीनों वेदों का ज्ञाता

---

६४. भगवती सूत्र अनु० ४१८ (आगम सुधासिन्धु १९७७)

६५. आवश्यकचूर्णि भाग १ पृ. ४५५-४६०

६६. ऋषिमण्डल वृत्ति ६४

६७. एवमादि जहा वसुदेवहिंडीए एत्थ पुण वक्कलचीरिणो अहिगारो.... ।
आवश्यक चूर्णि भाग १, पृ० ४६०

पिउतावसउवगरणं पमज्जयंतस्स केवलं नाणं ।
उप्पन्न जस्स कए वक्कलचीरिस्स तस्स नमो ।

६८. थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृ. ४२० (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

और श्रावस्ती निवासी एक ब्राह्मण बताया गया है। पालि साहित्य में उपलब्ध उल्लेखों के अनुसार वल्कली बौद्ध संघ में दीक्षित होते हैं, फिर उन्हें संघ से निष्कासित कर दिया जाता है। गृध्रकूट पर्वत पर उनके साधना करने के उल्लेख मिलते हैं। पाली साहित्य में बुद्ध उनकी श्रद्धा की प्रशंसा करते हैं। वैदिक परम्परा में वल्कलचीरी का उल्लेख हमें नहीं मिलता है। चाहे बौद्ध परम्परा ने इन्हें अपने से जोड़ने का प्रयत्न किया हो, किन्तु मेरी दृष्टि में ये तापस परम्परा के ऋषि रहे होंगे।

७. कुम्मापुत्त

ऋषिभाषित के सातवें अध्याय में कुम्मापुत्त (कूर्मपुत्र) ऋषि के उपदेशों का संकलन है। जैन परम्परा में ऋषिभाषित[९९] के साथ-साथ कुम्मापुत्त का उल्लेख विशेषावश्यक भाष्य,[१००] आवश्यकचूर्णि[१०१] औपपातिक की टीका[१०२] तथा हरिभद्र की रचना विशेषणवती[१०३] में भी उपलब्ध होता है। इसिमंडल[१०४] (ऋषिमण्डल) में भी इनका उल्लेख है। किन्तु, इन ग्रन्थों में इनका विस्तृत जीवन-वृत्त नहीं मिलता है। इनका विस्तृत जीवन-वृत्त तो ऋषिमंडल की वृत्ति तथा कुम्मापुत्तचरियम् में मिलता है, किन्तु ये दोनों रचनायें बारहवीं शताब्दी के पश्चात् की ही हैं। प्राचीन जैन साहित्य में इन्हें बौने या वामन व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है और इनके शरीर की ऊंचाई मात्र दो हाथ (लगभग 3 फीट) बतायी गयी है। इन्होंने गृहस्थावस्था में ही कैवल्य प्राप्त कर लिया था। इन उल्लेखों से इतना निश्चित होता है कि ये प्राचीन श्रमण परम्परा के कोई ऋषि रहे हैं।

ऋषिभाषित में वे निराकांक्ष या आसक्तिहीन होने का उपदेश देते हैं। उनके उपदेश में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे आकांक्षा को ही दुःख का कारण मानते हैं और कहते हैं कि यदि एक आलसी व्यक्ति भी निराकांक्ष होकर सुखी हो जाता है तो फिर एक प्रबुद्ध प्रयत्नशील साधक के लिए निराकांक्ष होकर सुखी होने में कोई आपत्ति ही नहीं हो सकती। वस्तुतः उनका यह उपदेश गीता के अनासक्त योग के उपदेश के ही समान है।

---

९९. ऋषिभाषित ७ वां अध्ययन

१००. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३१६६

१०१. आवश्यक चूर्णि भाग १ पृ. ५८३

१०२. औपपातिक वृत्ति पृ. ११४

१०३. विशेषणवती—हरिभद्र गाथा ३८, ४१–४८

१०४. ऋषिमण्डल उत्तरार्द्ध पृ. १९३

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा में भी हमें कुम्मापुत्त थेर का उल्लेख उपलब्ध होता है। थेर गाथा[१०५] और अपदान[१०६] की अट्ठकथा में कुम्मापुत्त का कथानक विस्तार से उपलब्ध होता है। इन्होंने अपने पूर्वजन्म में विप्पसि बुद्ध को पैरों पर मर्दन करने के लिए तेल प्रदान किया था। उसी पुण्य के फलस्वरूप वे अवन्ति राष्ट्र के वेलुत्कण्टक नगर में किसी गृहपति के कुल में उत्पन्न हुए। उनकी माता का नाम कुम्मा होने से उन्हें कूर्मापुत्र कहा जाता है। ये सारिपुत्त का उपदेश सुनकर प्रव्रजित हुए थे और इन्हें कर्मस्थान के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए विपश्चना के द्वारा अर्हत् पद प्राप्त हुआ। थेरगाथा में कुम्मापुत्त सायथेर का भी उल्लेख मिलता है। ये वस्तुतः कुम्मापुत्त के सहायक या निकटस्थ व्यक्ति थे, अतः कुम्मापुत्त से भिन्न हैं जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में इस सम्बन्ध में मतैक्य है कि अपनी माता के नाम पर ही इनका नाम कुम्मापुत्त प्रसिद्ध हुआ था। इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि इनके उपदेशों का सारतत्त्व निष्कामता और मनोभावों की शुद्धि था। सम्भवतः ये महावीर और बुद्ध के समकालिक अथवा उनसे कुछ पूर्ववर्ती रहे होंगे। जहाँ तक वैदिक परम्परा का प्रश्न है हमें उसमें कुम्मापुत्त के सम्बन्ध में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ है।

८. केतलीपुत्त

ऋषिभाषित के आठवें अध्याय में केतलीपुत्र के उपदेशों का संकलन है। केतलीपुत्त के सम्बन्ध में हमें ऋषिभाषित[१०७] के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं से कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती है। अन्य किसी जैन आगम ग्रन्थ में अथवा परवर्ती कथा-ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख नहीं प्राप्त होता। बौद्ध और वैदिक परम्परायें भी इनके सम्बन्ध में मौन हैं। अतः ये कौन थे ? यह कह पाना कठिन है।

केतलीपुत्र के संक्षिप्त उपदेश के अतिरिक्त ऋषिभाषित में हमें उनके सम्बन्ध में अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। ऋषिभाषित का दसवां अध्याय तेतलीपुत्त से सम्बन्धित है। तेतलीपुत्त का उल्लेख ज्ञाता, अनुत्तरोपपातिक, आवश्यक चूर्णि, इसिमण्डल तथा उसकी वृत्ति में मिलता है। यह भी संभव है कि उच्चारण भेद के कारण एक ही व्यक्ति के दोनों नाम प्रचलित रहे हों और इसी आधार पर इन्हें दो स्वतन्त्र व्यक्ति मान लिया गया हो। यद्यपि निश्चित प्रमाणों के अभाव के कारण इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कह पाना कठिन है। ऋषिभाषित में केतलीपुत्र का उपदेश यह है कि व्यक्ति आरं (संसार) में दो गुणों

---

१०५. थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृष्ठ १०० (पालिटेक्स्ट सोसाइटी)

१०६. अपादान अट्ठकथा खण्ड २ पृष्ठ ४५६

१०७. ऋषिभाषित आठवाँ अध्ययन

से और पारं (निर्वाण) में एक गुण से युक्त होता है, अतः व्यक्ति को रेशम के कीड़े की भांति अपने बन्धन को तोड़कर मुक्ति प्राप्त कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत अध्याय में संसार के लिए 'आरं' और मुक्ति के लिए 'पारं' शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह हमें आचारांग और सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध होता है। इससे इस उपदेश की प्राचीनता सिद्ध होती है। आरं (संसार) में दो गुण और पारं (मुक्ति) में एक गुण रहता है। इसकी व्याख्या अनेक दृष्टि से की जा सकती है। यथा—संसार में ज्ञान और कर्म (चारित्र) दो गुण होते हैं जबकि मुक्ति में ज्ञान नामक एक ही गुण होता है अथवा संसार में राग और द्वेष दो गुण होते हैं जबकि मुक्ति में वीतरागता का एक ही गुण होता है। उनके इस उपदेश से ऐसा लगता है कि ये उस युग में कोई रहस्यवादी साधक रहे होंगे। विशेष जानकारी के अभाव में इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है।

९. महाकाश्यप

ऋषिभाषित[108] के नवम अध्याय में महाकाश्यप के उपदेशों का संकलन है। भारत में काश्यप एक प्रसिद्ध गोत्र रहा है। महावीर और ऋषभ को भी काश्यप-गोत्रीय बताया गया है। मात्र यही नहीं, सूत्रकृतांग[109] में तो महावीर को "वीरेण कासवेण महेसिना" के रूप में सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार भगवती सूत्र[110] में पार्श्व की परम्परा के एक काश्यप नामक स्थविर का भी उल्लेख है। अतः यह महाकाश्यप कौन है ? यह निर्णय करना कठिन है। उत्तराध्ययन चूर्णि[111] में कपिल ब्राह्मण के पिता को भी काश्यप कहा गया है। इसी प्रकार अन्त-कृद्दशा[112] में काश्यप गाथापति का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु, मेरी दृष्टि में इन में से किसी के भी सम्बन्ध ऋषिभाषित के महाकाश्यप में नहीं है। काश्यप के साथ लगा 'महा' विशेषण इस बात को सूचित करता है कि ये कोई विशिष्ट व्यक्ति रहे होंगे।

बौद्ध परम्परा[113] में हमें एक विशिष्ट भिक्षु के रूप में महाकाश्यप का उल्लेख मिलता है। इन्हें बुद्ध का अग्रगण्य शिष्य कहा गया है। अतः यह सम्भव है कि ऋषिभाषित के महाकाश्यप बौद्ध परम्परा के महाकाश्यप हों।

---

१०८. ऋषिभाषित नवां अध्ययन

१०९. सूत्रकृतांग १.२.२.३

११०. भगवती सूत्र ५.५०

१११. उत्तराध्ययन चूर्णि पृ. १६८

११२. अन्तकृद्दशा सूत्र १२

११३. संयुत्तनिकाय भाग १ पृष्ठ २३ (पालि टेक्स्ट सोसायटी)

हमारी इस सम्भावना को इस आधार पर भी पुष्ट किया जा सकता है कि बौद्ध परम्परा के अन्य दो भिक्षु वज्जीपुत्त और सारिपुत्त का उल्लेख भी ऋषिभाषित में उपलब्ध है। अतः यह माना जा सकता है कि ऋषिभाषित के महाकाश्यप बौद्ध परम्परा के महाकाश्यप ही हैं।

ऋषिभाषित में महाकाश्यप के संकलित उपदेशों से इस बात की पुष्टि होती है कि वे बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित ऋषि हैं, क्योंकि उनके उपदेशों में एक ओर संततिवाद की चर्चा है, तो दूसरी ओर निर्वाण की उपमा दीपक के शान्त होने से दी गयी है। ये दोनों तथ्य बौद्ध परम्परा में सुस्पष्ट रूप से प्रचलित रहे हैं।

महाभारत[११४] में कश्यप नाम के एक प्रसिद्ध मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है जो परीक्षित के प्राण बचाने के लिए आ रहे थे, किन्तु इनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के महाकाश्यप से नहीं जोड़ा जा सकता। क्योंकि, ऋषिभाषित के महाकाश्यप बुद्ध और महावीर के समकालीन थे, जबकि ये महाभारत कालीन हैं। इसी प्रकार शतपथ[११५]ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक[११६] आदि में भी काश्यप का उल्लेख है। किन्तु, वह यह पैतृक नाम के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है अतः इनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के काश्यप से नहीं जोड़ा जा सकता। अतः मेरी दृष्टि में ऋषिभाषित के महाकाश्यप बौद्ध परम्परा के ही महाकाश्यप हैं।

१०. तेतलीपुत्र

ऋषिभाषित के १० वें अध्याय में तेतलीपुत्र के उपदेशों का संकलन है।[११७] प्राचीन जैन साहित्य में ऋषिभाषित के अतिरिक्त ज्ञाताधर्मकथा[११८] विपाकसूत्र,[११९] विशेषावश्यक-भाष्य[१२०] और सूत्रकृतांग चूर्णि[१२१] में तेतलीपुत्र का उल्लेख मिलता है। ज्ञाताधर्मकथा के १४ वें अध्ययन में तेतलीपुत्र का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। ज्ञाता के अनुसार ये तेतलीपुर नामक नगर के कनकरथ

---

११४. आदि पर्व ४२/३३

११५. शतपथ ब्राह्मण ७ ५ १.५

११६. तैत्तिरीय आरण्यक २/१८, १०/१,८

११७. ऋषिभाषित अध्याय १०

११८. ज्ञाताधर्मकथा १/१४

११९. विपाकसूत्र सूत्र ३२

१२०. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३३३२

१२१. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. २८

नामक राजा के अमात्य थे। इन्होंने स्वर्णकार पुत्री पोट्टिला से विवाह किया था। राजा कनकरथ इस भय से कि मेरी ही सन्तान मुझे पदच्युत न् कर दे, अपने पुत्रों को विकलांग कर देता था। रानी ने यह समस्या तेतलीपुत्र को बतायी। संयोग से उसकी पत्नि पोट्टिला और रानी पद्मावती साथ-साथ गर्भवती हुई और साथ ही प्रसव किया। तेतलीपुत्र की पत्नि ने मृतकन्या और रानी ने पुत्र का प्रसव किया। तेतलीपुत्र अपनी मृतकन्या रानी को देकर पुत्र को घर ले आता है तथा पुत्रोत्सव करता है। कुछ कारणों से वह पोट्टिला से अन्यमनस्क हो जाता है। नगर में आर्या सुव्रता अपने साध्वी समुदाय के साथ आती है। कुछ साध्वियाँ शिक्षार्थ तेतलीपुत्र के घर में प्रवेश करती हैं। पोट्टिला साध्वियों से पति को वश में करने का उपाय पूछती है। आर्यिकाएँ कहती हैं कि 'ऐसे उपाय बताना हमारे लिए निषिद्ध है, हम धर्मोपदेश दे सकती हैं'। पोट्टिला धर्मोपदेश सुनकर दीक्षित हो जाती है। उधर कनकरथ की मृत्यु के पश्चात् उसके द्वारा पोषित राजपुत्र राजा बनता है, वह तेतलीपुत्र को उसके उपकार के कारण पर्याप्त सम्मान देता है। कथा के अनुसार पोट्टिला मरकर स्वर्ग में देव बनती है और अपने पूर्व पति को प्रतिबोध देना चाहती है। राजा को उसके विरुद्ध कर देती है। राजा से यथोचित सम्मान न मिलने पर तेतलीपुत्र दुःखी हो आत्महत्या का प्रयत्न करता है। आत्म-हत्या के अनेक उपाय करने पर भी वह असफल रहता है, अतः उसका जीवन अविश्वास और अश्रद्धा से भर जाता है। अवसर जानकर पोट्टिला, जो देवता बन गई थी, उसे प्रतिबोध देती है। उसके उपदेश से प्रतिबोधित हो तेतलीपुत्र दीक्षित हो साधना करते हुए मुक्ति प्राप्त करते हैं। यही कथा संक्षेप में ऋषिभाषित में भी है। ज्ञाता और ऋषिभाषित के इस अध्ययन की तुलना के लिए यहाँ दोनों से कुछ पाठ दिये जा रहे हैं।

ऋषिभाषित (१०)

सद्धेयं खलु समणा वदन्ती, सद्धेयं खलु माहणा, अहमेगो असद्धेयं वदिस्सामि। तेतलीपुत्तेण अरहता इसिणा बुइयं। सपरिजणं पि णाम ममं अपरिजणो त्ति को मे तं सद्दहिस्सति? सपुत्तं पि णाम ममं अपुत्तं त्ति को मे सद्दहिस्सति? एवं समित्तं पि णाम ममं, सवित्तं पि णाम ममं, सपरिग्गहं पि णाम ममं, दाण-माण-सक्कारोवयार-संगहिते तेतलिपुत्ते स सयणपरिजणे विरागं गते को मे तं सद्दहिस्सति।

ज्ञाताधर्मकथा (२/१४)

तए णं से तेतलीपुत्ते एवं वयासि सद्धेय खलु भो समणा वयंति, सद्धेयं खलु भो माहणा वयंति, अहमेगो असद्धेयं वयामि।....सपुत्तेहिं अपुत्ते को मेदं सद्दहिस्सई? समित्तेहिं अमित्ते को मेदं सद्दहिस्सइ? एवं अत्थेणं दारेणं, दासेहिं परिजणेणं।

तेतलीपुत्तेण अमच्चेण....तालपुडके विसे खातिते त्ति से वियसे पडिहते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ?....महतिमहालयं रुक्खं दुरुहित्त पासे छिण्णे तहावि ण मए को मे तं सद्दहिस्सति ? महति-महालयं पासाणं गीवाए बन्धित्ता अत्थाहाए पुक्खरिणीए अप्पा पक्खिते तथ्य अवि य णं थाहे लद्धे, को मे तं सद्दहिस्पति ? तेतलिपुत्तेण महति-महालियं कट्ठरासीं पलीवेत्ता अप्पा पक्खित्ते से विय से अगणिकाए विज्झाए को मे तं सद्दहिस्सति ?

तेतलिपुत्तेण अमच्चेणं....तालपुडगे विसे आसंगसि पक्खित्ते, से वि य णो संकमइ को मेदं सद्दहिस्सइ ?....पासगं बधेत्ता जाव रज्जू छिन्ना को मेदं सद्दहिस्सइ ? महासिलयं बंधित्ता अत्थाह जाव उदगंसि अप्पामुक्के, तत्थ वि य णं थाहे जाए, को मेदं सद्दहिस्सइ ? सुकंसि तणकूडे अग्गी विज्झाए को मेदं सद्दहिस्सइ ?

तए णं सा पुट्टिला मुसियारधूता ....अन्तलिक्ख पडिवण्णा एवं वयासी आउसो तेतलिपुत्ता....पुरओ वित्थिण्णे गिरिसिहर कंदरप्पवाते, पिट्ठओ कम्पेमाणे व्व मेहणितलं साकड्ढन्ते व्व पायवे णिप्फोडेमाणे व्व अम्बरतलं सव्वतमोरासिव्व पिण्डिते, पच्चक्खमिव सयं कतत्ते भीम खं करेन्ते घरणि। प्पवेसिणो सरणितन्ति, पहुयवहजाला सहस्ससंकुलं समन्ततो पलित्तं धग-धगेति....आउसो तेतलिपुत्ता कत्तो वयामो ?

तएणं से पोट्टिले देवे....अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी हं भोतेयलिपुत्ता.... पुरओ पवाए, पिट्ठओ हत्थिभयं दुहओ अचक्खुफासे मज्झे सराणि वरिसति, गामे पलित्ते रज्ज झियाइ....आउसो तेयलिपुत्ता कओ वयामो ?

त तेणं से तेतलिपुत्ते....पोट्टिलं मूसि-यारधूयं एवं वयासि पोट्टिले। एहि ता आयाणाहि: भीयस्स खलु भो पव्वज्जा, अभिउतस्स सवहणकिच्चं मातिस्स रहस्सकिच्चं, उक्कंठियस्स देसगमण-किच्चं, छुहियस्स भोयणंकिच्चं पिपासियस्स पाणकिच्चं, परं अभिउं-जिउकामस्स सत्थकिच्चं, खन्तस्स दन्तस्स गुत्तस्स जितिन्दियस्स एत्तो ते एक्कमवि ण भवइ।

त एणं से तेयलिपुत्तें पोट्टिल देवं एवं वयासि–भीयस्स खलु पव्वज्जा सरणं उक्कंठियस्स देसगमणं, छुहिस्स अन्नं, तिसियस्स पाणं, आउरस्स भेसज्जं माइयस्स रहस्सं, अभिजुदस्स पच्चय-करणं....परं अभिओ जितुकामस्ससहाय-किच्चं खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स एतो एगमवि ण भवइ।

इन दोनों पाठों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि (१) ज्ञाताधर्म-कथा में ऋषिभाषित की अपेक्षा तेतलिपुत्र का विवरण अधिक विकसित है और उसमें अलौकिक तत्त्व अधिक जुड़ गये हैं। (२) दूसरे ज्ञाता की अपेक्षा ऋषिभाषित के पाठों की भाषा 'त' श्रुति प्रधान और अर्ध मागधी के निकट है और इसलिए प्राचीन भी है, जबकि ज्ञाता की भाषा 'य' श्रुति प्रधान, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से युक्त और अपेक्षाकृत परवर्ती है।

जहाँ तक प्रस्तुत अध्याय की मूलभूत शिक्षा या उपदेश का प्रश्न है वह अस्पष्ट ही है। वस्तुतः प्रस्तुत अध्याय में उपदेश भाग अति अल्प ही है। वस्तुतः तेतलिपुत्र इसमें अपने जीवन के अनुभव प्रस्तुत करते है, वे कहते हैं—मैं परिजनों, मित्रों पुत्रों आदि से युक्त होकर भी असहाय अनुभव करता हूँ, धन-सम्पत्ति से युक्त होकर भी दीन हूँ, निराश होकर आत्म-हत्या के प्रयत्न किये किन्तु उसमें भी असफल ही रहा। अतः मेरे जीवन में अविश्वास भर गया है। जहाँ दूसरे श्रमण-ब्राह्मण श्रद्धा की बात कहते हैं, मैं अकेला अश्रद्धा (अविश्वास) का प्रतिपादन करता हूँ। यह अविश्वास या अनास्था ही उनके वैराग्य का कारण है। ज्ञाता एवं ऋषिभाषित के अतिरिक्त स्थानांग में भी तेतलिपुत्र का उल्लेख है[१२२]। उसमें अनुत्तरोपपातिक की आठवें अध्ययन (दशा) का नाम 'तेतली' कहा गया है, किन्तु वर्तमान अनुत्तरोपपातिक दशा में यह अध्ययन (दशा) अनुपलब्ध है। चूंकि ज्ञाता में तेतलिपुत्र का वृत्त आ गया था अतः उसे यहाँ से हटा दिया गया होगा। साक्ष्य के अभाव में आज यह कह पाना कठिन है कि इस दशा में पूरी विषय वस्तु क्या थी?

जैन साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध एवं वैदिक साहित्य में इनके सम्बन्ध में कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। इससे ऐसा लगता है कि ये मूलतः निर्ग्रन्थ धारा से सम्बन्धित रहे होंगे।

११. मंखलिपुत्त

ऋषिभाषित[१२३] ग्यारहवां अध्याय मंखलिपुत्त से सम्बन्धित है। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि ये मंखलिपुत्त कौन थे। जैन और बौद्ध परम्पराओं में मंखलि गोशाल या मक्खलि गोसाल का उल्लेख उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र का १५ वां शतक[१२४] मंखलिगोशाल के जीवन-वृत्त और उनकी दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत करता है। जैन परम्परा में भगवती सूत्र

---

१२२. स्थानांग सूत्र ७५५

१२३. ऋषिभाषित ११वां अध्ययन

१२४. भगवती सूत्र १५.८०

के अतिरिक्त मंखलि गोसाल का विवरण उपासक दशा,[125] आवश्यक निर्युक्ति,[126] विशेषावश्यक भाष्य,[127] आवश्यक चूर्णि,[128] आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है। उपलब्ध वृत्तों के अनुसार इन्हें मंखलि नामक मंख का पुत्र होने के कारण मंखलि-पुत्र और गोशाला में जन्म लेने के कारण गोशाल कहा जाता था। जैन परम्परा के अनुसार ये महावीर के दीक्षित होने के पश्चात् उनके दूसरे चातुर्मास में उनसे मिले और लगभग छः वर्ष तक उन्हीं के साथ रहे। बाद में नियतिवाद के प्रश्न को लेकर दोनों में मतभेद हो गया। भगवती सूत्र की सूचना के अनुसार महावीर की दीक्षा के २४ वर्ष पश्चात् मंखलिपुत्त गोसाल ने अपने आप को जिन या तीर्थंकर घोषित कर दिया। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा भगवती सूत्र में उपलब्ध होती है। किन्तु, हमारी दृष्टि में वह एकपक्षीय तथा अतिरंजित विवरण है। इन कथा-स्रोतों से हम केवल इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मंखलिपुत्त गोसाल ने महावीर से स्वतन्त्र अपनी एक परम्परा स्थापित कर ली थी और उनका समाज पर एक व्यापक प्रभाव था। उनका यह सम्प्रदाय आगे चलकर आजीवक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य[129] में भी मक्खलि गोसाल को बुद्ध के समकालीन छः तीर्थंकरों में एक माना गया है। इसके अतिरिक्त थेरगाथा[130] में भी गोसाल थेर का उल्लेख है। यद्यपि इसकी अट्ठकथा में जो विवरण है उसमें उन्हें मगध राष्ट्र में उत्पन्न कहा गया है। यद्यपि अन्य विवरण में जैन एवं बौद्ध उल्लेखों से कोई समानता नहीं है। बौद्ध और जैन दोनों ही परम्पराओं के उपलब्ध विवरण इतना तो स्पष्ट कर दे रहे हैं कि मंखलिपुत्त गोसाल अपने युग के एक प्रभावशाली आचार्य तथा नियतिवाद के संस्थापक थे। पालि त्रिपिटक और जैन आगम साहित्य में उनके दार्शनिक मन्तव्यों की विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है। दोनों ही उन्हें नियतिवादी मानते हैं। नियतिवाद वह विचारधारा है जो व्यक्ति के पुरुषार्थ की अपेक्षा विश्व की एक नियत व्यवस्था पर बल देती है। यहाँ हम इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से चर्चा करना नहीं चाहेंगे। किन्तु, इतना अवश्य ही कहना चाहेंगे कि जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में ऋषिभाषित के अतिरिक्त मंखलि गोसाल के सम्बन्ध में और उनकी दार्शनिक मान्यताओं के सम्बन्ध में जो विवरण उपलब्ध हैं वे एक-पक्षीय आलोचनात्मक हैं और मंखलि गोसाल के व्यक्तित्व और दार्शनिक मान्यताओं को विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं। सम्भवतः ऋषिभाषित ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ

---

१२५. उपासकदशा ६/२०,२१,२३,२८; ७/८,११,४२-४५ (लाडनूं)
१२६. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४७४
१२७. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९२८
१२८. आवश्यक चूर्णि पृ. २८२
१२९. दीघनिकाय प्रथम पृ. ५३ (पा. टे. सो.)
१३०. थेर गाथा २३

है जो मंखलिपुत्त को एक सम्मानित अर्हत ऋषि के रूप में और उनके उपदेशों को प्रमाणिक रूप में प्रस्तुत करता है। यह सत्य है कि ऋषिभाषित में मंखलि गोसाल का जो उपदेश प्रस्तुत है उसमें भी नियतिवादी तथ्य देखें जा सकते हैं। किन्तु, मंखलिपुत्त के इस नियतिवाद का उद्देश्य व्यक्ति के कर्तृत्व के अहंकार को समाप्त कर उसे एक अनासक्त जीवन दृष्टि प्रदान करना है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, प्रभावित होता है, क्षोभित होता है, आहत होता है—वह साधक तदनुरूप मनोभावों से प्रभावित होने के कारण आत्मरक्षक नहीं बन सकता। मंखलिपुत्त के उपदेश का तात्पर्य यही है कि विश्व की घटनाएं अपने क्रम से घटित होती रहती हैं। व्यक्ति के नहीं चाहने पर भी जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं। जो व्यक्ति जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में इन्हें पुद्गल की परिणति समझकर अप्रभावित, अक्षोभित अनाहत रहता है वही साधक चतुर्गति रूप इस संसार से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है। उनके इस उपदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके नियतिवाद का मुख्य उपदेश अनासक्त जीवन के निर्माण के लिए है। यही बात हमें भगवद्गीता के उपदेश में मिलती है। वहाँ भी नियतिवाद का उपदेश व्यक्ति की फलासक्ति को समाप्त करने के लिए दिया गया है।

महाभारत[१३१] में हमें मंकि गीता के नाम से मंकिऋषि के उपदेश प्राप्त होते हैं। मेरी मान्यता है कि महाभारत के यह मंकि ऋषि निश्चित ही ऋषिभाषित के मंखलिपुत्त हैं। क्योंकि, मंकी गीता स्पष्ट रूप से नियतिवाद का प्रतिपादन करती है। वह कहती है कि जो कुछ होता है वह व्यक्ति के प्रयत्न से नहीं अपितु दैव की लीला से है। भाग्य ही सब कुछ है। जो हठपूर्वक पुरुषार्थ करता है तथा उसमें सफल नहीं होता तो खोज करने पर ज्ञाता होता है कि उसमें दैव का ही सहयोग है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ऋषिभाषित के मंखलिपुत्त, भगवती सूत्र आदि जैन आगमों में उल्लिखित मंखलि गोसाले, पालि त्रिपिटक साहित्य में उल्लिखित मक्खलि-गोसाल तथा महाभारत के मंकि ऋषि एक ही व्यक्ति हैं। वस्तुतः जैन और बौद्ध परम्पराओं में जब साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ़ हुआ तब ही उनके उपदेशों को तथा उनके जीवन वृत्त को विकृत रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। यह भी साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मंखलिपुत्त अपने युग के एक प्रभावशाली श्रमण परम्परा के व्यक्ति थे और उनका आजीवक सम्प्रदाय उनके पश्चात् भी लगभग १००० वर्ष तक अस्तित्व में रहा। ऋषिभाषित के मंखलिपुत्त आजीवक परम्परा के प्रबुद्ध आचार्य मंखलि गोसाल ही हैं। यद्यपि भगवतीसूत्र के १५ वें शतक में इस परम्परा के अन्य आचार्यों के भी उल्लेख मिलते हैं।

१२. जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य)

ऋषिभाषित का बारहवां अध्याय जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) से सम्बन्धित है। इसमें याज्ञवल्क्य को अर्हत् ऋषि कहा गया है। याज्ञवल्क्य के जीवनवृत्त एवं उपदेशों के सम्बन्ध में ऋषिभाषित[१३२] के अतिरिक्त जैन आगम साहित्य एवं कथा साहित्य से अन्य कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है। ऋषिभाषित की संग्रहणी गाथा में उन्हें अरिष्टनेमि के युग का प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। इनके सम्बन्ध में, विस्तृत जानकारी के लिए हमें जैनतर स्रोतों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। जैनेतर स्रोतों में भी बौद्ध स्रोतों से हमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है, मात्र वैदिक स्रोतों से ही हमें इनके बारे में जानकारी प्राप्त होती है। वैदिक स्रोतों में याज्ञवल्क्य का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[१३३], शांखायन आरण्यक[१३४], बृहदारण्यक उपनिषद्[१३५] और महाभारत[१३६] में प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य के नाम से याज्ञवल्क्य स्मृति भी प्रसिद्ध है। शतपथ ब्राह्मण और शांखायन आरण्यक में याज्ञवल्क्य के जो उल्लेख उपलब्ध हैं, वे समान ही हैं। यदि हम महाभारत और याज्ञवल्क्य स्मृति को छोड़ दें, तो वैदिक साहित्य में बृहदारण्यक उपनिषद् ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें याज्ञवल्क्य का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के कथानक के आधार पर ओल्डेनबर्ग, वेबर आदि ने जनक से सम्बन्धित होने के कारण इनको विदेह निवासी बताया है। यद्यपि वैदिक कोश में श्री सूर्यकान्त ने कुरु-पांचाल के उद्दालक से इनका सम्बन्ध होने के कारण इनके विदेह निवासी होने पर सन्देह प्रकट किया है। वैसे मेरी दृष्टि में उद्दालक से सम्बन्ध होने पर भी इनके विदेह निवासी होने पर सन्देह करना उचित नहीं, क्योंकि ऋषि परिभ्रमणशील होते थे। उद्दालक का उल्लेख हमें ऋषिभाषित में भी मिलता है। मेरी दृष्टि में बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त उल्लेख के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चाहे वे अपने प्रारम्भिक जीवन में यज्ञ-परम्परा के समर्थक रहे हों, किन्तु जनक के आत्मवाद से प्रभावित होकर अन्त में वे निवृत्तिमार्गी श्रमण धारा की ओर मुड़े। बृहदारण्यक उपनिषद् में वे कहते हैं कि आत्मा को जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का त्याग करके भिक्षाचर्या करते हुये विचरण करते हैं, क्योंकि जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है

---

१३२. ऋषिभाषित १२ वाँ अध्ययन

१३३. शतपथ ब्राह्मण ६/७; देखें वैदिक कोश (बो. एच. यू. १६३२) पृष्ठ ४२८

१३४. शांखायन आरण्यक १३/१; देखें वही पृष्ठ ४२८

१३५. बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/१ ३/५/१; देखें वही पृ. ४२८

१३६. महाभारत सभापर्व ४/१२, ३३/३५, शान्तिपर्व ३१०–३१८

और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा[137] है। बृहदारण्यक उपनिषद् के इस उपदेश की तुलना याज्ञवल्क्य के ऋषिभाषित के उपदेशों से करते हैं तो दोनों में विलक्षण रूप में समानता परिलक्षित होती है। ऋषिभाषित में वे कहते हैं कि जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है और जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैषणा है, इसलिए साधक को लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग करके गोपथ से जाना चाहिये, महापथ से नहीं। सम्भवतः यहाँ गोपथ का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार गाय थोड़ी-थोड़ी घास चरते हुऐ जीवन जीती है, उसी प्रकार से व्यक्ति को भिक्षाचर्या द्वारा किसी को कष्ट न देते हुए जीवन जीना चाहिए। यहाँ महापथ का तात्पर्य लोक-परम्परा या प्रवृत्ति-मूलक-परम्परा से भी हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि याज्ञवल्क्य अन्त में निवृत्ति मार्ग के उपदेशक हो जाते हैं। वैदिक परम्परा में बृहदारण्यकोपनिषद् के अतिरिक्त महाभारत में भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं[138]।

शांतिपर्व में इन्हें जनक को उपदेश देते हुए वर्णित किया गया है। उसमें ऐसा लगता है कि ये जनक के समकालीन ऋषि रहे होंगे। जैन परम्परा में इन्हें जो अरिष्टनेमि के युग का ऋषि बताया गया है, वह समीचीन प्रतीत नहीं होता है। सम्भवतः ये इससे भी पूर्वकाल के ऋषि हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् और ऋषिभाषित में उपलब्ध याज्ञवल्क्य के उपदेशों की तुलना के आधार पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) अन्य कोई नहीं, अपितु उपनिषदों के याज्ञवल्क्य ही हैं।

१३. मेतेज्ज भयाली

ऋषिभाषित[139] का तेरहवां अध्याय मेतेज्ज भयालि से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन साहित्य में भयालि का उल्लेख समवायांग[140] में

---

१३७ एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः।

—बृहदारण्यकोपनिषद् ३/५/१

तुलनीय—

जाव ताव लोएसणा ताव ताव वित्तेसणा, जाव ताव वित्तेसणा ताव लोएसणा। से लोएसणं च वित्तेसणं परिण्णाए गोपहेण गच्छेज्जा णो महापहेण····।

—ऋषिभाषित १२

१३८ महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३१० से ३१८।

१३९. ऋषिभाषित १३ वाँ अध्ययन

१४० समवायांग ११/४

उपलब्ध होता है। समवायांग में इन्हें आगामी उत्सर्पिणी काल में होने वाला संवर नामक उन्नीसवां तीर्थंकर बताया गया है। भयालि के दो अन्य प्राकृत रूप भमालि और भग्गइ भी मिलते हैं। स्थानांगसूत्र[१४१] में अन्तकृत्दशा का सातवाँ अध्याय भगालि से सम्बन्धित माना गया है। यद्यपि वर्तमान में यह अध्ययन उपलब्ध नहीं है, किन्तु मेरी दृष्टि में अन्तकृत्दशा के प्राचीन संस्करण में अवश्य ही यह अध्याय रहा होगा और उसमें भगाली के जीवनवृत्त अथवा उपदेशों का संकलन किया गया होगा। औपपातिक में भग्गइ नामक एक क्षत्रिय परिव्राजक और उसके अनुयाइयों का उल्लेख हुआ है। सम्भव है कि भयालि या भगालि के अनुयायी ही भग्गइ के नाम से जाने जाते हों।

ऋषिभाषित में भयालि के उपदेशों का प्रतिपाद्य-विषय तो आत्म-विमुक्ति है। वे कहते हैं कि फल की इच्छा वाला ही पेड़ का सिंचन करता है। जिसे फल की इच्छा नहीं है वह सिंचन भी नहीं करता। मूल के सिंचन करने से ही फल की उत्पत्ति होती है। मूल को नष्ट कर देने से फल भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार वे यह बताना चाहते हैं कि संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए संसार के मूलभूत कारणों का ही विनाश करना होगा। इसके अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टि से भयालि यह प्रतिपादन भी करते हैं कि सत् का कोई कारण नहीं होता और असत् का भी कोई कारण नहीं होता। असत् का भव-संक्रमण भी नहीं होता।

इस प्रकार उनके दर्शन में उपनिषद्, गीता और साँख्य का वह तत्त्व समाहित है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इसी बात को प्रकारान्तर से इस अध्याय में कहा गया है।

जहाँ तक भयालि के नाम के साथ लगे मेतेज्ज शब्द का प्रश्न है, महावीर के दसवें गणधर का नाम भी मेतेज्ज था, किन्तु मेरी दृष्टि में ये मेतेज्ज भयालि उनसे भिन्न व्यक्ति हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य मेतेज्ज नामक श्रमण का उल्लेख मिलता है जो राजगृह के निवासी थे और जिन्होंने अपने जीवन को बलिवेदी पर चढ़ाकर भी अहिंसा व्रत की रक्षा की थी। इनका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[१४२] विशेषावश्यक भाष्य,[१४३] आवश्यकचूर्णि,[१४४] स्थानांग,[१४५] और स्थानांग अभयदेवीय

---

१४१. स्थानाङ्ग सूत्र १५७,२३६

१४२. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८६६,८७०,८७१

१४३. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३३३२,३३३८,३३३९

१४४. आवश्यक चूर्णि भाग १, पृष्ठ ४९४–९५

१४५. स्थानाङ्ग सूत्र १५७,२३६

टीका[१४६] में मिलता है। सम्भव है ये और ऋषिभाषित के उल्लेखित मेतेज्ज भयालि एक ही व्यक्ति हों, किन्तु निश्चित प्रमाण के अभाव में अधिक कुछ कह पाना सम्भव नहीं है।

बौद्ध परम्परा में मेत्तजि थेर[१४७] का उल्लेख उपलब्ध होता है, इन्हें मगध के ब्राह्मण परिवार में सम्बन्धित माना गया है। ये युवा होने पर अरण्यवासी भिक्षु बन गये। तत्पश्चात् ये बुद्ध से मिले, उनसे चर्चा की एवं संघ में प्रवेश लिया और अन्त में अर्हन् अवस्था को प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त बौद्ध परम्परा में बावरी के शिष्य मेत्तगू थेर का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि मेत्तजि और मेत्तगू थेर का सम्बन्ध मेत्तेज्ज भयालि से हो सकता है, यह कहना कठिन है। इनके अतिरिक्त एक अन्य मेत्तिय थेर का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। इन मेत्तिय थेर को छब्बग्गीया भिक्षुओं के एक वर्ग का नेता भी कहा गया है। इनके अतिरिक्त बौद्ध परम्परा में मेत्तेय्य का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। ये मेत्तेय्य आगामी पाँचवें कल्प में होने वाले अजित बुद्ध माने गये हैं। महावंश के अनागत वंश में इनका उल्लेख उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त सुत्तनिपात[१४८] में तिस्स के मित्र एक अर्हत् मेत्तेय्य थेर का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। यद्यपि इन सब विवरणों के आधार पर यह कह पाना तो कठिन है कि मेत्तेज्ज भयालि और बौद्ध परम्परा के मेत्तेय्य का क्या सम्बन्ध है? बौद्ध परम्परा में एक भद्दालि थेर का भी उल्लेख है। यद्यपि भद्दालि और भयालि में भाषिक साम्यता होने पर भी दोनों में किसी प्रकार की समानता बता पाना कठिन ही है।

१४. बाहुक

ऋषिभाषित के चौदहवें अध्याय में अर्हत् ऋषि बाहुक के उपदेशों का संकलन मिलता है। बाहुक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृताङ्ग[१५०], सूत्रकृताङ्ग चूर्णी[१५१] और सूत्रकृताङ्ग पर शीलांकाचार्य[१५२] द्वारा लिखित टीका में भी है। यद्यपि इन सभी संदर्भों में हमें उनके जीवनवृत्त के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। सूत्रकृताङ्ग नमि, नारायण, असित देवल, द्वैपायन, पाराशर

---

१४६. स्थानाङ्ग अभयदेवटीका पृ. १८२ एवं ४७४

१४७. थेरगाथा ८४

१४८. सुत्तनिपात गाथा ८१४

१४९. ऋषिभाषित १४. वाँ अध्ययन

१५०. सूत्रकृताङ्ग १/३/४/२

१५१. सूत्रकृताङ्ग चूर्णि पृ. १२१

१५२. सूत्रकृताङ्ग शीलांक टीका पृ. ९५

आदि ऋषियों के उल्लेख के प्रसंग में ही बाहुक का भी उल्लेख करता है और यह बताता है कि अर्हत् प्रवचन में मान्य इन बाहुक ऋषि ने सचित्त जल का सेवन करते हुए भी मुक्ति को प्राप्त किया। सूत्रकृतांग चूर्णी में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इनका उल्लेख ऋषिभाषित में है तथा इन प्रत्येकबुद्धों ने वन में निवास करते हुए तथा वनस्पति, बीज और शीतल जल का सेवन करते हुए मुक्ति प्राप्त की। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित और सूत्रकृतांग में उल्लिखित बाहुक एक ही व्यक्ति हैं। यद्यपि इनके जीवन/विवरण के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों में कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। ऋषिमण्डलवृत्ति में भी इनके सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है, अतः इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। स्थानांग सूत्र के अनुसार प्रश्नव्याकरणदशा का दसवां अध्याय बाहु से सम्बन्धित था। यद्यपि वर्तमान प्रश्नव्याकरणदशा में स्थानांग में उल्लिखित कोई भी अध्याय उपलब्ध नहीं है, किन्तु मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में इसे स्पष्ट किया है कि प्रश्नव्याकरण के प्राचीनतम संस्करण में यह अध्याय रहा होगा और इसमें बाहुक के उपदेशों का संकलन भी रहा होगा।

ऋषिभाषित में प्रस्तुत बाहुक के उपदेशों का सारतत्त्व यही है कि युक्त बात भी यदि अयुक्त विचार के साथ की जाती है तो वह प्रमाण स्वरूप नहीं है। वस्तुतः इस कथन का आशय यही है कि यदि दृष्टि या चिन्तन अशुद्ध है तो बाह्य क्रिया चाहे वह शुद्ध या नैतिक प्रतीत होती हो, अनैतिक ही मानी जायेगी। इस अध्याय में मुख्य रूप से अनासक्ति पर बल देते हुए बताया गया है कि निष्काम भाव से जो भी साधना की जाती है, वही मुक्ति की दिशा में ले जाती है। सकाम भाव से किया गया तपश्चरण आदि भी नरक का कारण है। इस प्रकार बाहुक अनासक्त दर्शन के प्रतिपादक प्रतीत होते हैं।

बौद्ध परम्परा[१५३] में बाहुक का नाम तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु बाहीक या बाही का उल्लेख मिलता है। यद्यपि आज यह कहना कठिन है कि यह बाहीक और ऋषिभाषित के बाहुक एक ही हैं, क्योंकि बौद्ध परम्परा में इन्हें बुद्ध के अनुयायी के रूप में ही विवेचित किया गया है, अतः इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना कठिन है।

जहाँ तक वैदिक परम्परा[१५४] का प्रश्न है उसमें बाहुव्रक्त नामक ऋषि का उल्लेख है। इन्होंने ऋग्वेद के कुछ सूत्र बनाये थे, ऐसा माना जाता है, फिर भी इनकी ऋषिभाषित के बाहुक से समानता खोज पाना कठिन है। महाभारत[१५५] में

---

१५३. पालि प्रापर नेम्स जिल्द २. पृ. २८१–८३

१५४. वैदिक कोश पृ. ३३४ (का. हि. वि. वि. १९३३)

१५५. महाभारत की नामानुक्रमणिका पृ. २१६

भी वाहुक का उल्लेख है। वहाँ उन्हें वृष्णि-वंशी वीर के रूप में प्रकट किया गया है। महाभारत में ही महाराजा सगर के पिता को भी बाहुक कहा गया है। इसी प्रकार राजा नल का भी एक नाम वाहुक था, किन्तु ये सारे साक्ष्य हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाने में सहायक नहीं होते कि इनका ऋषिभाषित में उल्लिखित वाहुक के साथ कोई सम्बन्ध था। यह विषय अभी गवेषणात्मक है। विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध में विशेष खोज करने का प्रयास करेंगे।

१५. मधुरायण

ऋषिभाषित[१५६] का १५वां अध्ययन मधुरायण अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। मधुरायण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन और बौद्ध परम्परा में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। अतः इनके जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ कह पाना कठिन है। प्रस्तुत अध्याय में अनेक शब्द विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, अतः जब तक उनके उन विशिष्ट अर्थों को स्पष्ट नहीं कर लिया जाता तब तक मधुरायण के उपदेशों को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता।

प्रस्तुत अध्याय के अर्थ के सन्दर्भ में न तो ऋषिभाषित के संस्कृत टीकाकार स्पष्ट हैं, और न उसके आधार पर मनोहर मुनि ने जो हिन्दी अनुवाद किया है वह भी अधिक स्पष्ट हैं। प्रस्तुत संस्करण का हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद भी भ्रान्ति रहित नहीं है। यद्यपि शुब्रिंग ने अपने टिप्पण में तथा मनोहर मुनिजी ने अपनी व्याख्या में उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि इस 'अध्याय' का विषय अस्पष्ट है। मेरी दृष्टि में इस अध्याय के विषय को स्पष्ट करने के लिए इस अध्याय में प्रयुक्त कुछ विशिष्ट शब्दों को स्पष्ट करना होगा। इस अध्याय के मुख्यतः तीन शब्द 'सातादुक्ख' 'दुक्ख' और 'संत' ये तीन शब्द ऐसे हैं जो अपने अर्थ का स्पष्टीकरण चाहते हैं। जहाँ तक 'सातादुक्ख' के अर्थ का प्रश्न है संस्कृत टीकाकार और अन्य सभी ने उसे सुख से उत्पन्न दुःख माना है। वस्तुतः सुख का तात्पर्य यहाँ सुख की आकांक्षा ही लेना होगा। अतः 'सातादुक्ख' का तात्पर्य है सुख की आकांक्षा से उत्पन्न दुःख। दूसरे शब्दों में सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए जिस व्यक्ति में आकांक्षायें जागृत हों वह व्यक्ति सातादुःख अभिभूत कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में सुख की आकांक्षा ही सातादुःख है। इसके विपरीत अशाता दुःख से अभिभूत व्यक्ति का दुःख है: निराकांक्ष होने के कारण स्वाभाविक रूप से प्राप्त सांसारिक दुःख। साता दुःख का यह अर्थ करने पर प्रथम प्रश्न और उत्तर इस प्रकार बनता है:—क्या सुख की आकांक्षा से उत्पन्न दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख को प्रेरित करता है? या निमन्त्रित करता है?

---

१५६ ऋषिभाषित १५वाँ अध्ययन

या निराकांक्ष कष्टों का जीवन जीने वाला व्यक्ति दुःखों को निमन्त्रित या प्रेरित करता है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि सुख की आकांक्षा से उत्पन्न दुःखों से अर्थात् सांसारिक वासना के पीछे पागल व्यक्ति ही दुःखों को आमन्त्रित करता है। स्वाभाविक दुःखों से घिरा होने पर भी निराकांक्ष व्यक्ति दुःखों को आमन्त्रित नहीं करता अर्थात् कर्म बन्ध नहीं करता। वस्तुतः सुख की आकांक्षा करना ही दुःखों को निमन्त्रण देना है। सुख की आकांक्षा से दुःखी बना व्यक्ति ही दुःखों को निमन्त्रित करता है, न कि कष्ट जन्य दुःखों से घिरा व्यक्ति। इस प्रकार मधुरायण सांसारिक सुखों की आकांक्षा में ही दुःखों का मूल देखते हैं।

पुनः 'संतं' शब्द यहाँ 'शान्त' के अर्थ में न होकर सत्ता के अर्थ में होगा। 'संतं दुक्खी' का अर्थ यहाँ होगा दुःखी होकर। पुनः यहाँ दुःखी होने का अर्थ कामना या आकांक्षा से युक्त होना ही है। अतः 'संतं दुक्खी दुक्खं उदीरेइ' से अभिप्राय दुःखी होकर ही दुःख को निमन्त्रण दिया जाता है। अर्थात् साकांक्ष व्यक्ति ही दुःख का प्रेरक होता है। इसी प्रकार 'नो असंतं दुक्खी दुक्खं उदेरइ' दुःख से दुःखित न होकर दुःख को निमन्त्रण नहीं दिया जाता अर्थात् जो व्यक्ति निराकांक्ष है वह दुःख का प्रेरक नहीं होता है।

इसके पश्चात् इस अध्याय में मुख्य रूप से पाप को अनिर्वाण और संसार भ्रमण का कारण बताते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार बीज के होने पर अंकुरण स्वाभाविक है उसी प्रकार पापों के होने पर भी दुःख का होना स्वाभाविक है। अन्त में यह कहा गया है कि आत्मा ही अपने कर्मों का कर्त्ता है और अपने कर्मों का भोक्ता है। इसलिए साधक को आत्मार्थ के लिए पाप-मार्ग का त्याग कर देना चाहिए। जिस प्रकार सपेरा सांप के विष-दोष को समाप्त करता है उसी प्रकार साधक को दुःखों के मूल को समाप्त करना चाहिए। मधुरायण की दृष्टि में दुःख का मूल सुख (सांसारिक सुखों) की आकांक्षा से रहित होना है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि प्रस्तुत अध्याय की विषय वस्तु की ऋषिभाषित के अन्य अध्यायों की विषय वस्तु से पर्याप्त समानता है। इस १५वें अध्याय की विषय वस्तु ९वें अध्याय के समान है। इस तथ्य को ग्रन्थकार ने भी 'णवमज्झयणगमरणं वणेयव्वं' कहकर स्वीकार किया है।

बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में अन्यत्र इनका उल्लेख अनुपलब्ध होने से इनके सम्बन्ध में तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

१६. शोर्यायण (सौरयायण)

ऋषिभाषित का १६वाँ अध्ययन[१५७] शौर्यायण (सोरयायण) नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त सोरिय का उल्लेख स्थानांग[१५८]

१५७. ऋषिभाषित १६वाँ अध्ययन

१५८. स्थानांग सूत्र ७५५

और विपाक सूत्र[१५९] में भी मिलता है। विपाक सूत्र में इनका सोरियदत्त नाम से उल्लेख हुआ है। स्थानांग की सूचना के अनुसार कर्म-विपाक दशा के सातवें अध्याय का नाम सोरिय है, किन्तु उपलब्ध विपाक सूत्र के आठवें अध्याय में सोरियदत्त का उल्लेख मिलता है। इस अध्याय में इन्हें सोरियपुर नगर के मछुआरे समुद्रदत्त का पुत्र कहा गया है। कथावस्तु के अनुसार एक बार इनके गले में मछली का कांटा फंस गया और अनेक प्रयत्नों के बाद भी इसे निकाला नहीं जा सका और उन्हें अति दुःख भोगना पड़ा। प्रस्तुत अध्याय में उल्लिखित सोरियदत्त का ऋषिभाषित के सोरियायण से इस आधार पर सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है कि सोरियायण ने अपने उपदेश में मुख्य रूप से ऐन्द्रिक विषयों में आसक्त न होने का उपदेश दिया है। यही बात प्रकारान्तर से विपाक दशा में भी कही गयी है कि ऐन्द्रिक विषयों की पूर्ति में फंसकर ही जीव दारुण दुःख भोगता है।

प्रस्तुत अध्याय में इन्द्रियों के वेग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति को श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय के मनोज्ञ विषय प्राप्त होने पर आसक्त, अनुरक्त और लोलुप नहीं होना चाहिये। ये दुर्दान्त इन्द्रियाँ संसार भ्रमण का कारण है। राग-द्वेष से छुटकारा पाने हेतु कछुए के समान इन दुर्दान्त इन्द्रियों का संगोपन करना चाहिए। मनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने पर राग नहीं करना चाहिए और न अमनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने पर द्वेषित होना चाहिए। जो मनोज्ञ विषयों के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष करता है वह पाप कर्म का बन्ध करता है। बौद्ध परम्परा[१६०] में सोरिय का उल्लेख सोरेय्य के रूप में मिलता है। वहाँ उन्हें श्रेष्ठिपुत्र कहा गया है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में सोरेय्य का जो उल्लेख है उसका जैन परम्परा के सोरिय से कोई निकट का सम्बन्ध नहीं देखा जा सकता। वैदिक परम्परा[१६१] में हमें शौरि का उल्लेख शूरसेन के पुत्र के रूप में (द्रोण पर्व १४८/७) मिलता है। इनका तादात्म्य वसुदेव से बताया गया है, जो कृष्ण के पिता कहे गये है, तब भी यह कह पाना कठिन है कि ऋषिभाषित के सोरियायण, पालि साहित्य के सोरेय्य और महाभारत के शौरि एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न व्यक्ति है। अपने नाम के आधार पर ये शूरसेन देश से सम्बन्धित रहे होंगे इतना माना जा सकता है। बृहदारण्यकोपनिषद्[१६२] में आचार्यो की सूचि में कापायन के शिष्य सौकरायण का नाम आता है, सम्भव है कि प्राकृत में यही सोरियायण बन गया हो।

---

१५९. विपाक सूत्र ८६

१६०. धम्मपद अट्ठकथा. भाग १. पृ. ३२८ टिप्पणी।

१६१. महाभारत द्रोणपर्व १४८/७

१६२. बृहदारण्यकोपनिषद् ६/६/२

१७. विदुर

ऋषिभाषित[१६३] के १७वें अध्याय में विदु (विदुर) के उपदेशों का संकलन है। ऋषिभाषित में इन्हें अर्हत् ऋषि कहा गया है। जैन साहित्य में ऋषिभाषित के अतिरिक्त ज्ञाताधर्म कथा[१६४] में भी विदुर का उल्लेख है। उसमें अर्जुन, भीमसेन, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, गंगेय आदि के साथ विदुर का भी नामोल्लेख मात्र है। इसके अतिरिक्त आगम साहित्य में अन्यत्र कहीं विदुर का उल्लेख नहीं है।

प्रस्तुत अध्याय में विदुर के उपदेश के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह बताया गया है कि वही विद्या महाविद्या, या सर्व विद्याओं में श्रेष्ठ विद्या है जो सभी दुःखों से मुक्त करती है। पुनः यह कहा गया है कि जिस विद्या के द्वारा जीवों की गति एवं आगति का, बन्धन और मुक्ति का तथा आत्मभाव का बोध होता है, वह विद्या दुःखों से मुक्त कर सकती है। विदुर ऋषि का यह कथन उस औपनिषदिक कथन का ही रूप है जिसमें कहा गया है कि 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् वही विद्या है जो मुक्ति दिलाती है। पुनः इसमें यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार रोग का परिज्ञान और उसका सम्यक् निदान तथा उसकी औषधि का परिज्ञान सही चिकित्सा के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार मुक्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही इस अध्याय में स्वाध्याय और ध्यान पर विशेष रूप से बल दिया गया है। यह भी कहा गया है कि जितेन्द्रिय साधक संसार-वास का समस्त प्रकार से परिज्ञान करके स्वाध्याय और ध्यान में संलग्न होकर सावद्य प्रवृत्ति के कार्यों से विमुख होता हुआ निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण करे। समस्त परकीय या वैभाविक दशायें सावद्य योग है, दुश्चरित्र है, ऐसा समझकर उनका आचरण न करे। जो साधक इस प्रकार से आचरण करता है वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय मुख्य रूप से सर्वप्रथम स्वाध्याय और ध्यान के साथ सम्यक् ज्ञान पर बल देता है और उसके साथ सावद्य या हिंसक प्रवृत्तियों से विमुख होकर अहिंसक प्रवृत्ति के आचरण का सन्देश देता है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा[१६५] में भी हमें 'विधुर' (विदुर) का उल्लेख मिलता है। यद्यपि विधुर की जो कथा बौद्ध परम्परा में उपलब्ध होती है उसका जैन और वैदिक परम्परा में उपलब्ध विदुर की कथा से कोई साम्य नहीं है। बौद्ध परम्परा में इन्हें ककुसन्ध बुद्ध के दो अग्र श्रावकों में एक माना गया है। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार बोधिसत्त्व के एक जन्म का नाम विदुर था। इस प्रकार

---

१६३. ऋषिभाषित १७ वाँ अध्ययन

१६४. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र ११७

१६५. देखें–डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स (मलाल शेखर) खण्ड २, पृ. ८८२, ८८३

बौद्ध परम्परा के विदुर सम्बन्धी इन कथानकों का जैन परम्परा के इन विदुर से कोई साम्यता खोज पाना कठिन ही है।

वैदिक परम्परा में और विशेष रूप से महाभारत में विदुर का विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। इन्हें व्यास के द्वारा अम्बिका की दासी से उत्पन्न बताया गया है। इस प्रकार ये शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न ब्राह्मण पुत्र हैं। महाभारत के आदि पर्व तथा सभापर्व में इनका विस्तार से उल्लेख मिलता है। महाभारत के स्त्री-पर्व[१६६] में इनके उपदेश विस्तार से संकलित हैं। यदि हम इन उपदेशों को ध्यान पूर्वक देखें तो चाहे उनमें और ऋषिभाषित के उपदेशों में कोई शाब्दिक समानता न हो, पर वैचारिक समानता स्पष्ट रूप से देखी जाती है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि महाभारत में उल्लिखित विदुर और ऋषिभाषित के उल्लिखित विदुर एक ही व्यक्ति रहे होंगे।

१८. वारिषेण कृष्ण

ऋषिभाषित[१६७] का १८ वाँ अध्ययन वारिषेण कृष्ण (वरिसव कण्ह) के उपदेशों से सम्बन्धित है। वारिषेण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरित स्थानांग[१६८] में उपलब्ध होता है। समवायांग[१६९] में चार जिन प्रतिमाओं ऋषभ और वर्धमान के साथ चन्द्रानन और वारिषेण का भी उल्लेख है। चन्द्रानन और वारिषेण को ऐरावत क्षेत्र का क्रमशः प्रथम एवं अन्तिम तीर्थङ्कर कहा गया है। इसके अतिरिक्त स्थानाङ्ग में काश्यप गोत्र की एक शाखा 'वारिसकण्हा' कही गयी है। अन्तकृद्दशा[१७०] में वारिषेण को वसुदेव का पुत्र कहा गया है तथा अन्तकृद् ऋषि कहा गया है। इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि ये कृष्ण के समकालीन और अरिष्टनेमि के युग के ऋषि हैं। किन्तु. ऋषिभाषित में इनके नाम के साथ कण्ह (कृष्ण) शब्द विशेष विचार के लिए प्रेरित करता है। वसुदेव के पुत्र के रूप में क्या ये स्वयं कृष्ण तो नहीं थे? प्रस्तुत अध्याय में यह बतलाया गया है कि जो व्यक्ति प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक और अरति से लेकर मिथ्या-दर्शन शल्य तक के वर्ज्यों (अनाचरणीय कर्मों या पाप कर्मों) का सेवन करता है, वह हस्त-छेदन या पाद-छेदन आदि को प्राप्त होता है और जो इन वर्ज्यों (पापों) का सेवन नहीं करता है वह सिद्ध स्थान को प्राप्त करता है। ज्ञातव्य है कि हस्त-छेदन पादच्छेद आदि कथन ऋषिभाषित के अध्याय ९ एवं १५ में उल्लिखित हैं। अन्त में यह कहा

---

१६६. महाभारत, स्त्रीपर्व अध्याय २ से ७
१६७ ऋषिभाषित अट्ठारहवां अध्ययन
१६८. स्थानांग सूत्र ९४३
१६९. समवायांग सूत्र १५९
१७०. अन्तकृद्दशा ८

गया है कि जिस प्रकार शकुनि (पक्षी) फल को छेद डालता है और राज्य को खण्ड-खण्ड कर देता है या कमल पत्र जल से निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार साधक को कर्मफल को छेदकर पाप कर्मो से निर्लिप्त रहना चाहिएं।

महाभारत के भीष्मपर्व[१७१] में कृष्ण का एक नाम वार्ष्णेय भी बताया गया है। वृष्णि वंश का होने के कारण उन्हें वार्ष्णेय कहा गया है। उपनिषदों और ब्राह्मणों[१७२] में भी वृष्णि वंश के लोगों को वार्ष्णेय या वार्ष्ण्य कहा गया है। श्री कृष्ण वृष्णिवंश से सम्बन्धित थे। यद्यपि वृष्णि का प्राकृत वण्हि होता है 'वरिसव' का वारिषेण होता है। यद्यपि 'वरिस' से संस्कृत रूप वृष्णि की सम्भावना हो सकती है। इससे इतना तो निश्चित है कि ये कोई साधक ऋषि थे, जो अरिष्टनेमि के समकालीन थे। पाली साहित्य में दीघनिकाय के अम्बट्ठ सुत्त में कृष्ण ऋषि का उल्लेख है और अम्बट्ठ को इनकी परम्परा का बताया गया है। इसी प्रकार औपपातिक सूत्र में ब्राह्मण परिव्राजकों की एक शाखा को 'कण्ह' कहा गया है। यह सम्भव है कि 'वरिसव कण्ह' ही इस शाखाके प्रवर्तक हों। औपपातिक में ब्राह्मण परिव्राजकों की एक अन्य शाखा 'दीवायण कण्ह' (द्वैपायन कृष्ण) भी थी। अतः प्रथम शाखा 'वरिसव कण्ह' से सम्बन्धित रही होगी।

१९. आरियायण

ऋषिभाषित[१७३] का १९ वाँ अध्ययन आरियायण नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। आरियायण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता है। बौद्ध और वैदिक परम्परायें भी इनके सम्बन्ध में मौन हैं। अतः इनके व्यक्तित्व और ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ कह पाना कठिन है। प्रस्तुत अध्याय में यह कहा गया है कि सर्वप्रथम आर्य ही थे। पुनः उपदेश के रूप में यह बताया गया है कि अनार्य भाव, अनार्य कर्म और अनार्य मित्र का वर्जन करना चाहिए, क्योंकि जो अनार्य भाव, अनार्य कर्म और अनार्य मित्र का संसर्ग करता है वह भवसागर में परिभ्रमण करता है। इसके विपरीत जो आर्य-भाव, आर्य कर्म और आर्य मित्रों से युक्त होता है वह आर्यत्व को प्राप्त होता है। अन्त में कहा गया है कि आर्य भाव, आर्य ज्ञान और आर्य चरित्र उचित है, अतः इनकी सेवा करना चाहिए।

इस संक्षिप्त उपदेश के अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में अन्य कोई जानकारी हमें उपलब्ध नहीं है।

---

१७१. भीष्म पर्व २७/३६

१७२. शतपथ ब्राह्मण ३, १, १, ४

१७३. ऋषिभाषित १९वाँ अध्ययन

२०. उत्कट (भौतिकवादी)

ऋपिभापित के बीसवें अध्ययन[१७४] का नाम उत्कल या उत्कट है। इस अध्याय के प्रवक्ता के रूप में किसी ऋपि के नाम का उल्लेख नहीं है। यद्यपि अध्याय के अन्त में दूसरे अध्यायों के समान ही 'एवं सिद्धे बुद्धे·······त्तिवेमि' कहा गया है, किन्तु इस कथन का पूर्व कथन से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। मात्र अन्य अध्यायों की शैली में ही यह वाक्यांश यहाँ रख दिया गया है। वस्तुतः प्रस्तुत अध्याय में भौतिकवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने से इसके प्रवक्ता के रूप में किसी ऋपि का उल्लेख नहीं किया गया। इस अध्याय में पाँच प्रकार के उत्कट बताये गये हैं—दण्डोत्कट, रज्जूत्कट, स्तेनोत्कट, देशोत्कट और सर्वोत्कट। सर्व-प्रथम इस सन्दर्भ में उत्कट शब्द का अर्थ विचारणीय है। वैसे तो उत्कट शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहाँ उत्कट का उन्मत्त या विपम अर्थ करना ही उचित होगा। उत्कट का एक अर्थ मदिरा भी है। वस्तुतः भौतिकवादी जीवन-दृष्टि अध्यात्मवाद की विरोधी थी, इसलिए उसे उत्कट कहा गया। यह भी सम्भव है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण को मानने वाले लोगों को अध्यात्मवादियों ने उन्मत्त कहा हो। चूंकि भौतिकवादी मद्य आदि का सेवन करते थे और उसे अनुचित नहीं मानते थे, इसलिए भी उन्हें उत्कट कहा गया हो। यह भी सम्भव है कि मूल प्राकृत शब्द उक्कल का संस्कृत उत्कुल होगा। संस्कृत में उत्कुल शब्द पतित या घृणित कुल के अर्थ में आता है। यदि इसे उत्कुल मानें तो इसका अर्थ होगा–किनारे से बाहर निकल कर बहने वाला अर्थात् वे व्यक्ति जो अध्यात्मवादी धारा से भिन्न मत का प्रतिपादन करते थे, उत्कुल कहे जाते होंगे।

प्रस्तुत अनुवाद में जो उत्कल रूप का प्रयोग किया गया है वह मेरी दृष्टि में उचित नहीं है, उसे या तो उत्कट होना चाहिए या उत्कुल या उत्कूल। प्रस्तुत अध्याय में जो पांच प्रकार के उत्कट कहे गये हैं वे वस्तुतः पाँच प्रकार की भौतिक-वादी दृष्टियां हैं, जो विभिन्न उदाहरणों के आधार पर अपने भौतिकवादी मान्यताओं को प्रतिपादित करती हैं।

दण्डोत्कट वे व्यक्ति हैं जो दण्ड के दृष्टान्त द्वारा यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार दण्ड के आदि, मध्य और अन्तिम भाग पृथक्-पृथक् नहीं रहते हैं, वह समुदाय मात्र हैं, उसी प्रकार शरीर से पृथक् कोई आत्मा नहीं है।

रज्जूत्कट वे हैं जो यह मानते हैं कि जिस प्रकार रस्सी विभिन्न तन्तुओं का समुदाय मात्र है, उसी प्रकार जीव भी पाँच महाभूतों का समुदाय मात्र है और इनके अलग-अलग होने पर जीवन का भी उच्छेद हो जाता है।

---

१७४. इसिभासिय २०

स्तेनोत्कट वे हैं जो अन्य शास्त्रों में प्राप्त दृष्टान्तों को अपने पक्ष में व्याख्यायित कर अपने ही कथन को सत्य मानते हैं। इस प्रकार दूसरे की मान्यताओं का खण्डन करके उनके प्रति असहिष्णु होते हैं। इस स्तेनोत्कटवाद के विरोध में ही आगे चल कर निर्ग्रन्थ परम्पराओं में अनेकान्तवाद का विकास हुआ होगा, क्योंकि यहाँ 'मेरा कथन ही एकमात्र सत्य है' यह मानने वाले को दूसरों के प्रति करुणा का अपलापक कहा गया है।

देशोत्कट उन्हे कहते हैं जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी उसे अकर्त्ता आदि कहते हैं। वस्तुतः आत्मा को अकर्त्ता मानने पर पुण्य, पाप, बन्धन आदि की व्यवस्था नहीं बन पाती है। इसलिए इस प्रकार के विचारकों को देशोत्कट या आंशिक रूप से भौतिकवादी कहा गया है।

इसी प्रकार सर्वोत्कट वे विचारक हैं जो तत्त्व की सत्ता को अस्वीकार करते हुए अभाव से ही सभी उत्पत्ति को सम्भव मानते हैं और यह कहते हैं कि कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो सर्वथा सर्वकालों में अस्तित्व रखता हो। इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद का प्रतिपादन करते हैं, अतः इन्हें सर्वोत्कट कहा जाता है।

उक्त पाँच प्रकार के उत्कटों अर्थात् भौतिकवादियों की चर्चा करने के पश्चात् सामान्य रूप से भौतिकवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए शरीर से पृथक् किसी आत्मा की सत्ता को अस्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि शरीर का विनाश होने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता। यही जीवन एकमात्र जीवन है। न तो परलोक है, न सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल, होता है, न तो पुनर्जन्म है और न पुण्य-पाप का फल ही है। पैर से लेकर केशाग्र तक जो शरीर है, वही जीव है। जिस प्रकार दग्ध बीजों से अंकुर नही निकलते, उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती।

इस प्रकार यह अध्याय विशुद्ध रूप से भौतिकवादी दृष्टि प्रस्तुत करता है जिसे भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन के नाम से जाना जाता है। वैसे इस प्रकार की भौतिकवादी दृष्टि का उल्लेख प्राचीन जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य में हमें विस्तार से उपलब्ध होता है। इस अध्याय में प्रतिपादित विचार हमें सूत्रकृताङ्ग[१७५] और राजप्रश्नीय[१७६] में उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में पयासीसुत्त[१७७] में भी इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन मिलता है। अतः यह अध्याय उस युग में प्रचलित भौतिकवादी जीवन दृष्टि का परिचायक कहा

१७५. सूत्रकृताङ्ग १/१/१/१२/

१७६. राजप्रश्नीय १६७–१८०

१७७. दीघनिकाय खण्ड २. पयासिराजञ्ञसुत्त (पालि पब्लिकेशन बोर्ड १९५८)

जा सकता है। समवायाङ्ग[१७८] में ऋषिभाषित के ४४ अध्यायों का उल्लेख है। सम्भव है कि यह अध्याय ऋषिभाषित में बाद में जोड़ा गया हो, क्योंकि यही एकमात्र ऐसा अध्याय है जो अध्यात्मवाद के प्रतिपादक ४४ अध्यायों से भिन्न है। भौतिकवादियों के लिए उत्कट शब्द का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता है। इसी प्रकार भौतिकवादियों के इसमें जो दण्डोत्कट, रज्जूत्कट, स्तेनोत्कट, देशोत्कट और सर्वोत्कट ऐसे पाँच विभाग किये गये हैं वे भी अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः यह ऋषिभाषित की अपनी विशेषता है। भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में देहात्मवादी, इन्द्रियात्मवादी, प्राणात्मवादी, मनो आत्मवादी आदि जो प्रकार बताये गये हैं इनसे भिन्न ही हैं।

२१. गाथापति पुत्र तरुण

ऋषिभाषित[१७९] का २१वाँ अध्याय गाथापति पुत्र तरुण के उपदेशों से सम्बन्धित है। गाथापति पुत्र तरुण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त न तो जैन साहित्य में कहीं उपलब्ध होता है और न बौद्ध और हिन्दू परम्परा में ही कहीं इनका उल्लेख मिलता है। ऋषिभाषित में इनका मूलभूत उपदेश ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक है। इनके अनुसार अज्ञान ही परम दुःख है, वही भय का कारण है और संसार अज्ञान मूलक है अर्थात् अज्ञान के कारण ही प्राणी संसार में परिभ्रमण करता है। वे स्वयं कहते हैं कि पहले मैं अज्ञान के कारण न जानता था, न देखता था, न समझता था। किन्तु अब मैं ज्ञानवान होकर जानता हूँ, देखता हूँ, और समझता हूँ। पूर्व में अज्ञान के कारण मैंने काम के वशीभूत होकर अनेक अकृत्य और अकरणीय कार्य किये, किन्तु अब ज्ञान युक्त होकर, समस्त दुःखों का अन्त कर शिव एवं अचलस्थान अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करूँगा।

प्रस्तुत अध्याय में उदाहरण देकर यह बताया गया है कि अज्ञान के कारण किस प्रकार मृग, पक्षी और हाथी पाश में बाँधे जाते हैं और मत्स्यों के कण्ठ बींधे जाते हैं। किस प्रकार अज्ञान के कारण पतंगा दीपक पर गिरकर जल मरता है। अज्ञान के कारण ही वृद्ध सिंह जल में अपनी परछायी को सिंह समझकर अपना प्राणान्त कर लेता है। इसी प्रकार अज्ञान से विमोहित होकर माता भद्रा अपने ही पुत्र सुप्रिय का भक्षण करती है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में अज्ञान के दुष्प्रभावों को दिखाकर ज्ञानमार्ग के अनुसरण की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि ज्ञान के सुयोग से ही औषधियों का विन्यास, संयोजन और मिश्रण तथा विद्याओं की साधना सफल होती है। इन कथनों से यह फलित होता है कि गाथापति पुत्र तरुण

---

१७८. समवायाङ्ग—समवाय ४४

१७९. ऋषिभाषित २१वाँ अध्ययन

ज्ञानमार्ग की परम्परा के कोई ऋषि रहे होगें। जैन और बौद्ध तथा वैदिक परम्परा में इनके सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलने से इनके विषय में अधिक कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। यद्यपि इसकी जल में अपनी परछाई को ही दूसरा सिंह समझकर, कुएं में कूदकर सिंह के प्राणान्त की कथा पञ्चतन्त्र में भी उपलब्ध है।[१८०] इससे पंचतन्त्र की कथा और ऋषिभाषित दोनों की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है।

२२. गर्दभाल (दगभाल)

ऋषिभाषित[१८१] का वाइसवां अध्याय गर्दभाल ऋषि से सम्वन्धित है। जहाँ तक गर्दभाल ऋषि के व्यक्तित्व का प्रश्न है, ऋषिभाषित के अतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र[१८२] (१८/१६, २२) में भी उनका उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें उन्हें संजय का गुरु या आचार्य तथा भगवान् और विद्याचरणपारगा कहा गया है। इससे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार ऋषिभाषित के संजय और गर्दभिल्ल दोनों के ऐतिहासिक व्यक्ति होने की पुष्टि उत्तराध्ययन सूत्र से हो जाती है। जैन परम्परा में इनके अतिरिक्त आचार्य कालक के समकालीन अवन्ति के राजा गर्दभिल्ल का भी उल्लेख मिलता है, जिन्होंने कालक की वहन साध्वी सरस्वती का अपहरण किया था। किन्तु, ये गर्दभिल्ल भिन्न व्यक्ति हैं। इस सम्वन्ध में सन्देह का कोई अवकाश नहीं है कि उत्तराध्ययन सूत्र और ऋषिभाषित के गद्दभाल/दगभाल एक ही व्यक्ति हैं।

जहाँ तक ऋषिभाषित में वर्णित इनके उपदेश का प्रश्न है उसमें प्रथम तो ये यह वताते हैं कि कर्म हिंसा से युक्त (परिशात) होते हैं, किन्तु बुद्ध हिंसा से रहित होते हैं और इसीलिये वे पुष्करणि में रहे कमल पत्र की तरह रज (कर्म रज) से लिप्त नहीं होते हैं। इसके पश्चात् समग्र अध्याय पुरुष की प्रधानता और नारी की निन्दा से भरा हुआ है। सर्वप्रथम पुरुष की प्रधानता के सम्वन्ध में कहा गया है कि सभी धर्म पुरुष से प्रारम्भ होते हैं और पुरुष प्रवर, पुरुष ज्येष्ठ, पुरुष आश्रित, पुरुष प्रकाशित, पुरुष समन्वित और पुरुष केन्द्रित होते हैं। जिस प्रकार व्रण शरीर आश्रित होते हैं, वाल्मीक पृथ्वी आश्रित होते हैं, कमल जल आश्रित होते हैं और अग्नि अरणी (वृक्ष विशेष की लकड़ी) के आश्रित होती है, इसी प्रकार धर्म पुरुष के आश्रित होते हैं। द्रष्टव्य यह है कि यहाँ ऋषिभाषित के संस्कृत टीकाकार एवं शुब्रिंग ने तथा प्रस्तुत अनुवादक ने धर्म का तात्पर्य ग्राम्यधर्म अर्थात् मैथुनाभिलाष वताया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यहाँ धर्म इस अर्थ में नहीं है, अपितु धर्म धार्मिक परम्पराओं या धार्मिक सम्प्रदायों के ही अर्थ में प्रयुक्त है। जैन धर्म में दस कल्पों में पुरुष ज्येष्ठ

---

१८०. पंचतन्त्र पृ. ६७–१०५ (चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९८५)

१८१. ऋषिभाषित २२वाँ अध्ययन

१८२. उत्तराध्ययन १८/१६,२२

कल्प है, जो यह मानता है कि धार्मिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में पुरुष ही प्रधान है और सौ वर्ष की दीक्षित आर्या के लिये भी सद्य दीक्षित पुरुष वंदनीय है। इस प्रकार इसमें पुरुष की ज्येष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। पुरुष के इस ज्येष्ठता की व्यवस्था बुद्ध ने भी अपनी संघ व्यवस्था में स्वीकार की थी, अतः धर्म शब्द का अर्थ धर्म संघ ही लेना चाहिए, न कि आचाराङ्ग आदि की शैली पर ग्राम्य-धर्म अर्थात् कामवासना को।

अध्याय की अग्रिम गाथाओं में जो नारी निन्दा की गयी है, उससे भी स्पष्ट होता है कि यहाँ धार्मिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में स्त्री की अपेक्षा पुरुष की प्रधानता स्थापित की गई है। नारी-निन्दा करते हुए इस अध्याय में कहा गया है कि वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य हैं, जहाँ महिला शासन करती हो। इसी प्रकार वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य हैं, जो नारी के वश में रहते हैं। नारी सिंह युक्त स्वर्णगुफा, विषयुक्त पुष्प माला और भंवरों से युक्त नदी के समान है। वह मदोन्मत्त वना देने वाली मदिरा है। जिस ग्राम और नगर में स्त्रियां वलवान हैं, वेलगाम घोड़े की तरह स्वच्छंद हैं, वे ग्राम और नगर अपर्व के दिनों में मुण्डन के समान हैं, अर्थात् निन्दनीय हैं। इससे यह स्पष्ट है कि गर्दभिल्ल ऋषि पुरुष की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के प्रतिपादक थे। यद्यपि प्रस्तुत अध्याय की एक गाथा ऐसी अवश्य है, जिसमें स्त्री की प्रशंसा मिलती है। इसमें कहा गया है कि स्त्री सुदिव्य कुल की प्रशस्ति, मधुर जल, विकसित रम्य कमलिनी और सर्पवेष्टित मालती लता के समान है। यद्यपि इस प्रशंसा के अन्त में भी सर्पवेष्टित मालती लता कह कर उसे वर्जनीय ही वताया गया है।

इस अध्याय के अन्त में वन्धन के कारणों के सम्यक् परिज्ञान की शिक्षा देते हुए अन्त में ध्यान मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। वे अन्त में कहते हैं कि जिस प्रकार शरीर में मस्तक और वृक्ष के लिये जड़ आधारभूत है उसी प्रकार समस्त मुनियों के लिये ध्यान आधारभूत है। उत्तराध्ययन में गर्दभिल्ल के सम्वन्ध में जो विशेषण प्रयुक्त हैं, वे भी उनके ध्यान मार्ग की परम्परा से सम्वन्धित होने के तथ्य की पुष्टि करते हैं। उनमें उन्हें तपोधन, स्वाध्याय और ध्यान से संयुक्त धर्मध्यान का ध्याता कहा गया है (१८/४)।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध परम्परा में हमें गर्दभिल्ल का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु वैदिक परम्परा में बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक के समकालीन गर्दभी विपीत या गर्दभी विभीत नामक एक आचार्य का उल्लेख मिलता है।[१८३] यद्यपि साक्ष्यों के अभाव में आज यह कह पाना कठिन है कि बृहदारण्यक उपनिषद् के गर्दभी विभीत और ऋषिभाषित के दगभाल-गद्दभाल एक ही व्यक्ति हैं।

---

१८३. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/१/५

महाभारत के अनुशासन पर्व[१८४] में विश्वामित्र के एक ब्रह्मवादी पुत्र के रूप में गर्दभी का उल्लेख मिलता है। उसमें उन्हें ब्रह्मवादी और महान् ऋषि कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये उस युग के एक प्रभावशाली ऋषि थे। यद्यपि उसमें इन्हें विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है, यह मुझे समुचित नहीं लगता है; क्योंकि न केवल इन्हें अपितु गार्गि, याज्ञवल्क्य, नारद, कपिल आदि को भी विश्वामित्र के पुत्र के रूप में उल्लिखित किया गया है, जो सत्य प्रतीत नहीं होता। एक संभावना अवश्य प्रकट की जा सकती है कि ये विश्वामित्र की शिष्य परम्परा में रहे हों। फिर भी इतना अवश्य कह सकते हैं कि गर्दभिल्ल या गार्दभि एक ऐतिहासिक ऋषि रहे होंगे और संभवतः ये औपनिषदिक काल के ही ऋषि होंगे।

२३. रामपुत्त

ऋषिभाषित[१८५] के २३ वें अध्याय में रामपुत्त के उपदेशों का संकलन है। सूत्रकृताङ्ग[१८६], स्थानाङ्ग[१८७] और अनुत्तरोपपातिक[१८८] में भी इनका उल्लेख मिलता है। सूत्रकृताङ्ग[१८९] में उनका उल्लेख असित देवल, नमि, नारायण, बाहुक, द्वैपायन, पाराशर आदि के साथ हुआ है और इन्हें निर्ग्रन्थ प्रवचन में मान्य (इह सम्मता) कहा गया है और बताया गया है कि इन्होंने आहार आदि सेवन करते हुए मुक्ति प्राप्त की। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृताङ्ग की कुछ मुद्रित प्रतियों एवं शीलाङ्क की टीका में रामगुत्त पाठ भी मिलता है, किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। सूत्रकृताङ्ग चूर्णी में जो 'रामाउत्ते' पाठ है वही शुद्ध है और उसका संस्कृत रूप 'रामपुत्र' बनता है। इस सम्बन्ध में पं. 'बेचरदास दोशी स्मृतिग्रन्थ' में मेरा और प्रो. एम. ए. ढाकी का एक लेख प्रकाशित है, जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि यह पाठ क्यों शुद्ध है। सूत्रकृताङ्ग के अतिरिक्त स्थानाङ्ग की सूचना के अनुसार अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषय वस्तु में एक रामपुत्त नामक अध्ययन था, जो वर्तमान अन्तकृत्दशा में अनुप-

---

१८४. महाभारत अनुशासन पर्व ४/१

१८५. ऋषिभाषित २३वाँ अध्ययन

१८६. सूत्रकृतांग. १/३/४/२,३

१८७. स्थानाङ्ग ७५५

१८८. अनुत्तरोपपातिक ३/६

१८९. सूत्रकृताङ्ग शीलाङ्क वृत्ति खण्ड 2. पृ. ७३ (म. जै. ज्ञानोदय सोसा. राजकोट)।
अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे रिसी।
असित्ते देविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य॥

लब्ध है। संभवतः इस अध्याय में रामपुत्त के जीवन एवं उपदेशों का संकलन रहा होगा। इसके अतिरिक्त अनुत्तरोपपातिक के तीसरे वर्ग का छठा अध्याय भी रामपुत्त से सम्बन्धित है। यहाँ इन्हें साकेत निवासी और महावीर का समकालीन कहा गया है। इन दो तथ्यों के अतिरिक्त उसमें उपलब्ध अन्य विवरणों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कहना कठिन है। सूत्रकृताङ्ग और ऋषिभाषित दोनों से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रामपुत्त मूलतः निर्ग्रन्थ परम्परा के नहीं थे, फिर भी उसमें उन्हें सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था।

बौद्ध परम्परा में भी हमें रामपुत्त का उल्लेख मिलता है। पालि त्रिपिटक[१६०] के उल्लेखों के अनुसार इनका पूरा नाम उद्दक रामपुत्त था। ये बुद्ध से आयु में बड़े थे। प्रारम्भ में बुद्ध ने इनसे ध्यान-साधना की शिक्षा ली थी, किन्तु जब बुद्ध ज्ञान प्राप्त कर, इन्हें पात्र जान कर उपदेश देने जाने को तत्पर हुए तो इन्हें ज्ञात हुआ कि इनकी मृत्यु हो चुकी है। इस प्रकार ये महावीर और बुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन थे। पाली त्रिपिटक से यह भी ज्ञात होता है कि इनकी योगसाधना की अपनी विशिष्ट पद्धति थी और पर्याप्त संख्या में इनकी शिष्य-सम्पदा भी थी। बुद्ध का इनके प्रति समादर भाव था।

प्रस्तुत अध्याय में रामपुत्त का उपदेश गद्य रूप में मिलता है। सर्वप्रथम इसमें दो प्रकार के मरणों का उल्लेख है—सुखपूर्वक मरण (समाधिपूर्वक मरण) और दुःखपूर्वक मरण (असमाधि पूर्वक मरण)। पुनः इसमें यह भी बताया गया है कि संसार के बन्धनों से मुक्ति के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पालन करना चाहिए। साधक ज्ञान के द्वारा जाने, दर्शन के द्वारा देखे, चारित्र के द्वारा संयम करे और तप के द्वारा अष्टविध कर्मरज का विधुनन करे।

प्रस्तुत अध्याय की विचारधारा का विकसित रूप हमें उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थ में भी मिलता है। उत्तराध्ययन के पाँचवें अध्याय में मरण के इन दो प्रकारों की विस्तृत चर्चा है, साथ ही उसके २८ वें अध्याय में ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन के द्वारा श्रद्धा करने, चारित्र के द्वारा परिग्रहण और तप द्वारा परिशोधन की बात कही गयी है। उत्तराध्ययन भी तप के द्वारा अष्टविध कर्मों के निर्जरा की बात कहता है, फिर भी ऋषिभाषित का यह पाठ उत्तराध्ययन की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। चूंकि इसकी भाषा उत्तराध्ययन की अपेक्षा प्राचीन शैली की है। दूसरे इसमें 'दसणेण सद्दहे' के स्थान पर 'दसणेण पासित्ता' पाठ मिलता है, जो अधिक प्राचीन है, क्योंकि जैन परम्परा में दर्शन शब्द का श्रद्धापरक अर्थ एक परवर्ती

---

१६०. (अ) जातक खण्ड १. पृ. ६६,८१ (Edited by Fansboll)
(ब) पालि त्रिपिटक के अन्य सन्दर्भों के लिये देखिये–Dictionary of pali proper Names by J. P. Malal Sekhar, 1937, Vol. I. P. 382–83

घटना है। आचाराङ्ग में दर्शन देखने के अर्थ में आता है जबकि सर्वप्रथम उत्तराध्ययन में दर्शन का अर्थ श्रद्धा किया गया है। पुनः इससे ऐसा लगता है कि वर्तमान में जैन परम्परा में आज कर्म की जो अवधारणा है, उसका मूल भी रामपुत्त के दर्शन में रहा होगा। इन आधारों से यह निश्चित होता है कि रामपुत्त महावीर एवं बुद्ध से ज्येष्ठ श्रमण परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य थे, साथ ही ऋषिभाषित, सूत्रकृताङ्ग और पालित्रिपिटक के रामपुत्त एक ही व्यक्ति हैं। इन्हें उद्दक-रामपुत्त भी कहा गया है।

२४. हरिगिरि

ऋषिभाषित[१६१] के चौबीसवें अध्ययन में हरिगिरि के उपदेशों का संकलन है। इन्हें अर्हत् ऋषि कहा गया है। हरिगिरि के सम्बन्ध में हमें ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से कोई सूचना उपलब्ध नहीं होती। अतः इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अधिक कह पाना कठिन है। जहाँ तक इनके उपदेशों का प्रश्न है सर्वप्रथम ये कहते हैं कि पहले सब कुछ भव्य अर्थात् नियत था, किन्तु अब वह अभव्य अर्थात् अनियत है। इनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब तक व्यक्ति अज्ञान में है तब उसका वर्तमान उसके पूर्वकृत बन्धनों के या कर्मों के अनुरूप अर्थात् नियत ही होता है, किन्तु ज्ञान के होने पर वह अपने भविष्य का निर्माता बनता है, इसलिए उसका भविष्य उसके पुरुषार्थ पर निर्भर रहता है, अर्थात् अनियत होता है। दूसरे शब्दों में अतीत हमारा निर्माता है, किन्तु हम स्वयं अपने भविष्य के निर्माता भी हैं। अतः अतीत भव्य 'नियत' है और भविष्य अभव्य अनियत है। वस्तुत यहाँ उनका प्रतिपाद्य यही है कि व्यक्ति का वर्तमान उसके भूत के आधार पर निर्मित होता है वह नियत होता है, किन्तु व्यक्ति अपने पुरुषार्थ और ज्ञान के द्वारा अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है। अतः प्रबुद्ध साधक का भावी अनियत अर्थात् अभव्य होता है। वस्तुतः यह नियतता और अनियतता का प्रश्न कर्मसिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार हमारा वर्तमान हमारे भूतकालिक कर्मों का परिणाम होता है, किन्तु हम अपने भविष्य के निर्माता बन सकते हैं। यही भवितव्यता और अभवितव्यता की स्थिति है, जिसका प्रस्तुत अध्याय में प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय में कर्म-सिद्धान्त की महत्ता और उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है जो कि अन्य अध्यायों के समान ही है। कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् मुख्य रूप से कर्म के बन्धन के रूप में मोह या अज्ञान की चर्चा की गयी है और यह बताया गया है कि व्यक्ति मोह दशा के कारण किस प्रकार कर्म का बन्धन करता है। इसी सन्दर्भ में यह भी बताया गया है कि व्यक्ति स्वयं ही बन्धन में आता है और स्वयं ही मुक्त हो सकता है। अतः साधक को कर्म-परम्परा के वैचित्र्य को सम्यक् प्रकार से जानकर

---

१६१. ऋषिभाषित २४ वाँ अध्ययन

कर्म-सन्तति से मुक्त होने के लिए समाधि को प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते है कि ऋषिभाषित में प्रतिपादित हरिगिरि के विचारों में मनुष्य के सन्दर्भ में नियति (भवितव्यता) और पुरुषार्थ के सम्यक् संयोजन के साथ कर्म-सिद्धान्त और कर्म-बन्धन के रूप में मोह के परिणामों की विस्तृत चर्चा की गयी है, किन्तु ये सभी तथ्य समान रूप से अन्य ऋषियों के कथनों में भी मिलते हैं। अतः यह बता पाना कि हरिगिरि का कोई विशिष्ट दर्शन था, कठिन है; मात्र हम यही कह सकते हैं कि उन्होंने नियतिवाद और पुरुषार्थवाद के समन्वयक के रूप में कर्म-सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था।

बौद्ध परम्परा में हारित थेर का उल्लेख उपलब्ध है[१६२] किन्तु यह कह पाना कठिन है कि ये हारित थेर और ऋषिभाषित के हरिगिरि एक ही व्यक्ति होंगे। यद्यपि बौद्ध परम्परा में इनका अर्हत् तथा विशिष्ट तपस्वी के रूप में स्मरण किया गया है, किन्तु उपलब्ध विवरणों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से इनके बारे में कुछ कह पाना कठिन है। बौद्ध परम्परा के अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् में भी आचार्यों की जो वंश-सूची दी गयी है उसमें कश्यप के शिष्य हरित कश्यप का उल्लेख है।[१६३] मेरी दृष्टि से यह संभव है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित हरित ऋषि ही ऋषिभाषित के हरिगिरि हों। यद्यपि स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इसे भी निश्चयात्मक रूप से स्वीकार कर पाना कठिन है।

२५. अम्बड परिव्राजक

ऋषिभाषित का २५वां[१६४] अध्याय अम्बड परिव्राजक का है। जैन आगम साहित्य में इनका उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त समवायाङ्ग,[१६५] भगवती,[१६६] औपपातिक[१६७] एवं स्थानाङ्ग[१६८] में भी मिलता है। समवायाङ्ग में इन्हें आगामी उत्सर्पिणी कालचक्र में होने वाला तीर्थङ्कर कहा गया है। भगवतीसूत्र के अनुसार ये श्रावस्ती के निवासी एक परिव्राजक थे। महावीर से चर्चा के उपरान्त अम्बड संन्यासी द्वारा श्रावक धर्म ग्रहण करने सम्बन्धी उल्लेख भगवती और औपपातिक सूत्र में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि महावीर के धर्म के प्रति निष्ठावान

---

१६२. देखें—डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स भाग २. पृ. १३२३–१३२४
१६३. बृहदारण्यकोपनिद् ६१/४१/३३
१६४. ऋषिभाषित, २५वां अध्ययन
१६५. समवायांग, सूत्र १५६
१६६. भगवती सूत्र ५२६–५३०
१६७. औपपातिक सूत्र ३८–४०
१६८ स्थानांग सूत्र ६९२

होकर भी इन्होंने अपनी स्वतंत्र परम्परा को बनाये रखा था। औपपातिक से यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण परिव्राजकों की एक शाखा उनके नाम पर प्रसिद्ध थी जो संभवत: औपपातिक के वर्तमान स्वरूप निर्धारण काल अर्थात् ईसा की चौथी-पांचवीं शती तक चलती रही होगी। इसी प्रकार स्थानाङ्ग के अनुसार अन्तकृत्दशा का दसवां अध्याय अम्बड परिव्राजक से सम्बन्धित था, यद्यपि वर्तमान अन्तकृत्दशा में यह अध्याय (दशा) अनुपलब्ध है। औपपातिक में इस सम्बन्ध में भी विस्तार से चर्चा की गई है कि अम्बड आदि इन ब्राह्मण परिव्राजकों की कल्प्य-अकल्प्य अर्थात् आचार व्यवहार की क्या व्यवस्था थी। यद्यपि विस्तार भय से इसकी समग्र चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। औपपातिक में इस सम्बन्ध में विस्तार से विवरण उपलब्ध है कि अम्बड परिव्राजक और उनके शिष्यों ने किस प्रकार बिना दिये जल ग्रहण नहीं करने के अपने नियम के पालनार्थ पुरिमताल नगर की ओर जाते हुए मार्ग के एक वन खंड में गंगा नदी के किनारे ग्रीष्म ऋतु में बालू की शय्या पर सल्लेखना ग्रहण कर अपने प्राण त्याग दिये। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह विवेचन महत्वपूर्ण है और अम्बड परिव्राजक की आचार-परम्परा की एक विस्तृत झांकी प्रस्तुत करता है। जैन आगम साहित्य में सर्वत्र ही अम्बड परिव्राजक का आदर के साथ उल्लेख हुआ है।

बौद्ध परम्परा[१९९] में अम्बट्ठ माणवक का उल्लेख मिलता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार अम्बट्ठ पोष्कर साती ब्राह्मण के शिष्य थे तथा इनका भगवान् बुद्ध से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को लेकर विवाद हुआ था। जहाँ एक ओर अम्बट्ठ शाक्यों को निम्न जाति का बताते थे, वहीं दूसरी ओर अन्य लोग अम्बट्ठ को दासी पुत्र कह कर अपमानित करते थे।

इस समग्र चर्चा के उपसंहार के रूप में बुद्ध जातिवाद या वर्ण व्यवस्था में आचरण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रसंग में मुख्य रूप से यह द्रष्टव्य है कि अम्बट्ठ को कृष्ण ऋषि की वंश परम्परा का अर्थात् कार्ष्णायन कहा गया है। ज्ञातव्य है कि औपपातिक में ब्राह्मण परव्राजकों की एक परम्परा का नाम 'कण्ह' है। हो सकता है कि अम्बट्ठ सुत्त में उल्लिखित कृष्ण ऋषि ऋषिभाषित के वारिसव कण्ह हों।

जहाँ तक वैदिक परम्परा[२००] का प्रश्न है, हमें अम्बष्ठ का उल्लेख एक जाति के रूप में ही मिलता है, जो कि ब्राह्मण पिता और वैश्य स्त्री द्वारा उत्पन्न हुई थी। बौद्ध परम्परा में इस जाति को क्षत्रिय पिता और दास संभवत: शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान कहा गया है। जहाँ तक अम्बड़ या अम्बष्ठ के एक ऋषि के रूप में

---

१९९. दीघनिकाय खण्ड १. पृष्ठ ८७ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

२००. ऐतरेय ब्राह्मण ८,२१

उल्लिखित होने का प्रश्न है, बौद्ध और वैदिक परम्परा हमें कोई सूचना प्रदान नहीं करती।

ऋषिभाषित के अम्बड नामक अध्याय में योगन्धरायण ऋषि का भी उल्लेख आता है। इनके सम्बन्ध में जैन परम्परा में ऋषिभाषित के अतिरिक्त आवश्यक-चूर्णी[२०१] में भी विवरण प्राप्त होता है। आवश्यकचूर्णी में इन्हें उदायन राजा का अमात्य कहा गया है। अतः अम्बड और योगन्धरायण निश्चित रूप से महावीर के समकालीन थे।

२६. मातङ्ग

ऋषिभाषित[२०२] के छब्बीसवें अध्याय में मातङ्ग नामक अर्हत् ऋषि के उपदेशों का संकलन है। जैन परम्परा में ऋषिभाषित के अतिरिक्त मातङ्ग का उल्लेख अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि आवश्यक में मातङ्ग यक्ष का उल्लेख है, किन्तु उनका ऋषिभाषित के मातङ्ग से सम्बन्ध स्थापित कर पाना कठिन है। ऋषिभाषित के मातङ्ग नामक अध्याय में सर्वप्रथम सच्चे ब्राह्मण के लक्षण बताये गये हैं, ये लक्षण उत्तराध्ययन[२०३] के पच्चीसवें अध्याय से दिये गये सच्चे ब्राह्मण के लक्षणों से समानता रखते हैं। इसी प्रकार धम्मपद[२०४] के ब्राह्मण वर्ग में प्रतिपादित ब्राह्मणों के लक्षणों से भी इनकी समानता है। यद्यपि यहाँ केवल छह गाथाओं में इन लक्षणों का उल्लेख है जब कि उत्तराध्ययन और धम्मपद में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से इनका उल्लेख पाया जाता है। फिर भी शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त विषय वस्तु की दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त इसी अध्याय में आध्यात्मिक कृषि का विवेचन है। यह विवेचन ऋषिभाषित के ३२वें पिंगीय नामक अध्याय में तथा बौद्ध ग्रंथ सुत्तनिपात[२०५] के कसी-भारद्वाज सुत्त में भी मिलता है। इस अध्याय के अन्त में यह कहा गया है कि जो इस प्रकार की सर्व प्राणियों की दया से युक्त कृषि करता है, वह चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र हो—वह विशुद्धि को प्राप्त करता है। ज्ञातव्य है कि ऋषिभाषित के ३२वें पिंगीय नामक अध्याय की गाथा क्रमांक ४ भी शब्दशः यही है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा में भी मातङ्ग का उल्लेख मिलता है। बौद्ध परम्परा में मातङ्ग को प्रत्येकबुद्ध कहा गया है और इन्हें राजगृह का

---

२०१. (अ) आवश्यक चूर्णि–भाग १. पृ. १३
(ब) देखें—Prakrit Proper Names Vol. I P. 56

२०२. ऋषिभाषित २६ वाँ अध्ययन

२०३. उत्तराध्ययन सूत्र २५/१९–२९

२०४. धम्मपद ब्राह्मण वर्ग ४०५–४१०

२०५. सुत्तनिपात उरगवग्ग कसिभारद्वाज सुत्त

निवासी बताया गया है। मातङ्ग जातक[२०६] के अनुसार इनका जन्म चाण्डाल कुल में हुआ था और इन्होंने ब्राह्मणों के जाति अहंकार को नष्ट किया था। ऋषि-भाषित में इनके उपदेशों में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का प्रतिपादन भी यही सूचित करता है कि ये जन्मना आधार पर ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता को अस्वीकार करते थे।

मातङ्ग शब्द चाण्डाल जाति का सूचक है। द्रष्टव्य है कि बौद्ध परम्परा के मातङ्ग जातक की कथा उत्तराध्ययन[२०७] के हरकेशी नामक १२वें अध्याय से समरूपता रखती है।

ब्राह्मण परम्परा में महाभारत[२०८] में भी हमें मातंग ऋषि का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत में उपलब्ध मातङ्ग मुनि के उपदेशों का सारतत्त्व यही है कि वीर पुरुष को सदैव ही प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसे किसी के सामने नतमस्तक नहीं होना चाहिए, क्योंकि उद्योग करना ही पुरुष का कर्त्तव्य है। वीर पुरुष चाहे असमय में नष्ट भले ही हो जायें, परन्तु कभी भी अपना सिर नहीं झुकाते। जब हम मातङ्ग के इस उपदेश की तुलना ऋषिभाषित के उपदेश से करते हैं तो दोनों में एक समानता तो स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है और यह कि दोनों में व्यक्ति को अपने कुलधर्म के अनुसार आचरण करने का निर्देश है। ऋषिभाषित में मातङ्ग ब्राह्मणों के शस्त्रजीवी होने एवं राजा तथा वणिकों के यज्ञ-याग में प्रवर्त होने पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह तो ऐसा ही है मानो अन्धे से जुड़े हुए हैं। इस अध्याय में मुख्य रूप से यह बताया गया है कि ब्राह्मण न तो धनुष और रथ से युक्त होता है और न शस्त्रधारी ही। सच्चे ब्राह्मण को न तो झूठ बोलना चाहिए और न ही चोरी करनी चाहिए।

इस समग्र चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मातङ्ग महावीर और बुद्ध के पूर्व अध्यात्ममार्ग के प्रणेता चाण्डाल कुलोत्पन्न एक प्रमुख ऋषि थे, जिनके उपदेश जैन, बौद्ध, और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में आदर के साथ स्वीकार किये जाते थे।

२७. वारत्तक

ऋषिभाषित[२०९] के २७ वें अध्याय में वारत्तक नामक अर्हत् ऋषि के उपदेशों का संकलन उपलब्ध होता है। जैन परम्परा में ऋषिभाषित के अतिरिक्त

---

२०६. (अ) जातक खण्ड ४ ३७५-९० (Ed. Fausball)
(ब) देखें—Dictionary of Pali Proper Names Vol. II. P. 599

२०७. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १२

२०८. महाभारत उद्योग पर्व १२६/१९-२१

२०९. ऋषिभाषित २७ वाँ अध्ययन

आवश्यक चूर्णी[२१०], निशीथ भाष्य[२११], वृहत्कल्पभाष्य[२१२], आवश्यक हरिभद्रीय टीका[२१३] आदि में भी इनका उल्लेख मिलता है। उपलब्ध अन्तकृत्दशा के छठें वर्ग का नवां अध्ययन भी वारत्तक से सम्बन्धित है। इसमें इन्हें राजगृह का एक व्यापारी बताया गया है, जिन्होंने भगवान महावीर के समीप दीक्षा ग्रहण करके विपुल पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था। इसके विपरीत आवश्यक चूर्णी, निशीथ भाष्य, वृहत्कल्प भाष्य आदि में वारत्तक को वारत्तपुर नगर के अभयसेन नामक राजा का मंत्री बताया गया है। आवश्यक चूर्णी के अनुसार ये धर्मघोष नामक आचार्य के पास दीक्षित हुए थे। आवश्यक चूर्णी के अतिरिक्त वारत्तक की कथा हमें ऋषिमण्डलवृत्ति में भी मिलती है। कथा के अनुसार मुनि जीवन में ही इन्होंने कोई भविष्य वाणी की थी, जिसके परिणाम स्वरूप सुंसुमार नगर के राजा धुन्धुमार ने चण्डप्रद्योत पर विजय प्राप्त की। किसी समय चण्डप्रद्योत ने धुन्धुमार राजा के विजय के कारण को जानकर वारत्तक को नैमित्तिक मुनि के नाम से सम्बोधित किया। अपनी भाषा समिति सम्बन्धी भूल का ज्ञान होने पर वारत्तक मुनि ने पश्चात्ताप किया और मोक्ष को प्राप्त हुए। इस कथा में कितनी सत्यता है यह कहना कठिन है, किन्तु वारत्तक के सम्बन्ध में उपलब्ध यह उल्लेख इतना तो अवश्य सूचित करता है कि ये एक प्रभावशाली ऋषि रहे होंगें।

प्रस्तुत अध्याय में वारत्तक ऋषि के उपदेशों के रूप में एक आदर्श श्रमण को कैसा होना चाहिए, इस तथ्य का चित्रण उपलब्ध होता है। इनके अनुसार मुनि सांसारिक या गृहस्थों के सम्पर्क से विरत रहे, साथ ही स्नेह बन्धन को छोड़कर स्वाध्याय में तल्लीन रहकर, चित्त के विकार से दूर रह कर निर्वाण मार्ग में लगा रहे। जो मुनि गृहस्थों का कौतूहल, लक्षण, स्वप्न आदि से मनोरंजन करता है तथा दान आदि का प्रयोग करता है, भक्तों के चूडोपनयनादि वैवाहिक प्रसंगों में सम्मिलित होता है, राजाओं के साथ युद्ध में भाग लेता है, स्वयं की पूजा-मान्यता तथा लौकिक सुखों के लिये उक्त कार्य करता है, तो उपरोक्त सभी कार्य मुनि के जीवन के विपरीत हैं। अतः श्रमण धर्मजीवी अकिंचन बनकर प्रिय और अप्रिय को सहन करे और आत्म लक्ष्य का त्याग न करे। इस प्रकार वह जितेन्द्रिय, वीतराग तथा त्यागी बनता है तथा पुनः संसार में नहीं आता है। वारत्तक के उपर्युक्त उपदेश कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ हमें उत्तराध्ययन के सभिक्षु और पाप-श्रमण नामक अध्यायों में भी मिलते हैं। यद्यपि वहां इनके प्रवक्ता का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है।

---

२१०. आवश्यक चूर्णि भाग २. पृ. १९९
२११. निशीथ भाष्य गाथा ५८६०
२१२. वृहत्कल्पभाष्य गाथा ४०९६
२१३. आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति पृ. ७११-७१२

बौद्ध परम्परा में वारण थेर का उल्लेख है[२१४] जो जंगल में निवास करने वाले किसी भिक्षु का उपदेश सुनकर प्रव्रजित हुए थे। यद्यपि वारत्तक से इनका कोई सम्बन्ध जोड़ पाना कठिन है। वैदिक परम्परा में वारत्तक का कोई उल्लेख हमें दृष्टिगत नहीं होता है। अतः अन्य स्रोतों के आधार पर इनके सम्बन्ध में कुछ बता पाना कठिन है।

२८. आर्द्रक

ऋषिभाषित[२१५] का २८वाँ अध्याय आर्द्रक से सम्बन्धित है। आर्द्रक के प्राकृतरूप अद्दअ, अद्दग आदि मिलते हैं। यद्यपि हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋषिभाषित में आर्द्रक और उद्दालक–ऐसे दो ऋषियों का वर्णन है। उद्दालक को प्राकृत में 'अद्दालअ' कहा गया है। अतः दोनों के संस्कृत रूपों की भिन्नता को ध्यान में रखना चाहिये। ऋषिभाषित के अतिरिक्त आर्द्रक का उल्लेख हमें सूत्रकृतांग[२१६], सूत्रकृतांग निर्युक्ति[२१७], सूत्रकृतांग चूर्णि[२१८] में भी मिलता है। आवश्यक[२१९] में भी इनका उल्लेख आर्द्रक कुमार के रूप में हुआ है। सूत्रकृतांग के अनुसार जब ये दीक्षित होने को जाते हैं तो इन्हें आजीवक, बौद्ध एव हस्तितापस आदि अन्य श्रमण परम्पराओं के व्यक्ति मिलते हैं तथा अपनी परम्परा की विशेषता उनके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। सूत्रकृतांग चूर्णि में इनके पूर्व-जीवन एवं वर्तमान-जीवन की कथा भी दी गई है। कथा के अनुसार ये आर्द्रकपुर के राजा के पुत्र थे। इन्हें अभय कुमार के द्वारा उपहार के रूप में ऋषभ की प्रतिमा भेजी गई थी, जिसे देखकर उन्हें वैराग्य जागृत हो गया। वसन्तपुर नगर में इन्हें खेल-खेल में एक लड़की अपना पति मान लेती है। अन्त में इन्हें कुछ समय पश्चात् उससे अपना विवाह करना पड़ता है। किन्तु, पुनः वैराग्य को प्राप्त कर दीक्षित होने के लिए प्रस्थान करते हैं। मार्ग में इन्हें पूर्व वर्णित श्रमण-परम्परा एवं तापस परम्परा के व्यक्ति मिलते हैं। उपर्युक्त कथा में कितनी यथार्थता है, यह कहना तो कठिन है किन्तु इतना निश्चित है कि आर्द्रक बुद्ध और महावीर के समकालीन कोई ऐतिहासिक ऋषि थे। सूत्रकृतांग में विभिन्न परम्परा के श्रमणों एवं तापसों से हुई इनकी चर्चा से

---

२१४. देखें—Dictionary of Pali Proper Names, Vol. II. P. 854

२१५. ऋषिभाषित २८ वाँ अध्ययन

२१६. सूत्रकृतांग २/६

२१७. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा १८७–२००

२१८. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. ४१३–१७

२१९. (अ) आवश्यक सूत्र पृ. २७
(ब) Prakrit Proper Names, Vol. I. P. 44

इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से प्रभावित या सम्बन्धित रहे होंगे।

जहाँ तक ऋषिभाषित में इनके उपदेशों का प्रश्न है ये सांसारिक कामभोगों से दूर रहने का उपदेश देते हैं, क्योंकि इनके अनुसार कामवासनायें ही रोग हैं और दुर्गति का कारण हैं। कामवासना ग्रस्त जीव ही दुःख के भागी होते हैं। काम शल्य है, काम विष है। जब तक प्राणी इस काम रूपी शल्य या विष का नाश नहीं कर देता, वह भव-भ्रमण की परम्परा से मुक्त नहीं हो पाता। मेधावी एवं पण्डित को प्रतिसमय एवं प्रतिक्षण अपनी मलिनता को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब एक क्षणमात्र के लिए भी की गई शुभ क्रिया विपुल फल प्रदान करती है तो मोक्ष के लिए किया गया पुरुषार्थ फिर असीम फल प्रदान क्यों नहीं करेगा? प्रस्तुत उपदेश में हमें कोई विशिष्ट नवीन बात नहीं मिलती है। इस अध्याय की अनेक गाथायें कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ उत्तराध्ययन और दशवैकालिक में पाई जाती हैं। आर्द्रक का सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध उल्लेख यह सिद्ध करता है कि ये एक ऐतिहासिक व्यक्ति रहे होंगे।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में आर्द्रक का उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता है। अतः तुलनात्मक दृष्टि से इनका और इनके उपदेशों का अध्ययन कर पाना कठिन है। अन्य परम्पराओं में इनके उल्लेख का अभाव यह भी सूचित करता है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से ही सम्बन्धित रहे होंगे।

२९. वर्द्धमान

ऋषिभाषित[२२०] के २९वें अध्याय में वर्द्धमान नामक अर्हत् ऋषि के उपदेश संकलित हैं। जैनों की परम्परागत मान्यता के अनुसार इन्हें तीर्थङ्कर पार्श्व के तीर्थ का अर्हत् ऋषि या प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। किन्तु, मेरी दृष्टि में ये वर्द्धमान अन्य कोई नहीं, अपितु स्वयं भगवान महावीर ही हैं। जैन परम्परा में महावीर का पारिवारिक नाम वर्द्धमान ही है। कल्पसूत्र एवं चतुर्विंशति स्तव में भी महावीर का इसी नाम से उल्लेख हुआ है। जहाँ तक वर्द्धमान के जीवन-वृत्त का सम्बन्ध है आचारांग,[२२१] सूत्रकृतांग,[२२२] भगवती,[२२३] कल्पसूत्र[२२४] आदि अनेक प्राचीन जैनागमों में हमें उनके व्यक्तित्व एवं दर्शन का विस्तृत विवरण उपलब्ध हो

---

२२०. ऋषिभाषित, २९वाँ अध्ययन
२२१. आचारांग २/१३६
२२२. सूत्रकृतांग १/६ (वीरत्थुइ)
२२३. देखें, भगवती सूत्र-शतक ९ एवं १५
२२४. कल्पसूत्र ४-१४५

जाता है। मेरी दृष्टि से इस सम्बन्ध में सन्देह का कोई अवकाश तो नहीं है कि ऋषिभाषित के वर्द्धमान, चौबीसवें तीर्थङ्कर के रूप में मान्य भगवान महावीर ही हैं। इस तथ्य का एक अन्य प्रमाण यह है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भावना' नामक अध्याय में उल्लेखित एवं उत्तराध्ययन[२२५] के ३२वें अध्याय में उल्लिखित महावीर के उपदेशों से ऋषिभाषित के इनके उपदेशों की पूर्ण समानता है।

प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में वे कहते हैं—चारों ओर से स्रोत (आस्रव) हैं, इन स्रोतों का निवारण क्यों नहीं करते। स्रोतों का निरोध कैसे होता है ? पाँच इन्द्रियों के जागृत होने पर आत्मा सुप्त हो जाती है और पाँच के सुप्त होने पर आत्मा जागृत होती है। पांच से रज (कर्मरज) का आदान होता है और पाँच से ही रज (कर्मरज) का आदान रुक जाता है। श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों के शब्दादि विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ होते हैं, अतः न तो मनोज्ञ के प्रति राग-भाव होना चाहिए और न अमनोज्ञ के प्रति द्वेषभाव होना चाहिए। जो मनोज्ञ के प्रति आसक्त नहीं होता और अमनोज्ञ के प्रति द्वेषित नहीं होता, जो असुप्त (जागृत) और अविरोधी होता है उसके स्रोत (आस्रव) निरुद्ध हो जाते हैं। जो मन और कषायों को जीतकर सम्यक् तप करता है वह शुद्धात्मा अग्नि में दी गई हविष् के समान प्रदीप्त होती है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय पाँच इन्द्रियों और मन के संयम पर बल देता है।

प्रस्तुत अध्याय की यह विषय वस्तु कुछ शाब्दिक रूपान्तरण के साथ आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्याय में तथा उत्तराध्ययन के प्रमाद-स्थान नामक ३२वें अध्ययन में मिलती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह वस्तुतः वर्द्धमान महावीर का मूल उपदेश रहा होगा। इसका 'देवा वि तं नमंसंति' दशवैकालिक[२२६] की प्रथम गाथा में भी मिलता है।

यह उनका मूल उपदेश था, इसकी भाषा तद्रूप थी। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि पालि त्रिपिटक[२२७] में 'निगंठनातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र अर्थात् वर्द्धमान) के उपदेश में 'सव्व वारि वारितो' वाक्यांश पाया जाता है। इस अध्याय में भी 'सव्व वारीहिं वारिए' वाक्यांश है। स्मरणीय है पं. राहुल सांकृत्यायन ने इस 'वारि' का अर्थ जल या पानी किया है, वह उचित नहीं है। यहाँ 'वारि' का अर्थ वारण करने योग्य अर्थात् पाप कर्म है। महावीर के उपदेश के सम्बन्ध में सूत्रकृतांग में भी 'से वारिया इत्थी सरायभत्तं' का उल्लेख है।[२२८]

---

२२५. उत्तराध्ययन ३२/२१–१००

२२६. दशवैकालिक १/१

२२७. देखें–दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त तथा मज्झिमनिकाय उपालिसुत्त

२२८. सूत्रकृतांग १/६/२८

जैन साहित्य के अतिरिक्त वर्द्धमान महावीर का उल्लेख हमें पालि बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। इसमें इनका उल्लेख 'निग्गंठ नातपुत्त' के रूप में हुआ है। उन्हें बुद्ध का ज्येष्ठ समकालीन माना गया है। यद्यपि प्रचलित बुद्ध निर्वाण संवत् और वीर निर्वाण संवत् के आधार पर वर्द्धमान महावीर से बुद्ध लगभग ३० वर्ष छोटे सिद्ध होते हैं। उनको बुद्ध के समकालीन छह तीर्थङ्करों में माना गया है। पालि साहित्य में उनके सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं उस पर पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने पर्याप्त रूप से विवेचन किया है, अतः मैं उस पर विशेष चर्चा करना नहीं चाहता। मैं केवल थेर गाथा अट्ठकथा[२२९] का एक सन्दर्भ अवश्य प्रस्तुत करना चाहूँगा जो विद्वानों के लिए उपेक्षित रहा है। थेर गाथा की अट्ठकथा में वद्धमाण थेर को वैशाली का लिच्छवी वंशीय राजकुमार कहा गया है। यह एक ऐसा तथ्य है जो उनकी संगति वर्द्धमान महावीर के साथ बैठाता है। मैं तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि थेरगाथा के सभी थेर बौद्ध परम्परा के नहीं हैं, उसमें बुद्ध के पूर्ववर्ती अनेक लब्ध-प्रतिष्ठित श्रमणों के उद्‌गार सम्मिलित हैं। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण अट्ठकथाओं में उन्हें बौद्ध परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार जैन परम्परा में ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में अन्य श्रमण परम्परा के ऋषियों के विचार संकलित हैं। उसी प्रकार थेर गाथा में भी अन्य श्रमण-परम्परा के ऋषियों के उपदेश संकलित हैं। इसी आधार पर मेरी यह मान्यता है कि ऋषिभाषित के वद्धमाण और थेर गाथा के वद्धमाण एक ही व्यक्ति हैं। साथ ही पालि त्रिपिटक के निग्गंठ नातपुत्त और जैन परम्परा के वर्द्धमान महावीर भी ऋषिभाषित और थेर गाथा के वर्द्धमान ही हैं। इस आधार पर वर्द्धमान की ऐतिहासिकता भी सुस्पष्ट है। थेरगाथा में भी वर्द्धमान थेर ने राग के प्रहीण की वही बात कही है, जो आचारांग और उत्तराध्ययन में भी कही गई है।

३०. वायु

ऋषिभाषित का तीसवाँ अध्याय वायु नामक ऋषि से सम्बन्धित है।[२३०] ऋषिभाषित के अतिरिक्त वायु नामक ऋषि का उल्लेख जैनागम साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यद्यपि भगवान् महावीर के ११ गणधरों में तीसरे गणधर का नाम वायुभूति है,[२३१] किन्तु वायुभूति और वायु ऋषि एक ही व्यक्ति हैं, यह कह

---

२२९. (क) थेरगाथा अट्ठकथा–प्रथम भाग पृष्ठ १५३
(ख) देखें–Dictionary of Pali Proper Names, Vol. II. P. 820

२३०. ऋषिभाषित अध्याय ३०

२३१. (क) [illegible] सूत्र १२८,१३२
(ख) विशेषावश्यक भाष्य २४३५

पाना कठिन है, क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई अन्तर या बाह्य साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। बौद्ध परम्परा में वायु का उल्लेख मात्र एक देवता के रूप में हुआ है। वैदिक स्रोतों में भी मुख्यत: वायु को एक देव के रूप में ही स्वीकार किया गया है। मात्र महाभारत के शान्ति पर्व में वायु नामक एक प्राचीन ऋषि का उल्लेख है, जो शर-शय्या पर पड़े हुए भीष्मजी को देखने आये थे। इसी प्रकार महाभारत के शल्य पर्व में वायु चक्र, वायु ज्वाल, वायु बल, वायु मण्डल, वायु रेता एवं वायु वेग नामक ऋषियों के उल्लेख हैं; किन्तु प्रथम तो ये पौराणिक ही हो जाते हैं, ऐतिहासिक नहीं। दूसरे इनकी वायु ऋषि से कोई संगति भी नहीं प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त महाभारत में ही वायु भक्ष नामक एक अन्य ऋषि का भी उल्लेख है, जो युधिष्ठिर की सभा में उपस्थित थे तथा जिनकी मार्ग में कृष्ण से भेंट हुई थी[२३२]। वैसे वायु भक्षी तापसों का उल्लेख औपपातिक में भी है। जहाँ तक ऋषिभाषित में वायु ऋषि के उपदेशों का प्रश्न है, वे मुख्य रूप से कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि जैसा बीज होता है वैसा फल होता है, अच्छे कर्मो का फल अच्छा और बुरे कर्मो का फल बुरा होता है। कोई भी कर्म निष्फल नहीं जाता है। कर्म का फल मरणोत्तर काल में कैसे मिलता है, इसे पुष्ट करते हुए कहा गया है कि पानी तो जड़ों को दिया जाता है, किन्तु फल शाखाओं पर लगते हैं। जिस प्रकार फल जहाँ सिञ्चन किया गया है, वहाँ न होकर अन्य क्षेत्र और काल में होता है, उसी प्रकार कृत-कर्मो का फल भी अन्य क्षेत्र और काल में होता है। कर्म सिद्धान्त के इस सामान्य प्रतिपादन के अतिरिक्त इस अध्याय में कोई नवीन तथ्य नहीं मिलता है।

३१. पार्श्व

ऋषिभाषित के इकतीसवें अध्याय में अर्हत् पार्श्व के दार्शनिक विचारों का संकलन है।[२३३] यद्यपि जैनों की परम्परागत मान्यता तो यह है कि ये अर्हत् पार्श्व तेइसवें तीर्थंकर पार्श्व के काल में हुए एक प्रत्येकबुद्ध हैं और तीर्थंकर पार्श्व से भिन्न हैं। किन्तु, सभी विद्वान् इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि ये स्वयं तीर्थंकर पार्श्व ही हैं। इनके उपदेशों में चातुर्याम का प्रतिपादन इस मान्यता का पुष्ट प्रमाण है।[२३४] यद्यपि पार्श्व के सम्बन्ध में बौद्ध और वैदिक स्रोतों से स्पष्टत: कोई जानकारी नहीं मिलती है, किन्तु बौद्ध परम्परा में निर्ग्रन्थ ज्ञात-पुत्र के नाम से जो चातुर्याम संयम का प्रतिपादन हुआ है वह वस्तुत: पार्श्व का चातुर्याम ही है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य

---

२३२. सम्पूर्ण सन्दर्भो के लिए देखें—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ ३०३

२३३. ऋषिभाषित अध्याय ३१

२३४. (अ) वही ३१; (ब) उत्तराध्ययन २३/१२; (स) आवश्यक निर्युक्ति २३६; (द) सूत्रकृतांग २/७/८१

में बुद्ध के चाचा वप्प शाक्य के निर्ग्रन्थ परम्परा के अनुयायी होने की सूचना मिलती है। वप्प भी पार्श्व की परम्परा से ही सम्बन्धित रहे होंगे, क्योंकि महावीर की परम्परा तो उस समय विकसित हो रही थी। पार्श्व की ऐतिहासिकता अनेक प्रमाणों से पुष्ट होती है और इसे अनेक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में मैंने अपने ग्रन्थ 'अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा' में विस्तार से विचार किया है, अत: जिज्ञासु पाठकों से उसे वहाँ देखने की अपेक्षा उल्लेख की जा सकती है।[२३५] जैनागम साहित्य में पार्श्व एवं उनकी परम्परा के सम्बन्ध में आचारांग,[२३६] सूत्रकृतांग,[२३७] समवायांग,[२३८] भगवती,[२३९] औपपातिक,[२४०] राजप्रश्नीय,[२४१] निरयावलिका,[२४२] कल्पसूत्र,[२४३] आवश्यक चूर्णि[२४४] आदि में पाये जाते हैं। इसके अनेक कथा-ग्रंथों में पार्श्व के जीवन-वृत्त का आंशिक रूप से या स्वतन्त्र रूप से उल्लेख है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और भगवती में पार्श्व और महावीर की परम्परा के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।[२४५] मुख्य विवादास्पद प्रश्न थे—चातुर्याम और पांच महाव्रत, सचेलता और अचेलता। किन्तु, इनके अतिरिक्त प्रतिक्रमण, अहिंसा सम्बन्धी प्रत्याख्यान के स्वरूप तथा सामायिक संयम, संवर, विवेक एवं व्युत्सर्ग के स्वरूप को लेकर भी मत-भेद थे जिनकी चर्चा हमें सूत्रकृतांग और भगवती से मिलती है। भगवती सूत्र के अनुसार कालस्यवैशिक पुत्र नामक पार्श्वापत्य अनगार ने महावीर के संघ में प्रवेश करते समय पंच महाव्रतों एवं सप्रतिक्रमण धर्म के साथ-साथ नग्नता, मुण्डितता, अस्नान, अदन्तधावन, छत्ररहित एवं उपानह (जूते) रहित होना, भूमिशयन, फलक-शयन, काष्ठ-शयन, केशलोच, ब्रह्मचर्य, (भिक्षार्थ) परगृह-प्रवेश, लब्ध-अलब्ध में समभाव आदि नियमों को भी ग्रहण किया था।[२४६] इससे स्पष्ट है कि ये नियम पार्श्व की परम्परा में अप्रचलित थे। छेद सूत्रों में मुनि आचार में छाता, जूते, चमड़े के थेले रखने एवं क्षुर मुण्डन सम्बन्धी जो विधान उपलब्ध होते हैं वे पार्श्वापत्यों के प्रभाव के कारण ही महावीर

---

२३५. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, प्रो. सागरमल जैन पृष्ठ १–७
२३६. आचारांग २/१५/२५;
२३७. सूत्रकृतांग २/७/८
२३८. समवायांग ८/८,९/४; १६/४; २३/२,;
२३९. भगवती १/९/४२३,
२४०. औपपातिक २/५/६५
२४१. राजप्रश्नीय २१३ (मधुकर मुनि)
२४२. निरयावलिका ३/१,
२४३. कल्पसूत्र १४९/१५९
२४४. आवश्यक चूर्णि भाग १, पृष्ठ २८५,२९१,२९८
२४५. उत्तराध्ययन २३/१२-१३; सूत्रकृतांग २/७/३८
२४६. भगवती १/९/४३२-४३३

की परम्परा में आये थे। यह भी सत्य है कि पार्श्वापत्य श्रमणों की सुविधावादी और भोगवादी प्रवृत्तियों के कारण ही आगे चलकर पासत्थ (पार्श्वस्थ) शब्द शिथिलाचार का पर्याय बन गया। ज्ञाता और आवश्यक चूर्णि में पार्श्वापत्य परम्परा के अनेक श्रमणों एवं श्रमणियों के शिथिलाचारी होने के उल्लेख हैं।[२४७] इस चर्चा का निष्कर्ष मात्र यही है कि पार्श्व एक ऐतिहासिक ऋषि हैं। उनकी परम्परा जो अपेक्षाकृत सुविधावादी थी, महावीर के युग में प्रचलित थी तथा अनेक पार्श्वापत्य श्रमण महावीर के संघ में प्रविष्ट हो रहे थे।

जहाँ तक ऋषिभाषित में वर्णित पार्श्व के धर्म-दर्शन का प्रश्न है, वह निश्चित ही पार्श्व की धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं का प्रामाणिक एवं उपलब्ध प्राचीनतम रूप है। ऋषिभाषित में पार्श्व के दार्शनिक एवं आचार सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के विचार उपलब्ध हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि ऋषिभाषित में पार्श्व नामक अध्ययन का वह पाठान्तर भी उपलब्ध है, जो गति व्याकरण नामक ग्रन्थ में समाहित था।[२४८] दार्शनिक दृष्टि से इसमें लोक का स्वरूप, जीव एवं पुद्गल की गति, कर्म और फल विपाक तथा इस विपाक के स्वरूप होने वाली विविध गतियों की चर्चा है। साथ ही इसमें पंच अस्तिकायों एवं मोक्ष के स्वरूप की चर्चा भी उपलब्ध होती है। आचार सम्बन्धी चर्चा में चातुर्याम, कषाय, प्राणातिपात से मिथ्या दर्शन तक १८ पापस्थान, उचित भोजन आदि की चर्चा है।

सर्व प्रथम इसमें लोक एवं पंचास्तिकाय को शाश्वत कहा गया है। किन्तु, लोक को शाश्वत मानते हुए भी उसे पारिणामिक अर्थात् परिवर्तनशील कहा गया है। पार्श्व लोक को शाश्वत मानते हैं, यह बात भगवती सूत्र में भी उपलब्ध होती है। पुनः जीव और पुद्गल दोनों को गतिशील कहा गया है तथा जीव को स्वभावतः ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है। सामान्यतया द्रव्यगति, क्षेत्रगति, कालगति और भावगति इन चार गतियों की चर्चा है, किन्तु, पाठान्तर में प्रयोग गति (पर-प्रेरित) और विस्रसागति (स्व-प्रेरित गति) की भी चर्चा है। इसमें अष्ट प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों की, देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च इन चार गतियों का भी उल्लेख है। पाठान्तर औदयिक और पारिणामिक गति का भी निर्देश करता है। साथ ही यह भी बताया गया है कि जीव स्वकृत पुण्य-पाप के फल का भोग करता है। अन्त में नैतिक विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो चातुर्याम से युक्त, कषायरहित, अचित्त-भोजी (मृत-भोजी) होता है, वह अष्ट कर्म-ग्रन्थियों का बन्धन नहीं करता है और अन्त में मुक्ति को प्राप्त करता है।[२४९]

---

२४७. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृष्ठ ३६-३८

२४८. ऋषिभाषित अध्याय ३१

२४९. देखें—ऋषिभाषित अध्याय ३१,

३२. पिंग

ऋषिभाषित में पिंग का उल्लेख ब्राह्मण परिव्राजक अर्हत् ऋषि के रूप में हुआ है।[२५०] ब्राह्मण परिव्राजक विशेषण से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे ब्राह्मण परम्परा के ऋषि थे। ऋषिभाषित में उनका जो उपदेश संकलित है उसमें मुख्य रूप से आध्यात्मिक कृषि का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। पिंग ऋषि से किसी अज्ञात ऋषि का प्रश्न है कि आपका खेत (क्षेत्र) कौन-सा है? बीज क्या है? नंगल क्या है? उसके उत्तर में कहा गया है कि आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, संयम नंगल है, अहिंसा और समिति बैल है। यही धर्म रूपी कृषि है। अलुब्ध मुनि के लिए यही कृषि शोभती है तथा परलोक में सुखावह होती है। सर्व प्राणियों के प्रति दया करता हुआ जो इस प्रकार की कृषि करता है वह चाहे ब्राह्मण हो क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो सिद्धि को प्राप्त करता है।[२५१] यह आध्यात्मिक कृषि का स्वरूप है जो एक ओर आध्यात्मिक साधना के विभिन्न अंगों को स्पष्ट करता है, तो दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करता है कि इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करने वाला व्यक्ति चाहे वह किसी जाति का हो मुक्ति को प्राप्त करता है। इसी अध्याय में सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो हमें देखने को मिलती है वह यह है कि एक ब्राह्मण परिव्राजक चारों वर्णों की मुक्ति की अवधारणा को प्रतिपादित करता है।

स्वयं ऋषिभाषित में ही इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि का वर्णन कुछ भिन्न रूप में हमें मातंग नामक २६वें अध्याय में भी मिलता है। जहाँ पिंग नामक इस अध्ययन में केवल चार गाथाओं में दूसरा विवरण है वहाँ मातंग में ८ गाथाओं में इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय से आध्यात्मिक कृषि का विवरण २६वें मातंग अध्याय का ही एक संक्षिप्त रूप है।

जैन परम्परा में तो हमें इस प्रकार की कृषि का विवरण देखने को नहीं मिला, किन्तु बौद्ध परम्परा में सुत्तनिपात और संयुत्तनिकाय में इस आध्यात्मिक कृषि का निरूपण है। सुत्तनिपात के चतुर्थ कसिभारद्वाज सुत्त में दूसरा विवरण हुआ है। वहाँ बुद्ध स्वयं अपने को एक कृषक के रूप में प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं—श्रद्धा मेरा बीज है, तप वृष्टि है, प्रज्ञा मेरे युग और नंगल हैं, लज्जा नंगल दण्ड है। मन जोत है और स्मृति मेरी फाल एवं छकुनी है। मैं वचन और आहार के विषय में संयत हूँ। सत्य की निराई करता हूँ। निर्वाण की ओर जाने वाला वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ मेरे जोते हुए बैल हैं। वे निरन्तर उस दिशा की ओर जा रहे हैं जहाँ जाकर कोई शोक नहीं करता। इस प्रकार की जाने वाली खेती अमृत फल-प्रदायी होती है और ऐसी खेती करके मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

---

२५०. ऋषिभाषित, ३२

२५१. वही ३२

संयुत्तनिकाय में भी लगभग इसी प्रकार का विवरण उपलब्ध होता है। आध्यात्मिक कृषि सम्बन्धी विवरण इस तथ्य की ओर हमें सूचित करता है कि समाज में भिक्षोपजीवी श्रमणों के प्रति भी कहीं-कहीं आक्रोश भी था और उनसे यह कहा भी जाता था कि तुम भिक्षा मांगने की अपेक्षा खेती क्यों नहीं करते ? इसके प्रत्युत्तर में श्रमण अपने आध्यात्मिक कृषि का विवरण प्रस्तुत करते थे।

ऋषिभाषित के अतिरिक्त पिंग सम्बन्धी विवरण हमें बौद्ध परम्परा में भी मिलता है।[२५२] बौद्ध परम्परा में अंगुत्तरनिकाय में पिंगियानी नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख है जो वैशाली का निवासी और बुद्ध का अनुयायी था। संयुत्तनिकाय में एक अन्य पिंगी का उल्लेख उपलब्ध होता है जिसने अर्हत् पद को प्राप्त किया था। सुत्तनिपात में भी हमें महर्षि पिंगी का उल्लेख उपलब्ध होता है। सुत्तनिपात के पारायणवग्ग में सर्वप्रथम महर्षि पिंगी को बावारी का शिष्य बताया गया है। बावारी के १६ शिष्यों में महर्षि पिंगी भी एक हैं। इन्हें लोक-विश्रुत, ध्यानी, पूर्व संस्कारों से सुसंस्कृत, गणी आदि विशेषण भी दिए गए हैं। पारायणवग्ग के पिंगी मानवक पुच्छा सुत्त में बुद्ध और पिंगी के बीच हुई चर्चा का भी उल्लेख है। यहाँ पिंगी बुद्ध के सम्मुख अपनी वृद्धावस्था का भी चित्रण प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि मैं जीर्ण हूँ, दुर्बल हूँ, विवर्ण हूँ, मेरे नेत्र और कान ठीक नहीं हैं। आप मुझे धर्म का उपदेश करें जिसे जानकर जन्म-जरा का अन्तर कर सकूँ और बीच में ही मोह सहित मृत्यु को न प्राप्त करूं। बुद्ध पिंगी को अप्रमत्त बनने का तथा तृष्णा के अन्त करने का उपदेश देते हैं।

सुत्तनिपात के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पिंग बुद्ध के समकालीन हैं, किन्तु वय में उनसे ज्येष्ठ हैं। सुत्तनिपात में उनके बुद्ध के अनुयायी होने का विवरण बुद्ध शासन की महिमा दिखाने हेतु है। अतः सुत्तनिपात का सम्पूर्ण विवरण यथावत् रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रो० सी० एम० उपासक[२५३] ने पालि साहित्य में उल्लेखित पिंगी या पिंगियानी के ऋषिभाषित के पिंग से भिन्न होने की सम्भावना व्यक्त की है। उनके अनुसार ऋषिभाषित के पिंग एक प्राचीन ऋषि हैं, जिससे पिंगी या पिंगियानी की परम्परा चली है। हमें प्रो० उपासक के इस निष्कर्ष से सहमत होने में कोई आपत्ति नहीं है। यह सम्भव है कि पिंग ऋषि की परम्परा में हुए किसी पिंगियानी ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया हो। किन्तु, सुत्तनिपात के उपर्युक्त उल्लेख की जिसकी हमने चर्चा की है प्रो० उपासक ने सम्भवतः उसे लक्ष्य में नहीं लिया है। वे संयुत्तनिकाय और अंगुत्तरनिकाय के पिंगियानी की चर्चा करते हैं। सुत्तनिपात में इन्हें महर्षि बावारी शिष्य बताया है, अतः यहाँ पिंगी, परम्परा का नहीं

---

२५२. बौद्ध परम्परा में पिंग सम्बन्धी समस्त विवरणों के लिए देखे—Dictionary of Pali Proper Names, Vol. II. P. 198-200

२५३. देखें—पं० दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ (पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी) में प्रकाशित उनका लेख।

अपितु व्यक्ति का सूचक है। पुनः पिंगी को व्यक्ति के रूप में महर्षि, गणनायक, लोकविश्रुत, ध्यानी आदि विशेषण दिये गये हैं। वे निश्चय ही बुद्ध से ज्येष्ठ हैं। सुत्तनिपात में उल्लेखित पिंगी को ऋषिभाषित का पिंग ऋषि माना जाये या उनका शिष्य माना जाये, यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु इससे ऋषिभाषित के पिंग नामक अर्हत् ऋषि की ऐतिहासिकता संपुष्ट होती है। सुत्तनिपात की अट्ठकथा में पिंगी को अर्हत् कहा गया है।[२५४] अतः सम्भावना यह भी हो सकती है कि सुत्तनिपात के पिंगी ही ऋषिभाषित के पिंग हों।

महाभारत में पिंगल नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है।[२५५] किन्तु, इनकी ऋषिभाषित के पिंग से कालिक एवं अन्य आधारों पर एकरूपता बता पाना कठिन है।

३३. महाशालपुत्र अरुण

ऋषिभाषित का ३३वाँ अध्याय महाशालपुत्र अरुण के उपदेशों से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन आगमिक एवं आगमेतर साहित्य में अरुण का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। ऋषिभाषित में इन्हें महाशालपुत्र अरुण कहा गया है।[२५६] प्रश्न यह है कि ये अरुण ऋषि कौन हैं ? वस्तुतः अरुण औपनिषदिक ऋषि हैं। शुब्रिंग अरुण का तादात्म्य औपनिषदिक ऋषि आरुणि से करते हैं,[२५७] किन्तु यह मान्यता उचित नहीं है। क्योंकि, आरुणि का दूसरा नाम उद्दालक भी है और ऋषिभाषित में उद्दालक का स्वतन्त्र अध्याय है। स्वयं आरुणि शब्द भी यह सूचित करता है कि वे अरुण के पुत्र (वंशज) या शिष्य होंगे। अतः महाशालपुत्र अरुण आरुणि-उद्दालक के पिता एवं गुरु हैं। वैदिक कोश और महाभारत नामानुक्रमणिका में आरुणि-उद्दालक को एक व्यक्ति माना गया है और अरुण को उनका पिता कहा गया है।[२५८] शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार इनका पूरा नाम 'अरुण औपवेशि गौतम' था। उपवेशि के शिष्य होने से औपवेशि और गौतम गोत्र के होने से गौतम कहलाते हैं।[२५९] किन्तु, प्रश्न यह है कि ऋषिभाषित में इनके नाम के साथ महाशालपुत्र नामक जो विशेषण जुड़ा है

---

२५४. (अ) सुत्तनिपात अट्ठकथा भाग २, पृष्ठ ६०३
(ब) Dictionary of Pali proper Names, Vol. II. P. 199.,

२५५. देखें—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ १९७

२५६. ऋषिभाषित, ३३

२५७. इसिभासियाइं Introduction P. 4

२५८. देखें—(अ) वैदिककोश पृष्ठ ५६
(ब) महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ ३१, एवं ४२

२५९. इन समस्त सन्दर्भों के लिए देखें—वैदिक कोश पृष्ठ २३

उसकी क्या संगति है ? छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार अश्वपति से शिक्षित ब्राह्मण महाशाल कहे जाते थे,[२६०] चूंकि इनकी शिक्षा भी अश्वपति के द्वारा हुई है। यही कारण हो सकता है कि इन्हें महाशालपुत्र कहा गया हो। अतः सिद्ध होता है कि ऋषिभाषित के महाशालपुत्र अरुण औपनिषदिक ऋषि अरुण औपवेशि गौतम हैं और आरुणि-उद्दालक के पिता एवं गुरु हैं। इस अध्याय में मिथिला अधिपति संजय का नाम भी आया है। इस सम्बन्ध में हमने आगे ३९वें संजय नामक अध्याय के प्रसंग में विचार किया है।

जहाँ तक ऋषिभाषित में प्रतिपादित अरुण ऋषि के उपदेशों का प्रश्न है, ये कहते हैं कि व्यक्ति के भाषा-व्यवहार और कर्म (आचरण) के आधार पर ही उसके पण्डित या मूर्ख होने का निर्णय किया जा सकता है। अशिष्ट वाणी, दुष्कर्म और कार्य-अकार्य के विवेक का अभाव ये मूर्ख के लक्षण हैं। इसके विपरीत शिष्ट-वाणी, सुकृत कर्म और धर्म-अधर्म का विवेक पण्डितजन के लक्षण हैं। इसके साथ ही इसमें यह भी बताया गया है कि व्यक्ति पर संसर्ग का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। इस तथ्य को अनेक उदाहरणों से पुष्ट भी किया गया है। अन्त में यह कहा गया है कि जितेन्द्रिय और प्रज्ञावान साधक को समत्व और अहिंसा को सम्यक् प्रकार जानकर कल्याणकारी मित्रों का ही संसर्ग करना चाहिए[२६१]।

यद्यपि बौद्ध परम्परा में अरुण नामक पाँच व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है,[२६२] किन्तु उनके सम्बन्ध में उपलब्ध विवरणों के आधार पर उनमें से किसी के भी साथ ऋषिभाषित के अरुण की संगति नहीं बैठती है। अतः निष्कर्ष यही है कि ऋषिभाषित के महाशालपुत्र अरुण औपनिषदिक अरुण औपवेशि गौतम हैं।

३४. ऋषिगिरि

ऋषिभाषित के चौतीसवें अध्याय में ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक के उपदेशों का संकलन है। ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि ऋषिदत्त, ऋषिगुप्त आदि नामों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु इनकी ऋषिगिरि से कोई संगति बिठा पाना कठिन है। इसी प्रकार बौद्ध और वैदिक परम्परा में भी हमें ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक का कोई उल्लेख नहीं मिला। अतः इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार की जानकारी दे पाना कठिन है।

---

२६०. देखें—वैदिककोश पृष्ठ ३७३

२६१. ऋषिभाषित, ३३

२६२. देखें—*Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. I, P. 182-184

जहाँ तक ऋषिगिरि के उपदेशों[२६३] का प्रश्न है, वे मूर्खों या दुष्टजनों द्वारा दिये गये कष्टों को समभावपूर्वक सहन करने का निर्देश देते हैं। वे कहते हैं कि यदि कोई परोक्ष में निन्दा करता है, तो यह सोचकर समभाव धारण करना चाहिये कि यह प्रत्यक्ष में तो आलोचना नहीं करता है। यदि कोई प्रत्यक्ष में आलोचना करता है, तो यह सोचना चाहिए कि वह केवल शब्दों से निन्दा करता है, हमारे शरीर को तो पीड़ा नहीं पहुंचाता है। यदि कोई पीड़ा पहुंचाता है, तो यह सोचना चाहिये कि वह हमारा शस्त्र से अंग-भंग तो नहीं करता है। यदि कोई अंग-भंग करता है, तो सोचना चाहिए कि वह अंग-भंग करता है, किन्तु प्राण-हरण तो नहीं करता है। यदि वह प्राण-हरण करता है, तो यह सोचना चाहिए कि वह प्राण ही लेता है धर्मभ्रष्ट तो नहीं करता है। अज्ञानी तो मूर्ख स्वभाव के होते हैं, हिताहित का ज्ञान नहीं होता है, ऐसा समझकर उनके प्रति समभाव धारण करना चाहिए।

ज्ञातव्य है कि यही विवरण हमें पालि साहित्य में भी मिलता है। जहाँ बुद्ध किसी भिक्षु से पूछते हैं कि यदि कोई तुम्हारी आलोचना करता है तो तुम क्या करोगे? और वह कहता है कि यह सोचूंगा कि वह मेरी आलोचना ही तो करता है, मुझे पीटता तो नहीं है। इसी प्रकार समग्र चर्चा वहाँ भी दोहराई गयी है। अन्तर मात्र यह है कि वहाँ चर्चा भगवान बुद्ध और एक भिक्षु के मध्य है, जबकि प्रस्तुत अध्याय में यह ऋषिगिरि के उपदेश के रूप में वर्णित है।

इसके अतिरिक्त इस अध्याय में लोक के स्वरूप को जानकर पाँच महाव्रत से युक्त, कषायरहित, संयमी एवं जितेन्द्रिय बनने का निर्देश किया गया है। भोगों में आसक्त दीन व्यक्ति कभी जीवन की आकांक्षा करता है, तो कभी मृत्यु की। और, इस प्रकार वह अपना ही नाश करता है। जबकि जो काम-वासनाओं में लुब्ध नहीं होता है, वह छिन्न-स्रोत अनास्रवी मुक्ति को प्राप्त करता है। ऋषिगिरि का यह उपदेश सामान्य रूप में अन्यत्र भी उपलब्ध है, अतः उपदेश के आधार पर उनकी किसी विशिष्ट अवधारणा का ज्ञान नहीं होता है।

३५. उद्दालक

ऋषिभाषित के ३५वें अध्याय में उद्दालक (अद्दालअ) के उपदेश संकलित हैं। जैन आगमिक एवं आगमेतर साहित्य में ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उद्दालक का उल्लेख नहीं मिलता है। वस्तुतः उद्दालक एक औपनिषदिक ऋषि हैं। ये अरुण औपवेशि गौतम के पुत्र थे। इनका प्रसिद्ध नाम उद्दालक-आरुणि है। अरुण के पुत्र होने से उन्हें आरुणि कहा जाता है। इनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण, कौषीतकि ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्

---

२६३ ऋषिभाषित, ३४,

आदि में मिलता है।[२६४] ये अपने पिता अरुण, मद्रवासी, पतंचलकाप्य के शिष्य थे। इनके पुत्र श्वेतकेतु थे। यद्यपि इन्हें नचिकेता का भी पिता कहा गया है, किन्तु श्री सूर्यकान्त ने वैदिककोश में इस सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया है।[२६५]

उद्दालक का उल्लेख पालि साहित्य के उद्दालक जातक में मिलता है।[२६६] उसके अनुसार ये बनारस के राजा के पुरोहित के पुत्र थे, जो एक दासी से उत्पन्न हुए थे। पश्चात् शिक्षा हेतु तक्षशिला गये और शिक्षित होकर संन्यासियों के एक वर्ग के आचार्य बन गये। इन्होंने वाराणसी तक की यात्रा की और जनता में पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की। किन्तु, पुरोहित ने इनके छद्म जीवन की यथार्थता को जानकर संन्यास छोड़ने को विवश किया और अपने अधीन पुरोहित बना दिया। इसी सन्दर्भ में श्वेतकेतु का उल्लेख आया है। वैदिक परम्परा में श्वेतकेतु को उद्दालक पुत्र कहा गया है। इन सभी सन्दर्भों से ऐसा लगता है कि बौद्ध परम्परा में इस कथानक को थोड़ा विकृत करके प्रस्तुत किया गया है।

इन सब आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि ऋषिभाषित, जातक कथा और उपनिषदों में उल्लेखित उद्दालक एक ही व्यक्ति हैं।

जहाँ उद्दालक के ऋषिभाषित में उपलब्ध उपदेशों[२६७] का प्रश्न है, वहाँ सर्वप्रथम उन्होंने क्रोधादि चार कषायों को वर्ज्य कहा है। जो इनका सेवन करता है वह संसार में परिभ्रमण करता है और जो इनका सेवन नहीं करता है वह अक्रोधित, निरहंकारी, अमायावी एवं अलोभी साधक त्रिगुप्त, त्रिदण्डविरत, गारवरहित, चार विकथाओं से विरत, पाँच समितियों से युक्त और पाँच इन्द्रियों से संवृत होकर, शरीर संधारणार्थ एवं योग निर्वाहार्थ नवकोटि परिशुद्ध उद्‌गम-उत्पाद दोषरहित, विभिन्न ऊँच-नीच कुलों से प्राप्त परकृत, परनिसृत, विगत अङ्गार, विगत धूम, शस्त्रानीत, शस्त्र परिणत भिक्षा (पिण्ड), शय्या और उपधि का भोग करता है। इसके पश्चात् इसमें स्वार्थ और परार्थ की समस्या की चर्चा करते हुए आत्मार्थ के साधन का निर्देश दिया गया है। इनका मन्तव्य है कि आत्मार्थी ही सच्चे अर्थों में लोकमंगल कर सकता है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओं और कषायों में नियन्त्रण नहीं रख पाता है, वह कैसे लोक-कल्याण (परार्थ) करेगा? आत्मार्थ के विना परार्थ तो बन्धन का ही कारण बनता है। क्योंकि, परिशुद्ध आत्मा ही स्व-पर दोनों के लिए शान्ति प्रदाता होता है।

---

२६४. देखें—वैदिक कोश पृष्ठ ५६

२६५. वही पृष्ठ ५६

२६६. देखें—(अ) Dictionary of Poli proper Names, Vol. I. P. 383
(ब) जातक सं. ४८७

२६७. ऋषिभापित ३५

इस अध्याय में पांच इन्द्रियों, संज्ञाओं (मन की आकांक्षाओं) त्रिदण्ड, त्रिशल्य, त्रिगर्व और बावीस परिषहों को चोर कहा गया है, क्योंकि ये आत्मशान्ति रूपी धन की चोरी करते हैं। अतः अन्त में साधक को सर्वत्र जाग्रत रहने का संदेश दिया गया है।

इस अध्याय की विशेषता यह है कि इसमें जैन आचार की परम्परागत शब्दावली का ही प्रयोग देखा जाता है। अतः यह विचार हो सकता है कि क्या ग्रन्थकर्त्ता ने उद्दालक के मुख से अपनी ही मान्यताओं का प्रतिपादन करवाया है या उनकी अपनी मान्यतायें ही थीं? साधक और बाधक प्रमाणों के अभाव में आज इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है। फिर भी इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जैन परम्परा ने अपनी समकालीन परम्पराओं से पर्याप्त रूप से ग्रहण किया होगा।

३६. नारायण (तारायण)

ऋषिभाषित का छत्तीसवां अध्ययन नारायण (तारायण) ऋषि के उपदेशों से सम्बन्धित है। जैन साहित्य में ऋषिभाषित के अतिरिक्त नारायण ऋषि का उल्लेख सूत्रकृतांग[२६८] एवं सूत्रकृतांग चूर्णि[२६९] में मिलता है। ऋषिभाषित में इनके नाम के पूर्व 'वित्त' विशेषण लगाया गया है, किन्तु इसका क्या तात्पर्य है यहाँ स्पष्ट नहीं है। सूत्रकृतांग में इनका उल्लेख नमि, असित देवल, बाहुक आदि के साथ हुआ है। सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित दोनों से यह स्पष्ट है कि ये जैनेतर परम्परा के ऋषि हैं तथापि इन्हें जैन परम्परा में सम्मानित रूप में देखा जाता था।

नारायण ऋषि के उपदेश का मुख्य प्रतिपाद्य क्रोधाग्नि की दुर्निवार्यता है।[२७०] कहा गया है कि अग्नि को जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु क्रोधाग्नि का निवारण कठिन है। अग्नि तो एक ही भव (जीवन) को समाप्त करती है, किन्तु क्रोधाग्नि तो अनेक भवों को समाप्त करती है। अग्नि से जला हुआ शान्ति प्राप्त कर लेता है, किन्तु क्रोधाग्नि से जला हुआ तो बार-बार दुःख (अशान्ति) का अनुभव करता है। सामान्य अन्धकार तो ज्योति या मणि से दूर किया जा सकता है, किन्तु क्रोध रूपी अन्धकार तो दुर्निवार्य है। पुनः, क्रोध अपने को और दूसरों को दोनों को जलाता है। उसके कारण धर्म, अर्थ और काम तीनों ही पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं अतः क्रोध का निरोध करना चाहिए।

---

२६८. सूत्रकृतांग १/३/४/२

२६९. सूत्रकृतांग चूर्णि पृष्ठ १२०

२७०. ऋषिभाषित ३६

यद्यपि जैन परम्परा में आठवें वासुदेव का नाम भी नारायण है, जिन्हें लक्ष्मण भी कहा गया है, किन्तु ऋषिभाषित के नारायण (तारायण) इनसे भिन्न हैं। इनकी पहचान वैदिक परम्परा के नारायण ऋषि से की जा सकती है। वैदिक या हिन्दू परम्परा में नारायण स्वयं ईश्वर का ही नाम है, किन्तु उसमें नारायण नामक ऋषि भी हुए हैं, जिन्हें भी ईश्वर का अवतार माना जाता है। सामान्यतया इन्हें नर-नारायण नामक ऋषि-युगल के रूप में जाना जाता है।[२७१] इन्होंने बद्रिकाश्रम में रहकर सहस्रों वर्षो तक तप किया है।[२७२] शान्तिपर्व में नारद के साथ इनके संवाद का उल्लेख है।[२७३] तैत्तिरीय आरण्यक का दसवां प्रपाठक नारायणोपनिषद के नाम से प्रसिद्ध है।[२७४]

बौद्ध परम्परा में नारायण नामक ऋषि के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती है। अन्यत्र उपलब्ध विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित में उल्लेखित नारायण (तारायण) हिन्दू परम्परा के नारायण नामक ऋषि ही हैं।

३७. श्रीगिरि

ऋषिभाषित का सैंतीसवां अध्याय श्रीगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक से सम्बन्धित है। यह अध्याय तेतलीपुत्र (१०), बाहुक (१४), उत्कटवादी (२०), एवं पार्श्व (३१) अध्ययन के समान पूर्णत: गद्यरूप में है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त श्रीगिरि का उल्लेख न तो जैन साहित्य में कहीं उपलब्ध होता है और न बौद्ध एवं वैदिक साहित्य में ही। अत: श्रीगिरि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी किन्हीं भी स्रोतों से उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत अध्याय के प्रथम भाग में हमें सृष्टि सम्बन्धी तीन सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है।[२७५] इसमें कहा गया है कि (१) सर्वप्रथम जल ही था उसमें अण्डा प्रकट हुआ, फिर लोक (सृष्टि) उत्पन्न हुआ और वह सश्वसित (जीवन युक्त) हुआ—ऐसा वरुण विधान नहीं है। यहाँ श्रीगिरि सृष्टि की जल एवं अण्डे से उत्पत्ति होने सम्बन्धी अवधारणा का खण्डन करते हैं। यह स्पष्ट है कि सृष्टि सम्बन्धी यह अवधारणा औपनिषदिक चिन्तन में उपस्थित थी। सूत्रकृतांग

---

२७१. देखें—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ १७५

२७२. महाभारत वन पर्व ७२/३३६

२७३. महाभारत शांति पर्व ३३४/१३–१५

२७४. देखें, वैदिक कोष पृ. २४४

२७५. ऋषिभाषित ३७

में भी इस अवधारणा को प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया गया है।[२७६] (२) सृष्टि सम्बन्धी दूसरी अवधारणा 'माया' की है—सृष्टि को माया से प्रसूत कहा जाता है, किन्तु श्रीगिरि इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह विश्व माया नहीं है। इस प्रकार इन दो अवधारणाओं का खण्डन करने के पश्चात् वे अपनी तीसरी अवधारणा शाश्वतवाद की प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि (३) ऐसा नहीं था कि विश्व कभी नहीं था, कभी नहीं है अथवा कभी नहीं रहेगा। इस प्रकार यहाँ सृष्टि को शाश्वत स्वीकार किया गया है। यह अवधारणा पार्श्व की भी थी, जिसका भगवती सूत्र (५/९) में महावीर ने भी समर्थन किया था। वैदिक परम्परा में यह अवधारणा मीमांसा दर्शन के निकट है। उपनिषदों में भी इसका उल्लेख मिलता है।

श्रीगिरि के आचार सम्बन्धी उपदेशों से ऐसा लगता है कि वे वैदिक कर्मकाण्ड के समर्थक थे, फिर भी उनके द्वारा प्रस्तुत अग्निहोत्र (यज्ञ) में प्राणी हिंसा का विधान नहीं है। वे कहते हैं—उभय काल, उभय सन्ध्या में दूध, मक्खन, मधु, क्षार, शंख और समिधा को एकत्रित कर उन्हें समर्पित करता हुआ अग्निहोत्र कुण्ड को जागृत रखते हुए मैं रहूँगा। इसीलिए मैं यह सब कहता हूँ जिसे सुनकर साधक सूर्य के साथ गमन करे, जहाँ रात्रि हो जावे वहीं रुक जाये और सूर्य के उदित होने पर प्राची, प्रतीचि, उत्तर या दक्षिण दिशा में युगमात्र (चार हस्त प्रमाण भूमि) को देखता हुआ यथारीति विचरण करे। सूर्य के साथ गमन की यह बात प्रकारान्तर से जैन परम्परा में 'कप्प' (दशाश्रुतस्कन्ध ५/६–८), निसीह (निशीथ १०/३१–३४) और दसवेयालिय (दशवैकालिक ८/२८) में भी उपलब्ध है।[२७७] सामान्यतया यह अवधारणा उस युग के सभी श्रमण ब्राह्मण परिव्राजकों में प्रचलित थी। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से श्रीगिरि के विचारों की प्रामाणिक जानकारी होते हुए भी हमें उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

३८. सारिपुत्र (सातिपुत्त)

ऋषिभाषित का अड़तीसवां अध्याय सारिपुत्र (सातिपुत्त) अर्हत् [illegible] उपदेशों से सम्बन्धित है। ये सातिपुत्त निश्चय ही बौद्ध परम्परा के सारिपुत्र [illegible]। इनके नाम के साथ लगा 'बुद्ध' विशेषण और इनके विचारों की बौद्ध परम्प[illegible] से समानता इस तथ्य के महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। ऋषिभाषित के अतिरिक्त सारि[illegible] उल्लेख आवश्यक चूर्णि में प्राप्त होता है।[२७८] उसमें इन्हें बुद्ध का अनुयायी बताया

---

२७६. सूत्रकृतांग १/१

२७७. देखें—इसिभासियाइं (शुब्रिंग) पृ. ११८

२७८ आवश्यकचूर्णि I पृ. ८६

हैं। इसी प्रकार आचारांग शीलाङ्क टीका में भी इनका उल्लेख है।[२७९] इसके अतिरिक्त साईदत्त (स्वातिदत्त) नामक चम्पा के निवासी एक ब्राह्मण का भी उल्लेख मिलता है। महावीर ने उसकी शाला में एक चातुर्मास किया था।[२८०] किन्तु, इनकी सातिपुत्त या सारिपुत्त के साथ एकरूपता स्थापित कर पाना कठिन है।

सारिपुत्र के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण बौद्ध परम्परा में उपलब्ध है। 'डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स्' में इनके सम्बन्ध में पालि साहित्य के आधार पर जो विवरण उपलब्ध है वह भी १० पृष्ठों में है।[२८१] विस्तार भय से वह सब विवरण यहाँ दे पाना कठिन है। हम मात्र कुछ प्रमुख तथ्यों का ही उल्लेख करेंगे। बौद्ध परम्परा में इन्हें बुद्ध के दो अग्र श्रावकों में स्थान देकर इनका सम्मान किया गया है। इन्हें नालक ग्राम के ब्राह्मण वङ्गन्त के पुत्र कहा गया है। इनकी माता का नाम रूपसारी था। अपनी माता के नाम पर ये सारिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। बुद्ध ने इन्हें धर्म-सेनापति और महाप्रज्ञावान कहा था। बौद्ध धर्म संघ में प्रवेश करने के पूर्व ये सञ्जय के शिष्य थे। सञ्जय का उल्लेख भी ऋषिभाषित में अर्हत् ऋषि के रूप में हुआ है।[२८२] वरुआ ने इन सञ्जय को बुद्ध के समकालीन छह तीर्थकरों में से एक सञ्जय वेलट्ठिपुत्त माना है।[२८३] मेरी दृष्टि में भी यही सञ्जय सारिपुत्र के पूर्व गुरु होंगे, जिन्हें सारिपुत्र ने बुद्ध से मिलने के लिए आमन्त्रित किया था, किन्तु इन्होंने इससे इन्कार कर दिया था। पालि साहित्य में सारिपुत्र के उपदेश और दार्शनिक विचार विस्तार से उपलब्ध हैं। ऋषिभाषित के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

ऋषिभाषित में सारिपुत्र के उपदेश का मुख्य प्रतिपाद्य अतियों से बचकर मध्यम मार्ग की साधना है।[२८४] यह उपदेश बौद्ध धर्म का केन्द्रीय तत्त्व है। वे कहते हैं जिस सुख से सुख प्राप्त होता है वही आत्यन्तिक सुख है, किन्तु जिस सुख से दुःख प्राप्त हो, उसका समागम न हो। इस कथन का वक्तव्य यही है कि, दुःख प्रदाता सुख वरेण्य न होकर सुख प्रदाता सुख ही वरेण्य है। सुख से सुख प्राप्त होता है, दुःख से सुख प्राप्त नहीं होता है। इसीलिये वे आगे कहते हैं कि मनोज्ञ भोजन कर, मनोज्ञ शय्या और आवास में रहकर भिक्षु समाधि पूर्वक ध्यान करता है। जबकि

---

२७९. आचारांग शीलाङ्क टीका पृ. १३५

२८०. (अ) आवश्यक चूर्णि I पृ. ३१६, ३२० (ब) विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९७९

२८१. Dictionary of Pali Proper Names-II, P. P. 1108–1118

२८२. ऋषिभाषित ३९

२८३. Dictionary of Pali Proper Names Vol. II, P. 1000

२८४. देखें–ऋषिभाषित ३८

अनमोज्ञ भोजन, शय्या और आवास में रहकर वह दुःखपूर्वक ध्यान करता है। यहाँ स्पष्ट रूप से निर्ग्रन्थों की देह-दण्डन की प्रक्रिया का विरोध परिलक्षित होता है। यद्यपि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सारिपुत्र भोग मार्ग के समर्थक हैं। अग्रिम गाथाओं में उन्होंने इन्द्रिय संयम का उपदेश दिया है। वे कहते हैं, अप्रमत्त (जागृत) प्रज्ञावान साधक को इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध नहीं होना चाहिए, उनमें आसक्ति का त्याग करना चाहिए। क्योंकि, अप्रमत्त साधक की सुप्त पंचेन्द्रियां अल्प दुःख का कारण होती हैं। पुनः साधना का उद्देश्य सुख-दुःख का अतिक्रमण बताते हुए कहा गया है—जिस प्रकार व्याधि को शान्त करने के लिए कटु या मधुर जैसी भी औषधि वैद्य द्वारा निर्देश हो सेवन की जाती है, उसी प्रकार मोह रूपी व्याधि के उपशमन के लिए ज्ञानीजनों द्वारा उपदिष्ट कठोर (कष्टप्रद) या सरल (सुखप्रद) साधना की जाती है। जिस प्रकार चिकित्सा का उद्देश्य रोग-शमन है, सुख और दुःख नहीं है, यद्यपि चिकित्सा काल में सुख-दुःख होते हैं, उसी प्रकार साधना का उद्देश्य मोह प्रहाण है, सुख या दुःख नहीं; यद्यपि साधना काल में सुख-दुःख होते हैं। इस प्रकार साधक को सुख-दुःख से परे रहने को कहा गया है। सामान्यजनों का संवेग (पाप से भय), उत्तमजनों का निर्वेद (वैराग्य), यदि आकांक्षा युक्त है तो वे दीनभाव हैं। सारिपुत्र अरण्यवास और आश्रमवास की अवधारणाओं में मध्यस्थ भाव रखते हुए कहते हैं—दमितेन्द्रिय वीर पुरुष के लिए क्या जंगल और क्या आश्रम ? स्वभावभावित आत्मा के लिए अरण्य और ग्राम दोनों ही समान हैं। ऐसी आत्मा तो मुनिवेश और परिवार कहीं भी रहकर विशुद्धि प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार सारिपुत्र साधनों पर बल न देकर साधना में चित्तवृत्ति की विशुद्धि पर बल देते हैं जोकि बौद्ध धर्म-दर्शन की विशेषता है।

उपर्युक्त विवरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सारिपुत्र ही हैं। इसका आधार यह है कि इस अध्याय की प्रारम्भिक गाथाएं बौद्ध मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए शीलाङ्क की सूत्रकृतांग टीका में तथा षड्दर्शन समुच्चय की टीका में कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ उपलब्ध होती हैं। परम्परागत मान्यता के अनुसार इन्हें महावीर के काल का अर्हत् ऋषि या प्रत्येकबुद्ध माना जाता है। बुद्ध के समकालीन होने से ये स्वतः महावीर के समकालीन भी सिद्ध हो जाते हैं।

३९. संजय

ऋषिभाषित का उन्तालीसवां अध्याय संजय नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। संजय का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त उत्तराध्ययन में भी उपलब्ध है।[२८४] यद्यपि जैन परम्परा में संजय नामक अनेक व्यक्तियों के उल्लेख

२८४. देखें—उत्तराध्ययन अध्याय १८

मिलते हैं, किन्तु उनकी ऋषिभाषित के संजय के साथ कोई संगति नहीं बैठती है। यद्यपि इस सम्बन्ध में संशय का कोई अवकाश नहीं है कि उत्तराध्ययन के १८वें अध्याय में उल्लेखित संजय और ऋषिभाषित के संजय एक ही व्यक्ति हैं। उत्तराध्ययन के अनुसार ये कम्पिलपुर के राजा थे। किसी समय शिकार के लिए केशर उद्यान में गये। वहाँ उन्होंने हरिण का शिकार किया। मृत हरिण को वहाँ ध्यानस्थ गर्दभिल्ल नामक आचार्य के चरणों के निकट देखकर ये मुनि के शाप के भय से भयभीत हुए। मुनि से क्षमायाचना की। आचार्य के अभय और अहिंसा के उपदेश से प्रभावित हो, राज्य का परित्याग कर उनके चरणों में दीक्षित हो गये। मृग-वध की यह बात वे ऋषिभाषित के इस अध्याय की पांचवी गाथा में स्वीकार करते हैं और कहते हैं—मुझे सुस्वादु भोजन एवं भव्य (भद्र) आवासों से कोई प्रयोजन नहीं, जिनके कारण मृग का वध करने के लिए संजय जंगल में जाता है।[२८६] ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में वर्णित संजय की एकरूपता के लिए इससे अधिक किसी अन्य प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। उत्तराध्ययन के उस अध्याय को 'संयतीय' कहा जाता है यह ठीक नहीं है, उसे 'संजयीय' कहना चाहिए। उत्तराध्ययन के अनुसार ये गर्दभिल्ल के शिष्य हैं। ऋषिभाषित के ही ३३वें अध्याय में यह उल्लेख है कि कल्याण-मित्रों के संसर्ग से मिथिलापति संजय देवलोक को प्राप्त हुए (३३/१६)। किन्तु, ये संजय मिथिला के राजा हैं जबकि उत्तराध्ययन के संजय कम्पिलपुर के राजा हैं, अतः दोनों को एक मानने में बाधा आती है। मेरी दृष्टि में ३३वें अध्याय में उल्लेखित संजय ३९वें अध्याय के प्रवक्ता संजय से भिन्न होंगे।

बौद्ध परम्परा में हमें संजय नामक ७ व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है,[२८७] किन्तु उनमें से सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और संजय वेलट्ठिपुत्त के नाम से प्रसिद्ध संजय के अतिरिक्त अन्य किसी संजय से ऋषिभाषित में उल्लेखित संजय की एकरूपता स्थापित कर पाना कठिन है। बौद्ध विद्वानों में इस सम्बन्ध में अधिक मतभेद नहीं है कि सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और संजय वेलट्ठिपुत्त एक ही व्यक्ति हैं। ये बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों में एक माने गये हैं, अतः दोनों में कालिक समानता तो है ही। साथ ही सारिपुत्र और मोग्गलायन के साथ इनके २५० शिष्यों का बुद्ध के संघ में प्रवेश भी इस तथ्य का सूचक है कि ये अपने युग के प्रभावशाली आचार्य थे। अतः यह निर्विवाद है कि सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और संजय वेलट्ठिपुत्त एक ही व्यक्ति हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या ये और ऋषिभाषित के संजय भी एक ही व्यक्ति हैं? यदि हम इस परम्परागत मान्यता को स्वीकृत करते हैं कि ऋषिभाषित के संजय महावीर के समकालीन हैं, तो बुद्ध के समकालीन और सारिपुत्र के पूर्व-गुरु

---

२८६. जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए संजए। —ऋषिभाषित ३९/५

२८७. देखें—Dictionary of Pali Proper Names. Vol II. P. P. 998–1000.

संजय वेलट्ठिपुत्त से इनकी एकरूपता स्थापित करने में कालिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं आती है। चूंकि, यदि ऋषिभाषित में महावीर के समकालीन मंखलि गोसाल के विचार संकलित हो सकते हैं, तो उसमें संजय वेलट्ठिपुत्त के विचारों को संकलित होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। बौद्ध परम्परा में संजय को विक्षेपवादी या संशयवादी कहा गया है, क्योंकि वे तात्त्विक प्रश्नों के निश्चयात्मक या एकान्तिक उत्तर नहीं देते थे। आज की भाषा में वे किसी तात्त्विक समस्या के सम्बन्ध में विविध विकल्पों की सम्भावना को देखते होंगे, अतः निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग नहीं करते होंगे। ऋषिभाषित में उनकी इस प्रकार की दृष्टि के प्रमाण उनके निम्नलिखित शब्दों में मिलते हैं—पाप कर्म को सम्यक् रूपेण जान पाना रहस्यमय है,[२८८] क्योंकि कर्म का (अच्छा या बुरा होने का निर्णय) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अध्यवसाय आदि की दृष्टि से सम्यक् विचार करने पर ही हो सकता है। ऋषिभाषित में प्रयुक्त 'रहस्से' शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। यहाँ 'समज्जिणित्ता' की जगह 'सम्मं जाणित्ता' पद अधिक उपयुक्त होगा। (देखें—गाथा ४ के पश्चात् का गद्य भाग)

ऋषिभाषित में संजय का उपदेश अति संक्षिप्त है। उसमें कहा गया है–पाप कृत्य न तो करना चाहिए और न करवाना चाहिए। यदि करना पड़ा हो या कर लिया हो तो उसे बार-बार न करें और उसकी आलोचना करें।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में उल्लेखित संजय ऋषि एक ही हैं और सम्भावना यही है कि वे ही सारिपुत्र के पूर्व गुरु और बुद्ध के समकालीन छह तीर्थकरों में से एक संजय वेलट्ठिपुत्त हों। वैदिक परम्परा में महाभारतकालीन धृतराष्ट्र के मंत्री संजय का उल्लेख तो मिलता है,[२८९] किन्तु ये कालिक एवं अन्य दृष्टियों से ऋषिभाषित के संजय से भिन्न ही हैं।

४०. द्वैपायन (दीवायण)

ऋषिभाषित के ४०वें अध्याय में द्वैपायन नामक ऋषि के उपदेशों का संकलन है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त द्वैपायन (दीवायण) का उल्लेख सूत्रकृतांग,[२९०] समवायांग,[२९१] औपपातिक,[२९२] अन्तकृद्दशा,[२९३] दशवैकालिक

---

२८८. रहस्से खलु भो पावकम्मं.... । —ऋषिभाषित ३९

२८९. महाभारत नामानुक्रमणिका–पृ. ३६४–३६५

२९०. सूत्रकृतांग १/३/४/३

२९१. समवायांग सूत्र १५८ (प्रकीर्णक समवाय)

२९२. औपपातिक सूत्र ३८

२९३. अन्तकृद्दशा वर्ग ३

चूर्णि,[२६४] सूत्रकृतांग चूर्णि,[२६५] में मिलता है। इतना निश्चित है कि सर्वत्र इन्हें निर्ग्रन्थ परम्परा से भिन्न परम्परा के ऋषि कहा गया है। सूत्रकृतांग में इनका उल्लेख नमि, बाहुक, असित देवल, नारायण, पाराशर आदि ऋषियों के साथ हुआ है और यह कहा गया है कि इन्होंने सचित्त जल एवं फल आदि का उपभोग करते हुए सिद्धि प्राप्त की। समवायांग के अनुसार ये आगामी उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर होंगे। औपपातिक में इन्हें ब्राह्मण परिव्राजकों की एक परम्परा का प्रणेता कहा गया है। अन्तकृत्दशा, दशवैकालिक चूर्णि आदि में यह कहा गया है कि यादवों ने इनकी साधना में विघ्न उपस्थित किये। परिणाम स्वरूप इन्होंने द्वारिका के विनाश का निदान कर लिया और मर कर ये अग्निकुमार देव हुए और द्वारिका का विनाश किया। यद्यपि इन ग्रन्थों में इनके जीवन की विविध घटना-क्रमों के आधार पर इनके व्यक्तित्व की एकरूपता को देखने का प्रयास नहीं हुआ है, किन्तु मेरी दृष्टि में ये सभी उल्लेख एक ही द्वैपायन के सन्दर्भ में हैं। इनके सम्बन्ध में परम्परागत यह धारणा कि, ये महावीर के काल में हुए, भ्रान्त है। उपरोक्त सन्दर्भो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये औपनिषदिक काल के पूर्व महाभारत काल के ऋषि रहे होंगे।

बौद्ध परम्परा में कण्ह दीपायण नाम के दो व्यक्तियों के उल्लेख हैं।[२६६] कृष्ण द्वैपायन (कण्ह दीपायण) जातक में जो कण्ह दीपायण की कथा दी गई है, उसका ऋषिभाषित और जैन परम्परा में उल्लेखित द्वैपायन (दीवायण) से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, जातक में ही कण्ह दीपायण की एक अन्य कथा भी दी गई जिसमें उनका सम्बन्ध द्वारिका (द्वारवती) एवं वासुदेव के वंश (यादव वंश) के विनाश से दिखाया गया है। थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ यह कथा जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्परा में पाई जाती है।

वैदिक परम्परा में कृष्ण द्वैपायन या द्वैपायन का उल्लेख महाभारभ में विस्तार से मिलता है।[२६७] वैदिक परम्परा में इनका प्रचलित नाम व्यास अथवा वेद व्यास है। इन्हें महर्षि पाराशर का पुत्र तथा महाभारत का रचयिता भी माना जाता है। इन्होंने भीष्म की आज्ञा से विचित्रवीर्य की पत्नियों से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये पुत्र उत्पन्न किये थे। शुकदेव को भी इनका पुत्र कहा जाता है। वैशम्पायन इनके प्रमुख शिष्य थे। महाभारत इनके जीवन और उपदेशों का विस्तृत विवरण है, यद्यपि उसमें पौराणिक पक्ष अधिक और ऐतिहासिक पक्ष कम है।

---

२६४. दशवैकालिक चूर्णि पृ. ४१

२६५. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. १२०

२६६. देखें–Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I. P. P. 501–502

२६७. देखें–महाभारत नामानुक्रमणिका पृ. ८७, १६२

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में इनके उल्लेख से यह माना जा सकता है कि ये प्राक् ऐतिहासिक काल के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हैं । यद्यपि औपनिषदिक प्राचीन साहित्य में इनके नाम का उल्लेख न होना विचारणीय अवश्य है, यद्यपि उसमें इनके पिता पाराशर और पाराशरी पुत्रों का उल्लेख है ।[२९८]

ऋषिभाषित में इनका जो उपदेश संकलित है, उसमें इच्छा को अनिच्छा में परिवर्तित करने का निर्देश है ।[२९९] दूसरे शब्दों में ये आकांक्षा के प्रहाण का उपदेश देते हैं । उनका कथन है कि इच्छाओं के कारण ही प्राणी दुःख पाता है । इच्छाओं के वशीभूत हो माता-पिता, गुरुजन, राजा और देवता सभी की अवमानना कर देता है । इच्छा ही धनहानि, बन्धन, प्रिय वियोग और जन्म-मरण का मूल है । अतः इच्छाओं पर विजय प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि इच्छारहित होना ही सुख का मूल है । इस अध्याय की गाथा २ एवं ३ कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ ऋषिभाषित के ३६वें अध्याय की गाथा १३-१४ के रूप में मिलती है । इसी प्रकार इसका 'जहा थामं जहा बलं जधा विरियं' वाक्यांश दशवैकालिक में भी मिलता है ।

४१. इन्द्रनाग (इंदनाग)

ऋषिभाषित का ४१वां अध्याय इन्द्रनाग नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त इन्द्रनाग का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[३००] विशेषावश्यक भाष्य,[३०१] आवश्यक चूर्णि,[३०२] आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति[३०३] और आचारांग की शीलाङ्क टीका में मिलता है ।[३०४] ये बाल तपस्वी के रूप में प्रसिद्ध थे । गणधर गौतम ने इनसे सम्पर्क स्थापित किया था । इन्हें जीर्णपुर (जिण्णपुर) का निवासी बताया गया है । बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में हमें इनका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ । जैन स्रोतों से यह भी निश्चित हो जाता है कि ये महावीर के समकालीन थे, जिसे परम्परागत रूप में मान्य किया गया है ।

जहाँ तक ऋषिभाषित में उपलब्ध इन्द्रनाग के उपदेशों का प्रश्न है, वे सर्वप्रथम यह बताते हैं कि आजीविका के लिए किया जाने वाला तप तथा सुकृत

---

२९८. बृहदारण्यकोपनिषद् ६/५/१
२९९. ऋषिभाषित ४०
३००. आवश्यक निर्युक्ति ८४७
३०१. विशेषावश्यक भाष्य ३२९०
३०२. आवश्यक चूर्णि I. पृ. १२, १३४, १३६ एवं ४६६
३०३. आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति पृ. २४३
३०४. आचारांग शीलांक टीका पृ. १३६

निरर्थक है। विषय-वासना में डूबा हुआ प्राणी अपना विनाश ही करता है। मुनिवेश को आजीविका का साधन नहीं बनाना चाहिए। मुनि को विद्या, तन्त्र-मन्त्र, दूत-कर्म, भविष्य फल कथन आदि से भी आजीविका प्राप्त नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार इनके उपदेश का सार लोकैषणा से उपर उठकर संयम की साधना है। सामान्य रूप से यह उपदेश अनेक प्रसंगों में पाया जाता है। इस अध्याय की गाथा १३ उत्तराध्ययन और धम्मपद में यथावत् रूप में मिलती है। इसी प्रकार १६वीं गाथा ऋषिभाषित के जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) नाम १२वें अध्याय में तथा कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ दशवैकालिक में भी मिलती है।

४२–४५ सोम, यम, वरुण एवं वैश्रमण

ऋषिभाषित के अन्तिम चार अध्याय क्रमशः सोम, यम, वरुण और वैश्रमण से सम्बन्धित हैं। यद्यपि प्रस्तुत अध्यायों में इन्हें अर्हत् ऋषि कहा गया है और संग्रहणी गाथा के अनुसार ये चारों प्रत्येकबुद्ध भगवान महावीर के युग में हुए, ऐसा माना जाता है। किन्तु, इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में हमें किन्हीं भी स्रोतों से कोई भी जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। यद्यपि जैन साहित्य में सोम नामक ब्राह्मण के पार्श्व की परम्परा में दीक्षित होने के उल्लेख हैं और यह भी माना गया है कि ये अपनी मृत्यु के पश्चात् शुक्र के रूप में उत्पन्न हुए।[३०५] इसी प्रकार वरुण का उल्लेख एक श्रमणोपासक के रूप में हुआ है, जो रथ-मूसल संग्राम में मारा गया था और मर कर देव हुआ। इसका विश्वास था कि युद्ध में मरने पर स्वर्ग मिलता है।[३०६] इसी प्रकार यमदग्नि के पिता के रूप में यम का भी उल्लेख है।[३०७] यद्यपि ये ही व्यक्ति ऋषिभाषित के ऋषि हैं ऐसा स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी सोम, वरुण आदि नाम के कुछ व्यक्तियों का उल्लेख है, किन्तु उनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के इन ऋषियों से जोड़ पाना कठिन है। वस्तुतः जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों परम्पराओं में इन्हें लोकपाल के रूप में स्वीकृत किया गया है। यद्यपि जहाँ जैन परम्परा में सोम, यम, वरुण और वैश्रमण—ये चार लोकपाल हैं,[३०८] वहाँ वैदिक परम्परा में इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण ये चार लोकपाल हैं।[३०९] इन्हें धर्मोपदेष्टा माना गया हैं। उपनिषदों में यम नचिकेता सम्वाद प्रसिद्ध है। फिर भी ये चारों पौराणिक ही हैं, ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। लोकपालों को

---

३०५. देखें–Prakrit Proper Names, Vol, II. P. 864

३०६. Igid Vol. II–P. P. 677–678

३०७. आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ. ५१६ .

३०८. (अ) Prakrit Proper Names-Vol. II. P. 657;
(ब) भगवती सूत्र ४१७–४१८

३०९. महाभारत नामानुक्रमणिका पृ. २६१

धर्मोपदेशक माने जाने के कारण ही इन्हें ऋषिभाषित में स्थान दिया गया होगा। वैसे इनके साथ लगा अर्हत् ऋषि पद विचारणीय है।

जहां तक इन चारों ऋषियों के उपदेशों का प्रश्न है वहाँ प्रथम तीन अर्थात् सोम, यम और वरुण के उपदेश मात्र एक-एक गाथा में मिलते हैं। मात्र वैश्रमण का उपदेश विस्तार से ५३ गाथाओं में मिलता है।

सोम का उपदेश है कि साधक ज्येष्ठ, मध्यम या कनिष्ठ किसी भी पद पर हो, अल्प से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करे।[३१०]

यम कहते हैं जो लाभ में प्रसन्न और अलाभ में कुपित नहीं होता है वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है।[३११]

वरुण का कथन है कि जो राग-द्वेष से अप्रभावित रहता है वही सम्यक् निश्चय कर पाता है।[३१२]

जहाँ तक वैश्रमण के उपदेशों का प्रश्न है। वे सर्वप्रथम तो काम के निवारण और पाप कर्म नहीं करने का सामान्य उपदेश ही देते हैं। इनके साथ ही अहिंसा के महत्त्व एवं आत्मतुल्यता का आदर्श प्रस्तुत कर अहिंसा के पालन का संदेश देते है।[३१३] इस अध्याय में अगंधण कुल के सर्प,[३१४] तैल-पात्र[३१५] तथा पुण्य-पाप की स्वर्ण और लौह बेडियों से तुलना[३१६] के उदाहरण प्रयुक्त किये गये हैं। जो आगे चलकर उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक चूर्णि, कल्पसूत्रटीका एवं कुन्दकुन्द के समयसार में विकसित हुए हैं।

यह स्पष्ट है कि जैन धर्म एवं दर्शन का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं है जिसके मूल बीज ऋषिभाषित में उपलब्ध नहीं हों। वस्तुतः आज आवश्यकता इस बात की है कि इसमें वर्णित व्यक्तित्वों और उनके उपदेशों का तुलनात्मक दृष्टि से गम्भीर अध्ययन किया जाये। इस ग्रन्थ के तुलनात्मक अध्ययन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह होगी कि जहां एक ओर हम भारत की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं की निकटता के दर्शन करेंगे, वहीं आज की जैन परम्परा में कहाँ से क्या आया है? इसका भी बोध हो सकेगा।

---

३१०. ऋषिभाषित ४१
३११. वही ४२
३१२. वही ४३
३१३. ऋषिभाषित ४५
३१४. वही ४५/४०; तुलनीय उत्तराध्ययन २२/४१
३१५. वही ४५/२२। ३१६. वही ४५/५०

ऋषिभाषित निर्युक्ति और ऋषिमण्डल

यहाँ ऋषिभाषित निर्युक्ति और ऋषिमण्डल के संबंध में भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य भद्रबाहु के निर्युक्ति साहित्य में ऋषिभाषित का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति और सूत्रकृतांग निर्युक्ति में हुआ है। आवश्यक निर्युक्ति में वे ऋषिभाषित पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हुए निम्न गाथा प्रस्तुत करते हैं :—

आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्ति वुच्छामि तहा दसाणं च॥
कप्पस्स य णिज्जुतिं, ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए, वुच्छं इसिभासिआणं च॥

—आवश्यक निर्युक्ति ८४–८५

इसके पश्चात् सूत्रकृतांग-निर्युक्ति में वे ऋषिभाषित के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

तह वि य कोई अत्थो उप्पज्जइ तम्मि समयम्मि।
पुव्वभणिओ अणुमओ य होइ इसिभासिएसु जहा॥

—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति १८६

अर्थात् इसी प्रकार किसी सिद्धान्त (अन्य परम्परा) में कोई विशेष अर्थ परिलक्षित होता है, तो वह ऋषिभाषित के समान पूर्वकथित और मान्य होता है। इस निर्युक्ति गाथा का एक फलित यह भी है कि ऋषिभाषित पूर्व-कथित और मान्य है। यदि पूर्व साहित्य पार्श्व की परम्परा का साहित्य है, जो महावीर की परम्परा द्वारा मान्य है, तो ऋषिभाषित पूर्व साहित्य का ग्रन्थ होने से पार्श्व की परम्परा का ग्रन्थ माना जाएगा; जिसे महावीर की परम्परा में मान्य किया गया था। शुब्रिंग ने अपनी भूमिका में इसे पार्श्व की परम्परा से सम्बद्ध माना है।

भद्रबाहु (द्वितीय) की आवश्यक निर्युक्ति से ऋषिभाषित निर्युक्ति लिखी जाने की सूचना मिलती है। किन्तु, वर्तमान में ऋषिभाषित निर्युक्ति अनुपलब्ध है। परिणामत: आज विद्वानों में इस विषय पर भी मतभेद है कि वे यह निर्युक्ति लिख पाये थे, या नहीं। सामान्य विश्वास यही है कि उन्होंने ऋषिभाषित पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा अवश्य की थी, किन्तु वे लिख नहीं पाये। उनके ऋषिभाषित निर्युक्ति नहीं लिख पाने के दो कारण हो सकते हैं; प्रथम तो यह कि इस निर्युक्ति के लिखने का क्रम आने के पूर्व ही ये स्वर्गवासी हो गये हों अथवा दूसरे यह कि ऋषिभाषित में अन्य परम्पराओं के ऋषियों के विचार संकलित होने से उन्होंने स्वयं ही उस पर निर्युक्ति लिखने का विचार त्याग दिया हो। किन्तु,

आचारांग चूर्णि में निर्दिष्ट 'इसिमण्डलत्थू' एवं उपलब्ध ऋषिमण्डल स्तव (इसिमण्डल) को देखने से मुझे ऐसा लगता है कि ऋषिभाषित निर्युक्ति लिखी अवश्य गई होगी, चाहे आज वह अनुपलब्ध हो। अपने वर्तमान रूप में इसिमण्डल को ऋषिभाषित की निर्युक्ति तो नहीं माना जा सकता है, फिर भी मेरा विश्वास है कि इसमें ऋषिभाषित निर्युक्ति की कुछ गाथायें यथावत् रूप में या परिवर्तित रूप में अवश्य सम्मिलित हैं। मेरे इस विश्वास के कुछ आधार हैं, जिस पर विद्वानों को गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करना चाहिए।

सर्वप्रथम तो हमें यह देखना है कि निर्युक्ति की शैली में तथा ऋषिभाषित की शैली में क्या कुछ समानता है ? निर्युक्ति की शैली की विशेषता यह होती है कि ग्रन्थ के जिस भाग या अध्याय पर निर्युक्ति लिखी जाती है, उसके प्रमुख शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या के साथ उस अध्याय की विषय वस्तु का भी संक्षेप में उल्लेख किया जाता है। इसिमण्डल में इसिभासियाइं (ऋषिभाषित) की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण देने वाली निम्न दो गाथाएं मिलती हैं—

नारयरिसिपामुक्खे, वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि॥
पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता।
पणयालीसं इसिभासियाइं अज्झयणपवराइं॥

—इसिमण्डल–४४, ४५

उपर्युक्त दोनों गाथायें स्पष्ट रूप से इसिभासियाइं (ऋषिभाषित) पर लिखी जाने वाली किसी निर्युक्ति अथवा अन्य व्याख्या ग्रन्थ की प्रारम्भिक गाथाएं हो सकती हैं, वैसे ये दोनों गाथाएं ऋषिभाषित की संग्रहणी गाथा के रूप में भी मानी जाती हैं। इसी प्रकार ऋषिमण्डल में नारद के सम्बन्ध में जो निम्न दो गाथाएं उपलब्ध हैं वे भी ऋषिभाषित के नारद नामक अध्ययन की संक्षिप्त व्याख्या जैसी प्रतीत होती हैं—

सुच्चा जिणिंदवयणं, सच्चं सोयं ति पभणिओ हरिणा।
किं सच्चं ति पवत्तो चिंतंतो जायजाइसरो॥
संबुद्धो जो पढमं, अज्झयणं सच्चमेव पन्नवई।
कच्छुल्लनारयरिसिं, तं वंदे सुगइमणुपत्तं॥

—इसिमण्डल–४२, ४३

यदि हम इन दोनों गाथाओं की तुलना सूत्रकृतांग निर्युक्ति की निम्न गाथा से करें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों में कितना शैली-साम्य है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति की वह गाथा इस प्रकार है—

अद्दपुरे अद्दसुतो नामेणं अद्दओ त्ति अणगारो।
तत्तो समुट्ठियमिणं अज्झयणं अद्दइज्जं ति ॥

—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति-गाथा—१८७

इसी प्रकार ऋषिमण्डल और सूत्रकृतांग-निर्युक्ति की निम्न गाथाओं की तुलना से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कितना शैली एवं भाषा-साम्य है। इसी प्रकार—

नालंदाए अद्धत्तेरस—कुलकोडिकय निवासाए।
पुच्छिअ गोअमसामि, सावयवयपच्चक्खाणविहिं ॥
जो चरमजिणसमीवे, पडिवन्नो पंचजामियं धम्मं।
पेढालपुत्तमुदयं, तं वंदे मुणियसयलनयं ॥

—इसिमण्डल—१०२, १०३

तुलनीय

नालंदाए समीवे मणोहरे भासि इन्दभूइणा उ।
अज्झयणं उदगस्स उ एयं नालंदइज्जं तु ॥
पासावचिज्जो पुच्छियाइयो अज्जगोयमं उदगो।
सावगपुच्छा धम्मं सोउं कहियम्मि उवसन्ता ॥

—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति—२०४, २०५

यद्यपि पौराणिकता और समास बहुल भाषा की दृष्टि से सूत्रकृतांग निर्युक्ति की अपेक्षा ऋषिमण्डल की गाथाएं अपेक्षाकृत कुछ परवर्ती लगती हैं, फिर भी दोनों में शैली साम्य है।

उपर्युक्त तुलनात्मक साम्यता से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषिभाषित पर कोई निर्युक्ति अवश्य लिखी गयी थी, जिसकी गाथाएं यथावत् रूप में अथवा किञ्चित् परिवर्तन के साथ पहले इसिमण्डलत्थू में तथा बाद में धर्मघोष कृतक माने जाने वाले ऋषिमण्डल प्रकरण (इसिमण्डल) में सम्मिलित कर ली गई होंगी। ऋषिमण्डल में ऋषिभाषित के अधिकांश ऋषियों का उल्लेख मिलने से इस धारणा की पुष्टि होती है कि चाहे वर्तमान इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) को ऋषिभाषित की निर्युक्ति अथवा आचारांग चूर्णि में उल्लेखित इसिमण्डलत्थू न भी माना जाये, तो भी यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उनकी अनेक गाथाओं को अपने में समाहित करता है।

'ऋषिमण्डल' के नाम से आज अनेक रचनायें उपलब्ध हैं। इनमें कुछ संस्कत में और कुछ प्राकृत में हैं। इनकी सूचना हमें खम्भात, पाटन और जैसलमेर

भण्डारों की हस्तप्रतों की सूचियों एवं जिनरत्नकोश से मिलती है । किन्तु, प्रस्तुत विवेचन के प्रसंग में ऋषिमण्डल से हमारा तात्पर्य प्राकृत भाषा में उपलब्ध तथा सामान्यतया धर्मघोषसूरि की रचना माने जाने वाले इसिमण्डल को तपागच्छीय धर्मघोषसूरि की रचना माना है, जो चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं । किन्तु, इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया गया है । इसके अनेक कारण हैं :—

१. खरतर गच्छ, तपा गच्छ, अंचल गच्छ और उपकेश गच्छ आदि सभी में धर्मघोषसूरि नामक आचार्यों के होने की सूचना पट्टावलियों से प्राप्त होती है । ऋषिमण्डल की अन्तिम प्रशस्ति-गाथा में 'सिरिधम्मघोसं' मात्र इतना उल्लेख है । अतः इस आधार पर यह निश्चित करना कठिन है कि ये धर्मघोष किस गच्छ के हैं और कब हुए हैं ?

२. जैसलमेर और खम्भात के भण्डारों में इसिमण्डल प्रकारण की प्राचीन प्रतियां उपलब्ध होती हैं । इनमें ऋषिमण्डल प्रकरण की वृत्ति सहित सबसे प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति जैसलमेर भण्डार में मिलती है । इस प्रति का लेखनकाल विक्रम १३८० उल्लिखित है, अतः रचना तो इसके भी पूर्व में हुई होगी । तपागच्छ की पट्टावलियों के अनुसार तपागच्छीय धर्मघोषसूरि का समय वि. सं. १३०२ से १३५७ माना जाता है । यदि यह उनके जीवन के उत्तरार्ध की रचना है तो मात्र २३ वर्षो में उस पर वृत्ति लिखा जाना और उसकी प्रतिलिपियाँ हो जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता है । इसी आधार पर निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित श्री ऋषिमण्डल प्रकरण (वृतियुक्त)की भूमिका (पृ. २) में विजयोमंगसूरि ने इसे तपागच्छीय धर्मघोषसूरि की रचना मानने पर मूल ग्रन्थकार की अपेक्षा व्याख्याकार की प्राचीनता सिद्ध होने की सम्भावना व्यक्त की है । उनकी दृष्टि में यह विधिपक्ष अंचलगच्छनायक जयसिंहसूरि के पट्टधर धर्मघोषसूरि की रचना होने की सम्भावना है । इनका काल वि. सं. १२०८ से १२६८ माना गया है ।

३. ऋषिमण्डल (इसिमण्डल) को धर्मघोषसूरि की रचना मानने में सबसे बाधक प्रमाण यह है कि आचारांग-चूर्णि में 'इसिमण्डलत्थू' का उल्लेख है । अतः इतना निश्चित है कि आचारांग-चूर्णिकार के समक्ष उस नाम का कोई ग्रन्थ अवश्य था । आचारांग-चूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं । विद्वानों ने उनका समय विक्रम संवत ६५० से ७५० तक माना है । नन्दीचूर्णि में उसका रचनाकाल शक सं० ५९८ अर्थात् वि० सं० ७३३ उल्लिखित है । अतः आचारांग-चूर्णि भी लगभग इसी काल की होगी । इससे यह सिद्ध होता है कि 'इसिमण्डलत्थू' उसके पूर्व अर्थात् कम से कम छठीं शताब्दी की रचना अवश्य होगी । विद्वानों ने निर्युक्तियों के रचयिता भद्रबाहु (द्वितीय) का काल भी यही माना है । यहाँ यह भी सम्भावना हो सकती है कि भद्रबाहु द्वितीय ने ऋषिभाषित-निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की हो, किन्तु बाद में उनके स्थान पर स्वयं 'इसिमण्डलत्थू' की रचना की

हो। आचारांग चूर्णि में उल्लिखित 'इसिमण्डलत्थू' का वास्तविक स्वरूप क्या था, आज यह बता पाना कठिन है।

४. ऋषिमण्डल को धर्मघोषसूरि की ही रचना मानने में एक अन्य कठिनाई यह भी है कि ऋषिमण्डल की सभी प्रतियों में वे अन्तिम गाथायें नही हैं जिसमें उसके कर्त्ता के रूप में धर्मघोषसूरि का नाम है। जैन विद्याशाला अहमदाबाद से प्रकाशित गुजराती भाषान्तर युक्त ऋषिमण्डल वृत्ति में भी यह गाथा नहीं है। जैसलमेर भण्डार के केटलाग और खम्भात भण्डार के केटलाग में ऋषिमण्डल की धर्मघोषसूरि कृत मानी जाने वाली प्रतियों में भी गाथाओं की संख्या में भिन्नता है। कुछ प्रतियों में १०८ गाथाओं का उल्लेख है, कुछ में २१० और किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में २२५ तथा २३३ गाथाओं का भी उल्लेख है।

मात्र यही नहीं, ऋषिमण्डस्तव के उपलब्ध प्रकाशित संस्करणों में गाथाओं की संख्या में स्पष्ट रूप से विभिन्नता परिलक्षित होती है—

(अ) ऋषिमण्डल वृत्ति शुभवर्द्धनसूरि कृत वृत्तियुक्त (प्रकाशित जैन विद्या शाला, दोशीवाडा पोल, अहमदाबाद सन् १९२५ ई.) में २०५ गाथायें प्राप्त होती हैं। इसमें कर्त्ता के रूप में धर्मघोषसूरि का उल्लेख नहीं है।

(ब) 'जैन स्तोत्र सन्दोह' में (प्रकाशित प्राचीन जैन साहित्योद्धार ग्रन्थावलि नं. १, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद १९३२) २०९ गाथाएं और अन्त में ग्रन्थ के कर्त्ता के रूप में धर्मघोषश्रमण का उल्लेख है।

(स) 'ऋषिमण्डल प्रकरण', (प्रकाशित पद्ममन्दिर गणि कृत वृत्ति सहित—सेठ पुष्पचन्द्र क्षेमचन्द्र, वलाद वाया अहमदाबाद सन् १९३९ ई.) में २१७ गाथायें उपलब्ध हैं और इसमें कर्त्ता के रूप में 'सिरिधम्मघोससमण' का उल्लेख है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में धर्मघोषसूरि कृत माने जाने वाले ऋषिमण्डल में एकरूपता नहीं है। पुनः गाथाओं के क्रम में भी भिन्नता मिलती है। अतः यह सम्भावना निरस्त नहीं की जा सकती कि वर्तमान ऋषिमण्डल प्रकरण में आचारांग-चूर्णि में उल्लिखित इसिमण्डलत्थू या ऋषिभाषित निर्युक्ति की गाथाएं हों। अतः धर्मघोषसूरि कृतक माना जाने वाला ऋषिमण्डल प्रकरण पूर्णतः उनकी ही रचना हो यह सन्देहास्पद है।

५. ऋषिमण्डल प्रकरण की अन्तिम गाथाओं के सम्बन्ध में विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि अन्तिम ३ या ४ गाथाएँ इसमें बाद में जोड़ी गई हैं।

पूर्व में ऋषिमण्डल प्रकरण देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की ही वन्दना के साथ समाप्त होता होगा। क्योंकि, नन्दीसूत्र की एवं कल्पसूत्र की स्थविरावलियों में भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक के आचार्यों की ही वन्दना की गई है। यदि ऋषिमण्डल प्रकरण वस्तुतः धर्मघोपसूरि की रचना होती, तो इसमें देवर्द्धिगणि के बाद के कुछ प्रमुख आचार्य यथा सिद्धसेन, जिनभद्र, जिनदास, हरिभद्र, सिद्धर्षि, अभयदेव और हेमचन्द्र आदि का भी उल्लेख अवश्य होता। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के वन्दन के पश्चात् इसमें जो ४ गाथायें मिलती हैं उनमें एक गाथा में वर्तमान अवसर्पिणी के पंचम आरे के अन्त में होने वाले दुःप्रसहसूरि नामक मुनि, फल्गुश्री नामक साध्वी, नागिल नामक श्रावक और सत्यश्री नामक श्राविका को वंदन किया गया है। सम्पूर्ण ऋषिमण्डल में यही एकमात्र ऐसी गाथा है जिसमें श्रावक और श्राविका को वन्दन किया गया है। पुनः पंचम काल के अन्त में होने वाले साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका का उल्लेख सर्वप्रथम तीर्थोद्गालिक एवं व्यवहार भाष्य में मिलता है। निश्चित ही ये रचनाएं छठीं शताब्दी के पूर्व की नहीं है। इसके पश्चात् की अगली गाथा में भरत, ऐरावत और विदेह के भूतकालिक और वर्तमानकालिक ऋषियों को समुच्चय रूप में वन्दन किया गया है। इसके पश्चात् की गाथा में ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमती, चन्दना आदि को वन्दन किया गया है। साध्वियों को वंदन इन्हीं गाथाओं में हुआ है। अन्तिम गाथा में ग्रन्थ के रचयिता के रूप में धर्मघोपसूरि का उल्लेख हुआ है। इसमें भी लेखक ने अपने को 'श्रीधर्मघोप' (सिरिधम्मघोस) कहा है। लेखक द्वारा अपने आगे 'श्री' का प्रयोग भी विचारणीय है। मुझे लगता है कि ये गाथाएँ प्राचीन 'इसिमण्डलत्थू' को ही कुछ संशोधित परिवर्द्धित करके बाद में जोड़ दी गई होंगी। यदि यह स्वतन्त्र रचना भी मानी जाये तो भी यह मानने में तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रस्तुत कृति आचारांग चूर्णि में उल्लिखित इसिमण्डलत्थू के आधार पर निर्मित हुई होगी। विद्वानों से इस सम्बन्ध में गम्भीर गवेपणाओं की अपेक्षा है।

ऋषिभाषित की भाषा

ऋषिभाषित का भाषायी स्वरूप एवं छन्द-योजना को लेकर प्रो. शुब्रिंग ने अपनी भूमिका में विस्तार से विचार किया है। उन्होंने उपलब्ध विभिन्न हस्तप्रतों में प्राप्त पाठान्तरों की भी चर्चा की हैं, अतः इस सम्बन्ध में और अधिक विवेचन न तो आवश्यक ही है और न मैं उसके लिये अपने को अधिकारी विद्वान ही मानता हूँ। फिर भी मेरी दृष्टि में प्रो. शुब्रिंग द्वारा सम्पादित मूल पाठ के भी भाषायी दृष्टि से पुनः सम्पादन की आवश्यकता अनुभव करता हूँ।

जहाँ तक ऋषिभाषित की भाषा का प्रश्न है, वह अर्धमागधी का प्राचीन रूप है, जिसमें कहीं-कहीं संस्कृत से निकटता देखी जाती है। भाषा की प्राचीनता

की दृष्टि से उसे आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध और सूत्रकृतांग-उत्तराध्ययन के मध्य रखा जा सकता है। जहाँ सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया है, वहाँ ऋषिभाषित की भाषा सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से मुक्त कही जा सकती है। यद्यपि इसमें भी किञ्चित् रूप महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित प्रतीत होते हैं। किन्तु, उन स्थलों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रभाव लहियों (प्रतिलिपिकारों) के दोष के कारण ही आया होगा। उदाहरण के रूप में ऋषिभाषित के ४५ अध्ययनों में से ४३ अध्ययनों में 'बुइयं' अथवा 'बुइतं' शब्द का प्रयोग है, किन्तु इनमें भी ३६ अध्ययनों में 'बुइतं' पाठ है, मात्र ७ अध्ययनों में 'बुइयं' पाठ है। निश्चित ही 'बुइयं' पाठ महाराष्ट्री प्रभाव का सूचक है, किन्तु यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि स्वयं लेखक ने ३६ अध्यायों में 'बुइतं' पाठ रखा हो और सात में 'बुइयं' पाठ रखा हो। स्पष्ट है कि 'बुइयं' पाठ लहियों की सजगता के अभाव में एवं उन पर महाराष्ट्री के प्रभाव के कारण आ गया होगा। इसी प्रकार 'जधा' और 'जहा', 'मूसीकार' और 'मूसीयार', 'ताती' और 'ताई', 'धूता' और धूयं', 'लोए' और 'लोगे' पाठों को लेकर भी चर्चा की जा सकती है। चालीसवें अध्ययन के अन्त में जहा और जधा दोनों ही पाठ एक ही पंक्ति में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—'जहा वलं जधा विरियं' निश्चित रूप से ये दोनों प्रयोग मूल लेखक को अभीष्ट नहीं होंगे, कालक्रम से ही यह परिवर्तन आया होगा।

पुनः, जहाँ इसके तीसरे, पच्चीसवें एवं पैंतालीसवें अध्ययन में केवल जधा पाठ का ही प्रयोग देखा जाता है, वहाँ नवें, बारहवें, बाईसवें और अट्ठाइसवें अध्ययन में केवल जहा शब्द का ही प्रयोग मिलता है, अतः विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या अध्यायों के संकलन में जहाँ जिस प्रकार का पाठ था, उसे यथावत् रख लिया गया था? अथवा ये परिवर्तन परवर्ती प्रभाव के कारण हुए हैं? सामान्यतया ऋषिभाषित में प्रथम पुरुष के प्रयोग जैसे पभासती, जायति, मेधती, हिंसती, जीवती, विन्दती, विज्जती, छिन्दती, सीदति, विसुज्झती, वस्सती, सिंचति, लुप्पती आदि पाये जाते हैं और महाराष्ट्री प्राकृत के समान इनमें अन्तिम व्यञ्जन के लोप की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। सम्पूर्ण ऋषिभाषित में आठ-दस स्थलों के अतिरिक्त हमें कहीं भी अंतिम व्यंजन का लोप दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसी प्रकार ऋषिभाषित में 'त' श्रुति के स्थान पर 'य' श्रुति के प्रयोग भी नगण्य ही हैं। सामान्यतया सम्पूर्ण ऋषिभासित 'त' श्रुतिप्रधान ही है। आत्मा के लिए उसमें एक दो स्थलों को छोड़कर सर्वत्र आता शब्द का प्रयोग हुआ है। दसवें अध्ययन में सर्वत्र तेतलीपुत्त शब्द का ही प्रयोग है न कि तेयलिपुत्त—जैसा कि ज्ञाताधर्मकथा में पाया जाता है। इसी प्रकार इस अध्याय में उसकी पत्नी के लिए 'मूसिकारधूता' शब्द का प्रयोग हुआ है। यद्यपि एक स्थान पर 'धूयं' शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है। स्पष्ट है कि ये महाराष्ट्री प्रभावित परवर्ती रूप मूल

ग्रन्थ में परवर्ती प्रभाव से ही आये होंगे। हो सकता है कि जब इस ग्रन्थ की ताड़पत्रों पर प्रतिलिपियाँ की गयी होंगी, तब ये परिवर्तन उस युग की भाषा के प्रभाव के कारण प्रतिलिपिकारों के द्वारा इसमें आ गये होंगे। यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत का यह प्रभाव ऋषिभाषित में दो प्रतिशत से ज्यादा नहीं है, जबकि प्राचीन माने जाने वाले अर्धमागधी आगम यथा—आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक में यह प्रभाव लगभग पन्द्रह से पचीस प्रतिशत के लगभग है। यद्यपि इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जहाँ उत्तराध्ययन और दशवैकालिक अधिक प्रचलन में रहे, वहाँ ऋषिभाषित उतना प्रचलन में नहीं रहा। फलतः उस पर उच्चारण में हुए परिवर्तनों का प्रभाव कम हुआ हो, जबकि इन ग्रन्थों के अधिक प्रचलन में रहने के कारण इनके ताड़पत्र आदि पर लिखे जाने के पूर्व ही अन्तिम वाचना तक यह प्रभाव आ चुका होगा। दुर्भाग्य से आगमों के सम्पादन के समय इन तथ्यों पर ध्यान नहीं दिया गया और उनकी भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को सुरक्षित रखने का प्रयास नहीं किया गया। मैं समझता हूँ अर्धमागधी के प्राचीन गन्थों यथा—आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र आदि की प्राचीन हस्तप्रतों को संकलित किया जाये और यदि किसी भी हस्तप्रत में प्राचीन पाठ मिलता है तो उसे सुरक्षित रखा जाये। मात्र यही नहीं, जब एक ही पंक्ति में आता और आया, जघा और जहा, लोए और लोगे पाठ हों तो उनमें से प्राचीन पाठ को ही मान्यता दी जाये। यह सन्तोष का विषय है कि इस दिशा में प्रो. मधुसुदन ढाकी, प्रो. के. आर. चन्द्रा आदि कुछ विद्वानों ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है और हम आशा करते हैं कि भविष्य में जो आगम पाठों का सम्पादन होगा, उनमें इन तथ्यों पर अधिक ध्यान दिया जायेगा, क्योंकि ग्रन्थ का भाषायी स्वरूप उसके काल-निर्णय में बहुत कुछ सहायक होता है, अतः विद्वानों का यह दायित्व है कि ग्रन्थों की भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को सुरक्षित रखें।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और ज्ञाताधर्मकथा के अनेक गाथांश, गद्यांश और शब्द ऋषिभाषित में भी उपलब्ध हैं, किन्तु दोनों के भाषायी स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित का पाठ भाषा की दृष्टि से प्राचीन है। उदाहरण के रूप में ऋषिभाषित के तेतलीपुत्त नामक अध्ययन और ज्ञाता का तेयलिपुत्त नामक अध्ययन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित की भाषा 'त' श्रुतिप्रधान और अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक में जहाँ आत्मा के लिये 'आया' शब्द का प्रयोग है वहीं, ऋषिभाषित में एक-दो स्थलों को छोड़कर सर्वत्र 'आता' शब्द का प्रयोग है। इससे इसकी प्राचीनता सुस्पष्ट हो जाती है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी भाषा और विषय-वस्तु दोनों की दृष्टि से ऋषिभाषित प्राकृत वाङ्मय का प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध होता है। जैसा कि हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं—"यह ग्रन्थ सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर प्राचीनतम एवं ई. पू. पांचवीं शती का ग्रन्थ है।" इस ग्रन्थ का महत्त्व न केवल इसकी प्राचीनता की दृष्टि से है, अपितु इसमें प्राचीनकालीन ऋषियों एवं उनकी मान्यताओं के जो उल्लेख मिलते हैं, वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें अनेक ऐसे प्राचीन ऋषियों के उल्लेख मिलते हैं, जिनके सम्बन्ध में अब अन्य कोई जानकारी का स्रोत ही नहीं रह जाता। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता इसका साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से मुक्त होना है। जैन परम्परा में इस ग्रन्थ का निर्माण जहाँ एक ओर जैन धर्म की सहिष्णु और उदारदृष्टि का परिचायक है वहाँ दूसरी ओर यह इस बात का भी सूचक है कि सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक धारा अपने मूल में एक ही है, चाहे वह आगे चलकर औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक आदि परम्पराओं में विभक्त हो गई हो। ऋषिभाषित ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें औपनिषदिक ऋषियों, ब्राह्मण परिव्राजकों, आजीवक श्रमणों, बौद्ध भिक्षुओं और जैन मुनियों के उपदेशों को एक ही साथ संकलित किया गया है। यह ग्रन्थ भारतीय समन्वयात्मक एवं उदार जीवन दृष्टि का स्पष्ट प्रमाण है। आज जब हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश एवं विद्वेष में आकण्ठ डूबे हुए हैं यह महान ग्रन्थ हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। आशा है इस ग्रन्थ का व्यापक प्रसार हमें साम्प्रदायिक मतान्धता से मुक्त कर सकेगा।

आभार

मैं सर्वप्रथम तो **प्राकृत भारती अकादमी** के मंत्री **श्री देवेन्द्रराज मेहता** एवं **महोपाध्याय विनयसागरजी** का आभारी हूँ जिनके अत्यधिक आग्रह और धैर्य के कारण यह विस्तृत प्राक्कथन शीघ्र पूर्ण हो सका है। यद्यपि इस सम्बन्ध में अभी भी अधिक गम्भीर चिन्तन अपेक्षित है। आशा है हमारे युवा विद्वान् इस कमी को पूरा करेंगे। मेरे कारण इस ग्रन्थ के प्रकाशन में भी पर्याप्त विलम्ब हुआ है इसके लिए मैं प्रकाशकों और पाठकों दोनों के प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ।

साथ ही मैं प्रो. शुब्रिंग आदि उन सब विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्बन्ध में शोधपरक दृष्टि से चिन्तन और विचार-विमर्श किया तथा जिनके लेखनों से मैं लाभान्वित हुआ हूँ। इसी प्रकार मैं Dictionary of Pali Proper Names, Prakrit Proper Names, वैदिक कोश,

महाभारतनामानुक्रमणिका आदि के लेखकों का भी आभारी हूँ जिनके कारण अनेक सन्दर्भ मुझे सहज सुलभ हो सके। अन्त में प्रो० मधुसुदन ढाकी एवं मेरे शोधछात्र और सहयोगी डॉ० अरुणप्रताप सिंह, डॉ० शिवप्रसाद, डॉ० अशोककुमार सिंह आदि का आभारी हूँ जिनका इस प्राक्कथन को पूर्ण करने में मुझे सहयोग मिला है।

सागरमल जैन
आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग
म. ल. बा. कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
ग्वालियर

RISHI-BHASHIT : A STUDY

RISHI-BHASHIT : A STUDY

The Place of Rishibhashit in Jain Literature :

Rishibhashit is one of the oldest works in *Ardhamagadhi* Jain canonical literature. Under the accepted system of classification of Jain canons, this is classified as *Prakeernaka* (anthology). The *Digambar* tradition has 12 *Angas* & 14 *Angabahyas*, but Rishibhashit is not included in them. The *Terapanthi* and *Sthanakvasi* sects of the *Swetambar* tradition also do not include Rishibhashit in the 32 *Agamas* they recognise. The idol worshiping sect of the *Swetambar* tradition recognises 45 *Agamas* including 11 *Angas*, 12 *Upangas*, 6 *Chhedsutras*, 4 *Moolsutras*, 2 *Chulika-sutras* and 10 *Prakeernakas*; Rishibhashita is not included even in these 10 *Prakeernakas*. However, it is included in the list of *Kaliksutras* mentioned in *Nandisutra* and *Pakkhisutra*.[1] The *Angabahya* works listed in *Tattvarthabhashya* of Acharya Umaswati first mention six works including *Samayik* and then *Dashvaikalika*, *Uttaradhyayan*, *Dasha (Achardasha)*, *Kalp*, *Vyavahar*, *Nisheeth* and Rishibhashit[2]. Haribhadra in the *Vritti* of *Avashyak Niryukti* mentions Rishibhashit once with *Uttaradhyayan*[3] and at another place with an anthology titled *Devinduthuya*.[4] The reason for this confusion may be that besides Rishibhashit Haribhadra also came accross *Rishimandal Stava* which gets a mention in *Acharanga churni*. His intension must have been to connect Rishibhashit, *Uttaradhyayan*, and *Rishimandal Stava* with Devinduthuya. It should be noted that *Rishimandal* not only mentions many of the *Rishis* (ascetics) of Rishibhashit but also refers to chapters and contents therein. This indicates that the author of *Rishimandal* must have been aware of and had studied Rishibhashit. The similarity between these two works is so much that with a little variation in sequence and names almost all *Rishis* of Rishibhashit can be found in *Rishimandal*. The mention of *Rishimandal* in *Acharanga churni* (Isinama-kittanam Isimandalatthan, page 374) conclusively establishes that it predates *Acharanga churni* (7th century A. D.). Scholars should give a serious thought to this fact. It is believed that *Rishimandal* was written by

---

Note : For foot-notes please refer to the foot notes of original Hindi text,

Dharmaghosh Suri of *Tapagachchha* sect, but I have my doubts as his period is 14th century A. D. In fact, the language and style of *Rishimandal* indicates that it is an ancient work and its author had studied Rishibhashit. In the course of studies of canons for mendicants prescribed by *Acharya Jinaprabh* in his work *Vidhimargprabha* the list of anthologies to be studied has been concluded with the mention of Rishibhashit.[5] As such, according to the accepted system of classification, Rishibhashit can be classified as an anthological work.

In the ancient Jain tradition it was recognised as an important work. In *Aavashyak Niryukti* Bhadrabahu has expressed his intent to write a *Niryukti* on Rishibhashit.[6] As no such work is available today, it is difficult to surmise if it was written at all. Of course, *Rishimandal*, which finds a mention in *Acharanga churni*, certainly appears to be a connected work. All this goes to prove that upto a certain period Rishibhashit must have been an important work in Jain tradition. *Sthanang* refers to it as a part of *Prashnavyakarandasha*.[7] *Samvayang* has mentioned about its fourtyfour chapters.[8] As already mentioned, *Nandisutra, Pakkhisutra* etc. include it in the classification *Kaliksutra*. *Aavashyak Niryukti* classifies it as a work of *Dharmakathanuyog*.

Style and Period of Rishibhashit :

According to its language, style, and subject matter this is an extremely old work among the Jain canonical works of *Ardhamagadhi* language. I consider this work being of a period slightly later than that of first Shrutaskandha of Acharanga but earlier than that of other ancient works like Sutrakritang, Uttaradhyayan, and Dashvaikalika. Even its present form can under no circumstances be dated later than 3rd or 4th century B.C. As per the information available in *Sthanang* this work was originally a part of *Prashnavyakarandasha;* the ten *Dashas* described in *Sthanang* include Rishibhashit also. *Samvayang* informs that this contains 44 Chapters. As such Rishibhashit certainly pre-dates these works. In *Sutrakritang* there is a mention of ascetics like *Nami, Bahuk, Ramaputta, Asit Deval, Dvaipayan,* and *Parashar* as also little indications about their ritual beliefs. They have been addressed as ascetics and great men. These ancient *Rishis* have been recognised by *Sutrakritang,* an exposition by *Arhat.* All these Rishis attained liberation inspite of their consumption of seeds and water[9].

This gives rise to the question as to which work predating *Sutrakritang* has accepted these people in the exalted position ? In my opinion only Rishibhashit is such a work. The term 'Iha-sammata', from

the verse in *Sutrakritang,* appears to be refering to the antiquity of Rishibhashit rather than *Sutrakritang* itself. It should be noted that in both Sutrakritang as well as Rishibhashit, many Rishis of traditions other than Jain, e.g. Asit Deval, Bahuk etc., have found a revered mention. Although these two are mainly in verse, from the viewpoint of language first *Shrutaskandha* of *Sutrakritang* appears to be of a later period. This is because the language of *Sutrakritang* is nearer to *Maharashtri Prakrit* whereas that of Rishibhashit is ancient *Ardhamagadhi,* leaving aside a few later changes. Also, *Sutrakritang* has criticised the thinkers of other traditions but Rishibhashit has eulogised them.

This is a firmly established fact that this work was created prior to the institutionalisation of Jain religion and social organisation. Study of this work explicitly indicates that at the time of its writing Jain organisation was completely free of sectarian bias. *Mankhali Goshalak* and his philosophy find mention in Jain canons like *Sutrakritang*[10], *Bhagvati*[11], and *Upasakdashang*[12] and Buddhist works like *Suttanipata, Deeghnikaya (Sammanjafalasutta)*[13]. Although there is no specific mention of *Mankhali Goshalak* in *Sutrakritang, Niyativad* has been commented upon in its chapter titled *Aardrak.* Analysing from the view point of development of sectarian feelings, the portion of Bhagvati dealing with Mankhali Goshalak clearly appears to be of later period than even Sutrakritang and Upasakdashang. These two works as well as many works of Pali Tripitaka mention the Niyativad of Mankhali Goshalak and then counter it. Still, unlike Jain Canonical works, the Suttanipaṭa has recognised the influential personality and value of the works of Mankhali Goshalak by including his name in the list of six Teerthankaras contemporary to Buddha[14]. Rishibhashit has gone a step further and eulogised him as Arhat Rishi.

As such from the viewpoint of religious tolerance, the period of Rishibhashit is earlier than that of Pali-Tripitak. This is because the growth of sectarianism sets in only after a religion becomes properly organised. Rishibhashit indicates that it had been written much earlier than the beginning of sectarianism in the Jain tradition. Except the first *Shrutaskandha* of *Acharanga* all the other Jain canonical works reflect sectarian views in varying degrees. This proves that, leaving aside first *Shrutskandha* of *Acharanga,* Rishibhashit is the oldest of all Jain canonical works. Even the language and style indicate it to be a work of a period some-where between first *Shrutaskandha* of *Acharanga* and first *Shrutaskandha* of *Sutrakritang.*

The oldest work of Buddhist *Tripitak* literature is *Suttanipata*[15], but even that is not as tolerant as Rishibhashit. The *Tripitak* literature refers to some of the *Rishis* of Rishibhashit, namely—*Narad*[16], *Asit Deval*[17], *Ping*,[18] *Mankhaliputta*[19], *Sanjaya (Velatthiputta*[20]*)*, *Vardhaman (Nigganth Naataputra*[21]*)*, *Kumaputta*[22] etc; but they have been considered at a lower level than Buddha. In other words these Buddhist works were also not free of sectarian bias, and as such they should be of a later period.

Many excerpts of the chapters in Rishibhashit are found, with similarity in content, language, and composition, in *Sutrakritang, Uttaradhyayan*, and *Dashvaikalik* of Jain tradition and *Suttanipata* and *Dhammapada* of Buddhist tradition. As such in terms of style of these works Rishibhashit proves to be of an earlier period. It may be argued that the ideas and verses may have gone from Buddhist *Tripitak* literature and Jain *Uttaradhyayan* and *Dashvaikalik* to Rishibhashit. But this is not true because the language and style of Rishibhashit is older as compared to that of these works; also it is much nearer to the language and style of the first *Shrutaskandhas of Acharanga* and *Sutrakritang*, and *Suttanipata*. Moreover, Rishibhashit has mentioned the ideas as general principles propagated by different Rishis, but Buddhist *Tripitak* literature and later Jain works have tried to include these ideas as belonging to their own respective traditions. For example philosophical cultivation has been dealt with in Rishibhashit[23] twice and once in *Suttanipata*[24]. Whereas in *Suttanipat* Buddha says that he does this type of philosophical cultivation, in Rishibhashit the *Rishi* says that whoever does this type of cultivation gets liberated irrespective of his cast and creed. Thus Rishibhashit is conclusively proved to be of an earlier period than that of Jain or Buddhist works except first *Shrutaskandha* of *Acharanga*.

Considering from the view point of language we find that Rishibhashit has, to a larger extent, maintained the most ancient form of *Ardhamagadhi Prakrit*. For example in Rishibhashit *Atma* has been mentioned as *Ata* but in Jain *Anga* literature *Atta, Appa, Aada, Aaya*, and other words have been used which are variations belonging to later periods. The free use of the consonant *Ta* conclusively puts this work in an earlier period than *Uttaradhyayan* as in *Uttaradhyayan* there is a tendency of avoiding this consonant. Rishibhashit also abundently uses word-forms like, *Janati, Paritappati, Gachchhati, Vijjati, Vattati, Pavattati*. This also confirms the antiquity of this work in context to both, subject and language.

The story of the serpent of *Agandhan* clan is found in *Uttara-*

dhyayan[25], *Dashvaikalik*[26] as well as Rishibhashit[27]. But examining all the three, it becomes evident that its mention in Rishibhashit is much older than the other two. Reason being that in Rishibhashit it has been quoted just as an example so that the mendicant does not stray from his path; but in *Dashvaikalik* and *Uttaradhyayan* it has been included as an incident in the life of Rajimati and Rathnemi.

As such Rishibhashit is older than *Suttanipata*, *Uttaradhyayan* and *Dashvaikalik*. That means it is of a period later than that of first *Shrutaskandha* of *Acharanga* but an earlier work than all other *Ardhamagadhi* canonical literature. Also being earlier to *Suttanipat* it becomes earlier to all *Pali Tripitak*.

As regards deciding its period on the basis of the historical *Rishis* mentioned in Rishibhashit, besides *Vajjiyaputta* all other *Rishis* were either contemporary to Mahavir and Buddha or earlier to them. According to *Pali Tripitak Vajjiyaputta* was also a young contemporary of Buddha; he was nearer to Anand in age. The *Vajjiyaputtiya* sect also came into existence within a hundred years of Buddha's *Nirvana*, which establishes that he was a young contemporary of Buddha. Accordingly, from historical viewpoint Rishibhashit must have been written in the first century after *Nirvana* of Buddha or Mahavir; later changes in the text cannot be ruled out. In my opinion the period of its writing is not earlier than fifth century B. C. and certainly not later than third century B. C. I have not come accross any evidence, within and outside the text, that may point toward its writing being outside this period.

From the angle of philosophical developments we find that it does not contain the finely developed forms of Jain or Buddhist principles. Only five fundamentals and eight *Karma* have been mentioned. It is also possible that these concepts were popular with the followers of Parshwa and trickled into Mahavir's tradition from there only. Concepts like *Parishah* and *Kashaya* are certainly ancient. Even the expositions of *Vatsiyaputra*, *Mahakashyap*, *Sariputra* and other Buddhist *Rishi*, in Rishibhashit also contain the ancient Buddhist principles like *Santativad*, *Kshanikvad* only. As such, from Buddhist angle also, Rishibhashit is older than *Pali Tripitak*.

The Writing of Rishibhasit :

Regarding the creation of Rishibhasit, Prof. Schubring and other scholars maintain that it must have been originally written in the tradition of Parshwa, as the influence of that tradition is clearly seen in the first

chapter where celibacy and non-possessiveness have been combined, as in the *Chaturyam* system[29]. The detailed chapter of Parshwa further confirms this inference.

Another basis of considering it to be a work of Parshwa's tradition is that that tradition was comparatively more tolerant; it was also much closer in conduct to other sects of ascetics and *Shramans*. With the assimilation of the followers of Parshwa's tradition into Mahavir's tradition this work also came along and was included as a part of *Prashnavyakaran Dasha* by Mahavir's followers.

The Separation of Rishibhashit from Prashnavyakaran :

It now becomes obvious to ask why it was first included in *Prashnavyakaran Dasha* and then separated from it. As it is purely a compilation of philosophical exposition, I feel, the earlier monks of Mahavir's tradition did not find any objection in including Rishibhasit in their own literature. But when the Jains formed an organised society with an independent tradition, it must have become difficult to include the monks of other tradition into their own ranks. In my opinion the separation of Rishibhasit from *Prashnavyakaran* was not accidental but with a purpose. It was not possible to preserve their exposition at one end and at the other criticise and demean *Mankhaligoshalak* in *Sutrakritang, Bhagvati*[30] and *Upasakdashang*[31]; and Narad in *Jnatadharma*.[32] By first century A. D., to keep Jain faith intact had become the primary task. It became difficult to accept the works of Narad, Mankhali Goshalak, Yajnavalkya, Sariputra etc. as the canonical expositions of *Teerthankars*; still, credit goes to Jain *Acharyas* for safe keeping of Rishibhashit as a work of anthology inspite of its being excluded from *Prashnavyakaran*. Also, in order to maintain its authenticity it was accepted as expositions by omniscients out of Jain tradition. The sectarian system, however, propogated that the persons named as Parshwa, Vardhaman, Mankhaliputra, etc. in Rishibhashit were not the same as their name sakes in Jain *Agams*.

Why the Rishis of Rishibhashit were called Pratyekbuddha ?

In the original text of Rishibhashit Ketaliputra has been referred to as *Rishi*; Ambad (25) as *Parivrajak*, Ping (32), Rishigiri (34) and Shrigiri as *Brahmin (Mahan) Parivrajak Arhat Rishi*; Sariputra as *Buddha Arhat Rishi*; and all others as *Arhat Rishi*. In the chapter titled *Utkat (Utkal)* the name of the expounder has not been mentioned at all, as such there is no need of an adjective. Although the appendix at the end of Rishibhashit[33] and *Rishimandal*[34] has referred to all these persons as *Pratyekbuddha*, and twenty of them as contemporary to Arishtanemi, fifteen as contem-

porary to Parshwanath and remaining as contemporary to Mahavir; this appears to be a later addition to the text. In the original text there is no mention of them as *Pratyekbuddha.*

In *Samvayang,* however, while detailing the subject matter of *Prashnavyakaran* it has been mentioned that it is a compilation of discourses of contemporary and other *Pratyekbuddhas.* As Rishibhashit had been a part of *Prashnavyakaran,* indirectly *Samvayang* provides the first acceptance of the *Rishis* of Rishibhashit as *Pratyekbuddhas*[35]. It is obvious that as majority of the *Rishis* of Rishibhashit were not of Jain tradition, in order to accept their discourses, they were believed to be *Pratyekbuddhas.* In Jain as well as Buddhist tradition, *Pratyekbuddha* is a person who attains ultimate knowledge through his solitary practices commenced by his own inspiration; he neither becomes a disciple of someone nor makes disciples to form an organisation. As Such a *Pratyekbuddha* is not confined within a tradition or institutional organisation, but he is a respected person in society and his preachings are considered to be authentic.

Rishibhashit and Principles of Jainism :

A comprehensive study of Rishibhashit forces us to consider whether it propogates the beliefs of *Rishis* of other traditions or it is just a propogation of Jain beliefs in their name. A cursory glance makes one believe that only Jain beliefs have been propogated in their name. Prof. Schubring and, with his reference, Prof. Lallan Gopal have infered that the compiler lacks authenticity in quoting the discourses of *Rishis* and has presented them in his own way; the basis for this inference is the similarity of beginning as well as end of each discourse. This conclusion appears to be true looking at the Jain traditional terms like *Panch Mahavrat, Kashaya, Parishah* etc.

For example, in the chapter of Narad there is a mention of four ways of cleansing which is nothing but propogation of the *Chaturyam* conception of Jains. In the chapter of Vajjiyaputta the *Karma* principles have been propogated. This Chapter confirms that life is directed by *Karma,* and attachment is the cause of sorrow. It also explains that the transition of *Karma* in attachment and vice versa is cyclic like seed and plant. The cycle of *Karma* is terminated by wiping out attachment first as destruction of roots destroys leaves, flowers, and fruits of a tree. This concept of *Karma* can also be found in chapters 13, 15, 24, and 30 of Rishibhashit. Similar details are also available in Jain tradition in the thirty second chapter of *Uttaradhyayan.*

Similarly, the third chapter of Asit Deval in Rishibhashit contains

the concept of sin being same as adhesive; this concept is popular in Jain tradition having a particular mention in *Acharanga*. This chapter also contains the mention of *Panch Mahavrat*, four *Kashaya* as well as eighteen sins from *Himsa* to *Mithyadarshan Shalya*. Also included is the form and details of *Moksha* which is *Shiv, Atul, Amal, Avyaghat, Apurnabhava, Apunaravrata* and *Shashvat*. Similar description of *Moksha* is available elsewhere in Jain canonical literature. The mention of *Panch Mahavrat* and four *Kashaya* can be found in many chapters of Rishibhashit.

The ninth chapter of Mahakashyap contains details of *Punya, Papa, Samvar*, and *Nirjara*. This chapter mentions *Kashaya* also. In the ninth chapter, while discussing inflow of *Karma*, the causes have been named as *Mithyatva Drishti, Pramad, Kashaya*, and *Yoga*; which is similar to that in the Jain tradition. It also contains many Jain traditional words like *Upkram, Baddha, Sprishtha, Nikachit, Nirjirna, Siddhi, Shaileshi Avastha, Predashodaya, Vipakodaya*, etc. The concept of the soul being eternal and transitory, the form of *Siddha* stage and the process of bondage and shedding of *Karma*, mentioned in this chapter are same as those in Jain philosophy.

Similarly the concepts of *Dravya, Kshetra, Kala*, and *Bhava* are also found in many chapters. The twelfh chapter of Yajnavalkya talks about process of *Gochri* and *Shuddhaishana* which are same as in Jain tradition. "Soul is the doer of *Karma* and sufferer of consequences bad or good," has been mentioned in the fifteenth chapter of Madhurayan. The seventeenth chapter of Vidur contains mention of *Savadyayog Virati* and *Samabhava*. Ninteenth chapter of Aariyayana refers to *Arya Jnana, Arya Darshan*, and *Arya Charitra* which are akin to *Samyak Jnana, Samyak Darshan* and *Samyak Charitra*. The twenty second chapter emphasises the predominence of male in the field of religion and demeans female which is same as in the Itthiparinna chapter or *Sutrakritang*.

In the twentythird chapter of Ramaputta, just like *Uttaradhyayan* (28-35), topics about seeing through *Darshan*, detachment, three disciplines, and dissolution of eight types of *Karma* through *Tapa* have been discussed. The concept of eight types of *Karma* is a speciality of Jainism. Again, there is mention of *Jnana, Darshan*, and *Charitra* in the twenty fourth chapter. The same chapter also includes the four *Gatis* namely, *Deva, human, Tiryanch* and *Narak*. The twentyfifth chapter titled Ambad discusses four *Kashaya*, four *Vikatha*, five *Mahavrata*, three *Gupti*, discipline of five senses, six life forms, seven fears, eight prides, nine *Brahmacharyas* and ten places of meditation. This chapter also discusses the six reasons for eating which are also found in *Sthanang* (Stha-6). It may

be noted that although Ambad has been mentioned in Jain canons as a *Parivrajak*, it has been said that he respected Mahavir[36]; that is the reason that this chapter contains maximum number of Jain concepts.

In the twentysixth chapter of Rishibhashit the description of *Brahmin* has been included just like that in twentyfifth chapter of *Uttaradhyayan*. Same chapter also mentions *Kashaya, Nirjara*, six life forms and compassion towards all living. In the thirtyfirst chapter of Parshwa we again come across *Chaturyam, Ashtavidh-Karm Granthi, Char Gati, Panchastikaya* and *Moksha Sthana*. This chapter, like Jain concepts, conveys that living being moves upwards and matter downwards. However, the presence of Jain concepts in this chapter is not out of place because Parshwa has been accepted as one belonging to Jain tradition.

Lately, scholars have started believing that the knowledge of Jains has been inherited from the tradition of Parshwa. Schubring has also recognised the influence of Parshwa tradition on Rishibhashit. Again the thirtysecond chapter of Ping propogates the liberation of four *Varnas* just like the Jain belief. The thirtyfourth chapter also contains discourses about *Parishah* and *Upasarg*. This chapter also discusses the liberation of monk indulging in five *Mahavrata*, free of *Kashaya*, free of attachment and inflow of *Karma*. Thirtyfifth chapter of Uddalak, once again, contains mention of three *Gupti*, three *Danda*, three *Ralya*, four *Kashaya*, four *Vikatha*, five *Samiti, Panchendriyasanyam, Yogasandhan, Navakoti Parishuddha*, details of different clans free of ten *Dosha*, acceptance of eatables prepared for others, cold and lifeless. The same chapter also mentions *Sangya* and 22 *Parishaha*.

Thus, we observe that Rishibhasit contains many Jain concepts. It is natural to question if the Jain *Acharyas* have compiled their own concepts in the name of the *Rishis* of Rishibhashit or the concepts were originally of these *Rishis* and percolated into Jain tradition. It is evident that leaving aside Parshwa and Mahavir, all other *Rishis* of Rishibhashit were either independent ascetics or belonged to traditions other than Jain. Some of them, however, can be found in *Uttaradhyayan* and *Sutrakritang*. If we conclude that the concepts do not belong to the *Rishis* named, the authenticity of the work and its compiler becomes doubtful. On the other hand, to accept that all these concepts came to Jains from other traditions is also not satisfactory. So we proceed first to examine if the concepts mentioned in Rishibhashit are of the *Rishis* named or of Jain *Acharyas*.

Question of Authenticity of Concepts preached in Rishibhashit :

Although all the concepts and related literature of all the *Rishis* of Rishibhashit are not available in traditions other than Jain, still, concepts and thoughts of many are available in other traditions, even today. Yajnavalkya is mentioned in *Upnishads*, Vajjiyaputta, Mahakashyap, and Sariputta can be found in Buddhist *Tripitak* literature. Similarly, Vidur, Narayan, Asit Deval etc. find place in *Mahabharat* and other works of Hindu tradition. By comparing their ideas mentioned in Rishibhashit with other sources we can evaluate their authenticity.

In eleventh chapter of Rishibhashit, the discourse of Mankhali Goshalak are compiled. *Bhagwati Sutra* and *Upasakdashang* of Jains; *Suttanipata* and *Samanja Mahafal Sutta* in *Deeghnikaya* of Buddhists; and 177th chapter of *Shantiparva* in *Mahabharat* of Hindus are other works where Mankhali Goshalak or Mankhirishi has been mentioned. All the three sources tell him to be a supporter of *Niyativad*. His discourses in Rishibhashit also contain indirect references to *Niyativad*. It is stated in this chapter that he who trembles, feels pain, is irritated, hurt, moved, inspired by seeing the transformation in matter is not detached. A detached one does not have all these effects on seeing the transformation of matter. This is an indirect confirmation of *Niyativad* in relation to the transformation of matter. The world has its own movement and parameters according to which it continues to move. A mendicant should look at and understand this movement, but should not be influenced by that.

The basic philosophical teaching of *Niyativad* ought to be that one should only remain as a witness in the eventful movement of this world. In this manner this chapter reflects only the basic philosophical teachings of Goshalak. On the other hand the description of the principle of Mankhali Goshalak in Jain and Buddhist literature is in fact a distorted inference. The author of Rishibhashit is, in fact, much more authentic than the authors of *Tripitak* and later Jain canons.

The preachings of Mankhi Rishi of 177th Chapter of *Shantiparva* in *Mahabharat* confirms *Niyativad* on one hand and preachings of detachment on the other. This chapter mainly preaches spectator's uninvolved attitude and detachment from the world. It preaches detachment through *Niyativad* only. The world has its own system of movement and man cannot convert it to suit his needs, as such he should become detached by maintaining an attitude of uninvolved witness. The uniqueness of this chapter of *Mahabharat* is that accepting Mankhi Rishi as supporter

of *Niyativad,* he has been believed to be proceeding towards detachment through his *Niyativad.*

On this basis it can be concluded that the preachings of Mankhaliputra available in Rishibhashit are authentic.

Similarly preachings of Mahakashyap are compiled in 9th chapter and Sariputta in 38th chapter; both are connected with Buddhist tradition. When we contemplate the ideas expressed in these chapters the presence of basic tenets of Buddhism becomes clearly evident. The discourses of Mahakashyap first of all deals with the sorrows of the world. At the root of all sorrows is *Karma* and at the root of *Karma* is birth itself. This is just a form of *Pratitya Samutpad* of Buddhism.

Another speciality in this chapter is the mention of *Santanvad* while propagating the *Karma* principle; *Santanvad* is one of the basic principles of Buddhism. In order to explain the concept of *Nirvana* the metaphor of lamp *(Deepak)* has been used; this is a popular and basic metaphor from Buddhism. The whole discourse preaches detachment through *Santanvad* and *Karmasamskar.* This makes us conclude that this chapter contains seedlings of Buddhism.

Similarly, 38th chapter of Sariputta contains basic tenets of Buddhism in the form of *Madhyam Marg.* Alongwith is mentioned the *Prajnavad* of Buddha. It has been mentioned in this chapter that a monk can meditate conveniently with the availability of desired living quarters, bed and eatables. Still the wise should not crave for mundane things. Same is the discipline of Buddha and so this chapter too presents the preachings of Buddha with authenticity.

Same is the story about the 12 th chapter, where the original preachings of Yajnavalkya have been included. Besides Rishibhashit, Yajnavalkya finds mention in *Upanishads* and *Mahabharat*[37]. In *Upanishad,* alongwith the dialogue between Yajnavalkya and Maitreyi is mentioned their desire towards *Sanyas.* In Rishibhashit also Yajnavalkya preaches getting rid of wordly desires and desire for wealth, he also mentions that both of these are intertwined and inseperable. As such, knowing these both one should tread the *Gopath* not *Mahapath.* It appears that *Gopath* is the path of detachment and *Mahapath* is the path of attachment; Yajnavalkya seems to be preaching the path of detachment.

It is worth pondering if the development of the *Hinayan* and *Mahayan* concepts of Buddhism is not merely the evolved form of this

concept of *Gopath* and *Mahapath. Mahayan* word in also found in *Acharanga.* In the chapters 310 to 318 of *Shantiparva* in *Mahabharat* are compiled the preachings of Yajnavalkya. This mainly expounds the *Sankhya* and Yoga concepts. This chapter of Rishibhashit also talks about the procedure of collecting alms by a monk, which is similar to the Jain method. Still this can be said that the author of Rishibhashit has not distorted the basic preachings of Yajnavalkya.

In the twentieth chapter of *Utkata, Bhautikavad* or *Charvak Darshan* has been propogated. Although there is no mention of the author of this chapter it is certain that the ideas of *Charvak* have been propounded with complete authenticity. The preachings of Vardhaman available in Rishibhashit are found in almost exact similarity in the chapter titled *Bhavana* of second *Shrutaskandha* of *Acharanga* and 32nd chapter of *Uttaradhyayan.*

On the aforesaid evidences we may conclude that generally the preachings of various *Rishis* have been presented authentically. However, mainly it contains only the meditational and moral aspects without any emphasis on philosophical background. This is also true that its presentation and writing has been done by Jain *Acharyas*; and so it is natural that some concepts of Jains reflect predominently in this work. Also there is enough evidence that what we today consider as Jain concepts, could originally have been concepts belonging to other traditions creeping in later into Jainism. As such the authenticity and originality of the preachings of *Rishis* of Rishibhashit cannot totally be set aside. At the most we may deduce that there is an indirect influence of Jain tradition over them.

The historic background of Rishis of Rishibhashit :

It is clearly established that most of the *Rishis* of Rishibhashit were not connected with Jain tradition. The adjectives like *Brahmin Parivrajak* indicate that they were from non-Jain traditions. Also, some names like Dev Narad, Asit deval, Angiras Bhardwaj, Yajnavalkya, Bahuk, Vidur, Tharishen Krishna, Dvaipayan, Aruni, Uddalak, Narayan have been popular in Vedic tradition and their teachings are intact in *Upanishads, Mahabharat,* and *Puranas* even today. The names of Dev Narad, Angiras Bharadvaj, Dvaipayan also find their mention in *Sutrakritanga, Aupapatik, Antkritdasha* besides Rishibhashit in Jain tradition as also in Buddhist Tripitak literature.

Similarly, Vajjiyaputra, Mahakashyap, and Sariputra are famous personalities of Buddhist tradition and are mentioned in *Tripitak* literature.

Mankhaliputra, Ramputta, Ambad (Ambashta), Sanjaya (Velatthiputra) are names which belong to 'independent *Sraman* traditions and their mention can be found both in Jain and Buddhist traditions. Prof. C. S. Upasak, in his article *"Isibhasiyam and Pali Buddhist Texts :* A Study" has discussed in details those *Rishis* of Rishibhashit who have been mentioned in Buddhist literature. This article is being published in *Pt Dalsukh Malvania Abhinandan Granth.* Parshwa and Vardhaman are the famous, twenty third and twenty fourth *Teerthankars* in Jain tradition. Ardrak is found in *Sutrakritanga* besides Rishibhashit. Besides these, Valkalchiri, Kurmaputra, Ketaliputra, Tetaliputra, Bhayali, Indranaag are names most of whom are mentioned in Isimandal and other Jain works. Valkalchiri and Kurmaputra etc. are also mentioned in Buddhist tradition. However, even those who are neither mentioned in Jain nor Buddhist tradition, cannot be termed as fictitious.

On looking at the complete list of Rishis of Rishibhashit we find that only Soma, Yama, Varuna, Vayu, and Viashraman are such names which may be said to be fictitious because they have been accepted only as *Lokpals* in the Jain, Vedic, and Buddhist traditions. But even out of these Vayu has been mentioned as a *Rishi* in Mahabharat Yama has been said to be the father of Yamadagni Rishi in *Aavashyak Churni.* The possibility of Yama being a *Rishi* cannot completely be ruled out, although even Upanishads have described Yama as *Lokpal.* This is certain that he was a preacher, as the dialogue between Yama and Nachiketa is well known in *Upanishadic* tradition. Varuna and Vaishraman have also been accepted as preachers of *Mantras* in Vedic tradition. It is possible that till the writing of Rishibhashit Soma, Yama, Varuna, and Vaishramana were recognised as preachers and that is why their discourses were included in Rishibhashit.

Thus, we may conclude that excepting four or five monks all the other *Rishis* of Rishibhashit actually existed during prehistoric and historic periods, and are not just fictitious characters.

I would only like to conclude that Rishibhashit is a valuable work not only of Jain tradition but also of the Indian tradition as a whole. The religious tolerance of Indian thought is truly reflected in this work. It also has a historical importance because it provides valuable and authentic information about many known and some unknown Rishis and their preachings. The Jain *Acharyas* have done a valuable service to Indian literature and culture by preserving this work. In fact this work is an undeniable proof of historical existence of many Indian *Rishis* of the period between 10th and 5th century B. C.

THE PERIOD AND TRADITIONS OF SAGES OF RISHIBHASHIT

According to the Jain tradition, out of these 45 sages, twenty are believed to be contemporaries of Arishtnemi, fifteen that of Parshwa and remaining ten that of Mahavir[38]. *Isimandal* also confirms this fact. However, this division does not follow the order that the first twenty belong to the period of Arishtnemi, the following fifteen belong to the period of Parshwa and the last ten belong to the period of Mahavir. If they are considered to be in that order then the 29th sage, Vardhaman will have to be accepted as contemporary to Parshwa and the 40th sage Dvaipayan will have to be accepted as contemporary to Mahavir. On the contrary, the truth is that Dvaipayan was contemporary to Arishtnemi and Vardhaman was Mahavir himself. As such it would not be correct to believe that the list of sages can be divided into the periods of Arishtnemi, Parshwa, and Mahavir in the same order as mentioned in Rishibhashit; which sage belongs to what period has to be re-evaluated. Schubring himself has not given any clear indication in this context.

Schubring has made an effort to evaluate the traditions of the sages in his preface to *Isibhasiyam*[39]. According to him Yajnavalkya, Bahuk (Nala), Arun Mahashalputra or Aruni, and Uddalak clearly appear to be of *Upanishadic* tradition. at the same time Ping, Rishigiri, and Shrigiri have been titled *Brahmin Parivrajak* and Ambad as *Parivrajak*. As such, these four are also connected with *Brahmin* tradition. Yogandharayan, who had dialogue with Ambad, also appears to be a sage of Brahmin tradition. Similarly Madhurayan, Aryayan, Tarayan (Narayan) also seem to be belonging to *Brahmin* tradition. Angiras and Varishen Krishna are also believed to be from *Brahmin* tradition. According to Schubring, Mahakashyap, Sariputta, and Vajjiyaputra are connected with Buddhist tradition. I feel that he is correct. Schubring has expressed his inability to attach any tradition to Pushpshalputra, Ketaliputra, Vidu, Gathapatiputra, Tarun, Harigiri, Matang and Vayu, in absence of any evidence.

If we examine Schubrings views on the basis of available evidence, Narad, Asit Deval, Angiras Bhardwaj, Yajnavalkya, Uddalak, Ping and Narayan can be conclusively accepted as sages of Vedic or Upanishadic tradition. Similarly, I have no objection in accepting Mahakashyap, Sariputta and Vajjiputta as belonging to the Buddhist tradition. Parshwa and Vardhaman are conclusively from Jain tradition. The remaining names need to be studied from a variety of angles.

Although it is difficult to ascertain the historical existence and tradition of Pushpshalputra, Valkalchiri, Kummaputra, Ketaliputta, Bhayali, Madhurayan, Sauryayan, Aryayan, Gardabhali, Gathapatiputra, Tarun, Varatraya, Aardrak, Vayu, Sanjaya, Indranaga, Som, Yama, Varun, Vaishraman etc., if we analyse their histroical existence on the basis of their mention available in the Jain, Buddhist, and Vedic traditions we may arrive at some conclusion.

Prof. C. M. Upasak has given such an evaluation in his article titled "Isibhasiyam and Pali Buddhist text.," but he has limited this study only to Buddhist Tripitak literature. In this preface I am trying to go a step ahead of the efforts of Schubring and Upasak, with authenticity based on comparative and critical analysis. As such I now take up a more serious study of each individual sage of Rishibhashit one by one.

1. DEV NARAD

The first chapter of Rishibhashit is about *Arhat Rishi* Dev Narad. Mentions about Narad are found in Jain, Buddhist, as well as Hindu traditions. In Jain tradition, Narad finds place, besides Rishibhashit[40], in *Samvayang*[41], *Jnatadharmakatha*[42], *Aupapatik*[43], *Rishimandal*[44], and *Avashyak-churni*[45]. *Samvayang* states that Narad shall be re-incarnated as the twenty first *Teerthankar* Vimal in the coming time-cycle (ascending). As such Rishibhashit and *Samvayang* both have referred to Narad with reverence. He has been accepted as *Pratyekbuddha* indirectly in *Samvayang* and directly in Rishibhashit. But we shall have to recall that there are differences in the concepts of *Arhat Rishi*, *Pratyekbuddha* and *Teerthankara*.

According to Jain tradition *Arhat* and *Pratyekbuddha* get liberated in the same life, whereas future *Teerthankara* gets liberated after two rebirths. As per Jain tradition there is no scope of *Arhat* or *Pratyekbuddha* becoming a future *Teerthankara*. This proves that the concepts of *Pratyekbuddha* and future *Teerthankara* evolved only after the writing of Rishibhashit. Although, from one point of view, both these concepts are efforts towards eulogising a person, future *Teerthankara* is acceptable to Jain tradition but *Pratyekbuddha* is not. In this process of rejecting, most of the *Rishis* of Rishibhashit have been termed as *Pratyekbuddha* and in process of accepting, some of them have been termed as future *Teerthankaras*.

The Dev Narad of Rishibhashit has been mentioned as Kalchhul Narad in *Jnatadharmakatha* and *Isimandal (Rishimandal)*, but this is just

another name of the same person. This is because, in the appendix of Rishibhashit he has been shown as contemporary of Arishtanemi and the Narad of *Jnatadharmakatha* was also contemporary of Krishna and Arishtanemi. In *Jnatadharmakatha* he has been described as sober and a scholar of many subjects at one place and as evil and quarrelsome at another. In *Aupapatik* Narad has been mentioned as *Brahmin Parivrajak. Aupapatik* and *Jnatadharmakatha* both describe him as scholar of four Vedas and many subjects as also propagator of Purgationism *(Shauch-Dharma)*. In Rishibhashit also his preachings abound in Purgationism but the emphasis is on inner purity. In *Avashyak-churni* also the available details about Narad convey that he was son of Brahmin Yajnadatta and Som-yash of Shoripur

In Rishimandal he is presented as the author of first chapter titled—'Truth is purgation'. This indicates that this information has been taken from Rishibhashit only. All this goes to show that Narad of Rishibhashit, *Samvayang, Jnatadharmakatha, Aupapatik* and *Rishimandal* are not different persons but one. This is certain that the exalted position given to him as *Arhat Rishi* and future *Teerthankara* in Rishibhashit and *Samvayang* has not been given by later canonical and other literature of the Jains. This is a proof of the total absence of sectarian dogma in Rishibhashit.

As regards the preachings of Narad in Rishibhashit, the five great vows of Jain tradition have been converted into four purgations and he has been shown as the propagator of these. Celibacy and non-possessivess have been combined in this. Rishibhashit and other Jain canons have accepted him as the propagator of Purgationism. Whereas other Jain canons believe that he emphasized on outward purgation or physical purity, Rishibhashit states that he was propagator of inner purity through virtues.

In the first chapter of Rishibhashit *Arhat Rishi* ,Dev Narad stating that purgation is worth listening about and the basis of liberation from all sorrows, has mentioned the four types of purgations :

1. Purgation of violence;
2. Purgation of lie;
3. Purgation of stealing/grabbing;
4. Purgation of lust and possesiveness.

With these this chapter directs to embrace total apathy and mentions that a mendicant should, in all circumstances, be equanimous. He who

practices purgation is apathetic and equanimous achieves liberation soon. He is not reborn.

Schubring believes that the compiler of this work was clearly influenced by the *Chaturyam* (four dimensional) of Parshwa. That is the reason that celibacy and non-possessiveness have been put in one category. Accepting ahimsa and truth as the basis of purgation or purity indicates that Narad propagated inner purity as well, besides physical purity. Narad has been mentioned as preacher of apathy, detachment and liberation also. At the end of this chapter there are directions for a mendicant to be truthful, light eater, and celibate. It is worth speculating if it is not the three dimensional *(Triyam)* concept mentioned in Acharanga.

Generally speaking, the concepts of ahimsa, truthfulness, non-stealing, celibacy, non-possesiveness, inner purity, and apathy have been common to almost all schools of Indian thought. As such there should be no objection in accepting that these preachings of Narad were his independent thoughts.

This should also be kept in mind that in Jain tradition Narad was such an influential personality that in later periods with the conception of nine *Baldevs* and nine *Vasudevs*, nine Narads were also conceived. In *Aupapatik* there is a mention of separate tradition of *Naradiya Parivrajaks*.

In Buddhist tradition also we find mention of many Narads. First is that out of the supposed twenty four Buddhas the ninth Buddha has been named Narad[46]. Besides this, in the *Atthakatha* of *Thergatha* there is a Brahman named Narad, who is contemporary of the *Padmottar Buddha*. Similarly, there is another Brahman Narad contemporary of Arthadarshi Buddha in the same book[48]. Also in Buddhist literature the name of a minister of King Brahmadatta of Varanasi is Narad[49]. A ruler of Mithila is also named Narad[50]. But in my opinion there is no connection of all these Narads with the Narad of Rishibhashit.

In Buddhist literature there is a mention of Narad belonging to *Kashyap* clan[51]. He has also been stated as *Brahman Rishi* Narad Dev. At some places he has been called as Narad Deval. But, to me, it appears that Narad and Deval are two seperate individuals. In Mahabharat there is a mention of dialogue between Narad and Deval. As such it can be infered that Narad and Deval were contemporaries. In my opinion Narad Dev of Buddhist literature and Dev Narad of Rishibhashit must have been the same person.

In Vedic and Hindu tradition Devarshi Narad finds a wide mention. The author of some parts of *Rigveda*[52] was Kanva Narad and author of some parts of *Atharvaved*[53] was Kanva Narada. Similarly, Narad also finds mention in the tradition of *Samveda*[54]. In *Chhandogyopanishad* Narad is said to be a versatile scholar[55]. In the same *Upanishad* a dialogue between Narad and Sanat Kumar is also narrated. Like *Chhandogyopanishad*, Jain canons *Jnatadharmakatha* and *Aupapatika* also believe that he was proficient scholar of all the four Vedas and many other subjects. *Chhandogyopanishad* states that inspite of being knower of many subjects he was scholar of *Mantras* not soul. As such, it appears that earlier Narad indulged in physical rituals, purgation, and a variety of mundane and exhibitionistic subjects, but later on his interest must have become inclined toward *Shraman* tradition from Vedic tradition and consequently attained a revered place in that tradition also. The dialogue between Narad and Sanat Kumar confirms this. Besides *Chhandogyopanishad* Narad finds mention in *Naradaparivrajakopanishad*[56], *Naradopanishad*[57] and many other *Upanishads*.

According to Gita[58], Narad is supposed to be a divine entity. In *Mahabharat*[59] one comes accross dialogue between Narad and Asit Deval. *Bhagwat*[60] also mentions about Narad. In a list of divine incarnations (*Avatara*) he is the third incarnation of Vishnu in the creation of Rishis. Whereas Hindu tradition believes him to be incarnation of Vishnu, Buddhist tradition believes him to be an earlier Buddha predecessor of Gautam Buddha and Jain tradition believes him to be a future *Teerthankara*. On studying details about Narad available in all these three traditions, the first thing which stands out is that there was an independent tradition of Narads. The Jain canon *Aupapatika* conveys that a particular tradition of *Naradiya parivrajaks* prevailed for many centuries. Dev Narad of Rishibhashit can be accepted as one of this tradition of Narads, who must certainly have existed earlier to Buddha, Mahavir, and Parshwa during the period of Arishtanemi.

In this chapter the five great vows accepted in Jain tradition have been turned into four purgations. The peculiarity is that celibacy and non-possessiveness have been combined. This indicates that the compiler of this work was influenced by the *Chaturyam* concept (four diemensional concept) of the tradition of Parshwa. This is because in the *Chaturyam* of Parshwa also, celibacy and non-possessiveness have been put in one category.

2. VAJJIPUTTA (Vatsiputra)

In Jain tradition, Vajjiputta has been mentioned in Rishibhashit alone[61]. But in Buddhist tradition Vajjiaputta *Ther* finds mention at many

places[62]. Schubring and Upasak both believe Vajjiputta to be connected with Buddhist tradition[63]. In Buddhist tradition there was a separate sect of Vajjiputtaks who maintained a difference of opinion with general Buddhist monks on certain points. However, Prof. C. S. Upasak has put forward a doubt in accepting Vajjiputta as connected with Buddhist tradition. According to him the sect of Vajjiputta was formed at a latter period than the writing of Rishibhashit. But his doubt appears to be ill-founded, because the *Vajjiputtiya* sect mentioned in Buddhist tradition had already come into existence in the 4th-5th century B. C. Also, Vajjiputta was, in fact, contemporary of Buddha.

The emergence of *Vajjiputtiya* sect within the Buddhist organisation signifies that Vajjiputta must have been an influential monk in the Buddhist tradition and his disciples must have been large in number to have formed a sect under his own following. Buddhist literature also reveals that Vajjiputta was contemporary of Buddha and Mahavir. In *Thergatha Atthakatha* he has been shown as a *Lichchhavi* prince from Vaishali, who became so impressed with Buddha that he accepted Buddhism; and becoming a monk, started meditation in forests around Vaishali. The reason for his inclusion in Jain tradition, specially in Rishibhashit, may be that he belonged to the same clan, *Lichchhavi*, to which Mahavir belonged.

The *Vajjiputtiya* monks have been considered as moderates in the Buddhist tradition. They had demanded for some moderations in the disciplines for the monks, viz.. snacks after meals, keeping gold coins etc. There is also a mention in Buddhist literature and inscriptions, of some sub-sects of *Vajjiyaputtiya* sect. The sub-sects are as follows :—

1. *Dharmottariya Nikaya :* Although it was quite popular and had good following, there is no information about its principles.

2. *Bhadrayanik Nikaya :* Details can be seen in works like *Mahavansha, Deepvansha* etc.

3. *Chhannagarika Nikaya :* The literal meaning of *Chhannagarika* is those who live in covered abodes. The followers of this sect were those who practiced meditation in institutionalised buildings and not under trees or inside caves.

The Vajjiputta mentioned in Rishibhashit is the Vajjiputta of Buddhist tradition. He belonged to the *Lichchhavi* clan and was a contemporary of Buddha and Mahavir. He was still alive after Buddha's

Nirvana. Also, his preachings compiled in Rishibhashit have no contradiction with Buddhist philosophy.

As regards the preachings of Vajjiputta compiled in Rishibhashit, they mainly clarify the Karma principle. According to him the sequence of life and death continues like that of seed and sapling. At the root of karma he postulates attachment. This theory about karma is generally accepted both in Jain and Buddhist traditions. Preachings similar to those of Vajjiputta can be found in the thirtieth chapter of *Uttaradhyayan.* The discussion about *Karma-santati,* which shows the influence of *Santativad* of Buddhism, provides the basis of authenticity of ideas put forth in this chapter. This chapter also indicates that Vajjiputta emphasizes more on knowledge rathar than conduct. *Vajjiputtiya (Vatsiputriya)* sect of Buddhists also emphasizes on the path of knowledge and purity of soul as against the stagnant rules of conduct. In my opinion he is none else but Vajjiputta *Ther* of Buddhists.

In the Vedic tradition there is a mention of Vatsiputra which is the Sanskrit form of Prakrit Vajjiputta. In the last clan list of *Vrihadaranyaka Upanishad,* Vatsiputra can be found. He was a disciple of Parasharputra according to Kanva branch and that of Mandaviputra according to Madhyamdin branch.

Although there is nothing more but his name in the Vedic tradition, but still it can be deduced that he was some sage belonging to the Upanishad period. All this naturally gives rise to the question that Vajjiputta of Rishibhashit, Buddhist Vajjiputta, and Vatsiputra of the *Brihadaranyaka Upanishad* are three different persons or just one. As no philosophy or thought of Vatsiputra are available in the Vedic tradition, it is difficult to establish his sameness with Vajjiputta of Rishibhashit. Whereas due to similarity of thoughts the proximity of Vajjiputta of Rishibhashit and Vajjiputta of Buddhists is established. The existence of a sect of *Vajjiputtiyas* in Buddhism also proves that he must have originally belonged to the Buddhist tradition.

The question that who was Vatsiputra of *Brihadaranyaka Upanishad* still remains to be answered. As no other Buddhist monk has been mentioned in the Upanishads, it is difficult to say that Vatsiputra of *Brihadaranyaka* and Vajjiputta of Buddhist tradition were same. Had he been a common *Ther* of Buddhist tradition it would have been possible that he had been accepted in Buddhist tradition like Narad and others. But in Buddhist tradition his place is as the leader of a sect and not an ordinary monk. However, one cannot deny the possibility that earlier he

was connected with the tradition of Upanishadic sages and, being influenced by Buddha, had joined the ranks of Buddhist monks at a later date. Being a Buddhist and still living in jungle is certainly an evidence of his diverseness. Also, the fact that first voice of decent within the Buddhist organisation came from his disciples indicates that roots of his tradition were a little different. The absence of any information other than his name in the tradition of Upanishadic sages also indicates that he shifted to some other tradition in the later part of his life.

3. ASIT DEVAL

The mention of Asit Deval can be found in all the three streams of Indian thought—Vedic, Jain, and Buddhist. The religious canon of Deval was popular during the ancient period and its quotes can be seen even today in works of later periods. On this basis we can definitely infer that Asit Deval was not simply a mythological name but a historic person.

In Jain tradition Asit Deval finds mention in Rishibhashit[64] and *Sutrakritang*[65]. Rishibhashit addresses him as *Arhat Rishi.* His preachings compiled in Rishibhashit convey the following postulations :—

"Abandoning the four directional world, every individual should strive for the unfathomable, endless and eternal abode that is *Moksha.* Discussing the means towards this goal, it has been conveyed that by being apathetic toward all desires, passions, attachments, and activities, as well as anger, conceit, illusion and greed, and with the help of detachment, apathy, and discipline one can save himself from all adhesions or binding karmas, to attain liberation. After that, eleven stages explain the activities resulting in bondage of evil *Karma.* In the end it has been said that ordinary fire can be exitinguished with the help of water but the fire of attachment is difficult to extinguish. He who understands this reality can rid himself of the cycles of life and death and liberate himself."

These details indicate that Asit Deval was a preacher of the path of detachment. The adjective *Arhat Rishi* also confirms the same fact. *Sutrakritang* has mentioned that Asit Deval attained liberation inspite of consuming seeds, vegetables, and plain water. This proves that he did not originally belong to the Jain tradition, but still enjoyed a coveted place. This was because the monks belonging to Jain tradition were supporting the trend of seeking conveniences by giving examples of *Rishis* like Asit Deval, Nami, etc.

Sheelanka, the commentator of *Sutrakritang* imagined of two persons—Asit and Deval, based on the word 'Asite-Devile', but according to Rishibhashit it is proved that Asit Deval is one person, not two. *Isimandal*[66] has referred to him as a person devoid of lust. *Isimandal Vritti*, a work of 13th—14th century A. D., has given the full life history of Asit Deval. It mentions that he became infatuated with his own daughter, but with the help of true knowledge he got rid of his lust. This also proves that he was basically connected with ascetic tradition.

Buddhist *Tripitak* literature also refers to him as a *Rishi*. *Aslayana Sutta*[67] of *Majjhim* Nikaya gives us some details about him. The story narrated is that once seven Brahman scholars lived in a jungle. They believed that Brahman is the highest cast and they are the true progeny of Brahma. When Asit Deval opposed the belief the Brahmans cursed him. When the spell of the curse did not effect Asit Deval the Brahmans considered their practices to be useless and sought clarification of their doubts from Asit Deval. Asit answered their questions and in the end they became his followers.

Buddhaghosh has referred to Asit Deval as *Bodhisattva* in *Mahavansh* (ii-705). Besides this. *Indriya Jatak*[68] also mentions Deval as Kala-Deval. In this *Jatak* tale Narad is younger brother of Asit Deval and there is a mention of Asit Deval as a *Sanyasi* who also tries to free his younger brother Narad from the worldly ties.

In the Hindu tradition we find mention of Asit Deval in *Mahabharat* and *Gita*. In *Mahabharat* Asit Deval has been mentioned in *Adiparva*[69] *Sabhaparva*,[70] *Shalyaparva*[71], *Shantiparva*[72] and *Anushasanparva*[73]. In *Shalyaparva* Asit Deval has been shown as a house-holder practicing religious asceticism, this is also confirmed by Jain sources. It is also stated here that Asit Deval was equanimous and highly advanced ascetic. This chapter also relates the dialogue between Asit Deval and Jegishavya. The most important fact related in this chapter is that he left the duties of a house-holder and became *sanyasi* through the influence of Jegishavya's preachings.

Shantiparva has also presented Jegishavya preaching equanimity to Asit Deval. These facts indicate that in the begining Asit Deval was practicing as a house-holder and latter, becoming *sanyasi*, practiced equanimity. In another chapter of *Shanti-parva* (275) is mentioned the dialogue between Narad and Asit Deval. In this chapter Deval establishes, five fundamentals, time, existence and void; the eight eternal basics; and proposes the origin of creation from these basics. In this chapter he

also preaches the discipline of senses to Narad. As such, the attempt to connect Narad and Asit Deval by Buddhist tradition certainly appears to be partly true.

Besides this, *Gita*,[74] *Manthar Vritti*,[75] *Brahmasutra Bhashya* and *Yajnavalkya Smriti* (*Aparaditya* Commentary) also contain mentions of Deval. Although, in *Mahabharat* at some places Deval has been presented as a mythic figure, his mention in all the three traditions confirms that Deval was a historic person. However, the question that how ancient a sage Deval was, still remains unanswered.

In this context there are two three points worth considering. *Mahabharat* and *Gita* have presented him as contemporary of Narad. In *Jatak* tales of Buddhist tradition too he is supposed to be the preacher of Narad. In Rishibhashit the chapter of Asit Deval follows those of Dev Narad and Vajjiputta. All this goes to prove that Asit Deval too was a Rishi of the *Mahabharat* period. In the *Jatak* tales it is related that he was present during the period of Gautam-Buddha in his later incarnation. This proves his antiquity as compared to Buddha. However, it is difficult to pin-point his exact period on the basis of all this information. It is certain that he preceded *Mahavir* and was a *Rishi* present during the *Mahabharat* period. He must have been popular for quite some time and possibly left a tradition after himself, otherwise we could not find his mention in Jain and Buddhist canons.

4. ANGIRAS BHARDWAJ

The fourth chapter of Rishibhashit contains the preachings of Angiras Bhardwaj. Besides Rishibhashit, the mention of Angiras is also available in *Avashyak Niryukti*,[76] *Avashyak Bhashya*,[77] *Avashyak Churni*[78] and *Rishimandal (Isimandal)*.[79] Here he is said to be an ascetic disciple of Upadhyaya Kaushik. As compared to other chapters, this chapter of Rishibhashit is adequately elaborate. Besides the prose part, this contains 24 couplets. In this chapter, first of all the illusive nature of human life has been described. It has been related that to know the human mind is very difficult because there are contradictions in his thought, speech, and actions. Also, that man himself knows what is good or bad for him. He who observes his attitudes, curbs the evil consequences. Analysing the duality of the inner and outer world, it has been said that often a person indulged in benevolent or good work, outwardly appears to be an evil doer and vice versa. Under many circumstances people praise a thief and criticise a monk. On the basis of apparent observations calling a

person thief or a monk does not make him so. In fact the person himself alone knows if he is a good or bad.

As such, this whole chapter mainly elaborates the dualities of the inner and outer world. This duality is much difficult to understand. The basis of goodness and evil nature of a person is not the apparent praise or criticism but his inherent attitude.

In Buddhist tradition Angiras Bharadwaj has been mentioned at many places as a *Vedic Rishi.* Majjhimnikaya[80] mentions, a pratyekbuddha named Angiras Bharadwaj. Angiras Bhardwaj is also one of the eleven mendicants attaining *Brahmlok* as mentioned in *Jataka* 4/99. Besides this, *Suttanipata*[81] has a mention of Krishi Bhardwaj and Sundarik Bhardwaj. But Bhardwaj being the name of a clan, inspite of the same clan name these two should be considered as different from Angiras Bhardwaj on the basis of difference in first name. In the *Basetthsutta* of Suttanipata also there is the dialogue between Vasishtha and Bhardwaj on the question that a person is considered *Brahmin* on the basis of his birth. When we compare this dialogue from *Basetthasutta* with the preachings of Angiras Bhardwaj from Rishibhashit, an important fact is revealed. Both appear to emphasize on the inner purity of individual and not on birth or apparant conduct. As such, giving preference to feelings and soul on the path of religion and meditation is found predominently in both.

Detailed description about Angiras is availabe in *Atthaka*tha of Thergatha[82]. First of all in the *Choolpanthak Thergatha,* Angiras has been shown as ascetic of the calibre of Aditya. In the *Veni Thergatha* he has been addressed as Mahamuni (great ascetic) and compared with *Chandrama* (moon). In the Buddhist tradition the most important information from historical view point is that while discussing Angiras there is a mention of Champanegar. In Jain tradition in *Isimandal Vritti* and *Avashyak Churni* it has been stated that he was a disciple of Kaushik Upadhyaya of Champanagar.

In complete pali literature one finds mention of seven persons named as Angiras. It is worth giving a thought that which one of these is the Angiras mentioned in Rishibhashit. Most probably the Angiras mentioned with ten *Rishis* in *Suttanipata* is the Angiras of Rishibhashit. In my opinion, of the persons mentioned as Angiras in *Chhandogyopanishad, Suttanipata,* and *Rishibhashit, Avashyak Niryukti* and *Avashyak Churni* are one and the same. All the three traditions have presented his story in

their own typical styles. Pandit Kailash Chandra has tried to establish that Angiras, the preacher of Devakiputra, of *Chhandogyopanishad* was Arishtanemi. But in my opinion this is a farfetched imagination. This much, however, is true that Angiras was a contemporary of Krishna and Arishtanemi and a *Rishi* of the *Upanishadic* period of the *Shraman* tradition predating Buddha, Mahavir, and Parshwa.

In the *Vedic* tradition the first mention of Angiras is found in *Rigveda*[83]. After that he has been mentioned in *Chhandogyopanishad*[84] as Ghor Angiras and he has been shown as teacher of Devakiputra Krishna. Besides *Chhandogya, Mahabharat* mentions a *Rishi* named Angira, one of whose sons was named Ghor. This indicates that the Ghor Angiras of *Chhandogya* must have been Ghor, the son of Angira *Rishi* of *Mahabharat*[85]. This is because the mention of father's name with son is an age old tradition in India. Also, Angiras too means son of Angira.

As such we may conclude that Angiras Bhardwaj of Rishibhashit, Ghor Angiras of *Chhandogyopanishad* and Angiras Bhardwaj of Suttani-pata is one and the same person. He has been well known as *Rishi* and all the three traditions have accepted him in their own way.

5. PUSHPSHALPUTRA

The fifth chapter of Rishibhashit is the collection of the preachings of Pushpshalputra. Besides Rishibhashit[86], Pushpshalputra has been mentioned in *Avashyak-niryukti*[87], *Visheshavashyak-Bhashya*[88] and Avashyak-churni[89]. The *Acharanga* commentary by Sheelank[90] also has a mention of Pushpashala. In *Avashyak-churni* Pushpshal has been mentioned at two places. One Pushpshal was a resident of Gobar village and the other of Vasantapur. The Pushpashal of Vasantpur has no connection witth Pushpshalputra of Rishibhashit, as he has been stated to be a musician. But the Pushpashalputra of Gobar village is same as that of Rishibhashit. The reason for this is also that in *Avashyak-churni* Pushpashal of Gobar village has been stated as a person devoted to public welfare. In Rishibhashit also he appears to emphasize on humility. As such they can be the same person.

The only contradiction is that Pushpshalputra of Gobar Village is supposed to be a contemporary of Mahavir, whereas the appendix to Rishibhashit shows him as a disciple of Arishtanemi. But this appendix does not appear to be correct as far as the periods are concerned. This is because here Mankhaliputra Goshalak has been mentioned as a

disciple of Arishtanemi, but he was actually a contemporary of Mahavir and Buddha. On the basis of the preachings in Rishibhashit and description in *Avashyak-churni* we can only infer that Pushpshalputra was a thinker giving primary importance to humility.

During the period of Mahavir and Buddha there was a tradition preaching humility. In my opinion Pushpshalaputra must have been a prominent *Acharya* of that tradition. In his preachings in Rishibhashit the direction are mainly about abandoning evil deeds like violence, libido, possessiveness, falsehood and anger, conceit etc. He says that the being who is free of evil attitudes like anger, conceit etc. and follows the conduct specified in canons gains knowledge about soul. As such in his preaching importance appears to have been given to riddance from evil and humility in conduct.

Besides Jain tradition, in Buddhist tradition also we find mention of Pushpsthavir (Fussather). In *Atthakatha* of *Thergatha*[91] and *Apadan* his preachings have been given in details. In his preachings, available in Pali litarature, mostly the evil attitudes of the future monks and nuns have been detailed. As such he appears to be giving more stress on following the canonical conduct. The same can also be seen in Rishibhashit in simple terms. Still we can not conclusively say that Pushpshalputra of Rishibhashit is same as Pushpsthavir of Pali literature.

One indication from Buddhist literature is that he was a *Pandar* monk. Information about *Pandar* monks comes from Jain as well as Buddhist sources It is possible that Pushpshalputra might have been from the tradition of *Pandar* monks and that tradition might have been the tradition preaching humility.

His preaching in Rishibhashit commences with "Palms joined he put his forehead on the ground and abandoned all activities including eating." A strong possibility is that he was a monk belonging to some tradition other than the *Nirgranth*. In the end he must have fasted unto death. But in absence of detailed information it is not possible to infer much.

We have not been able to get information about him from Vedic sources.

6. VALKALCHIRI

The sixth chapter of Rishibhashit[92] contains the preachings of Valkalchiri. Besides Rishibhashit mention of Valkalchiri is also available in *Aupapatik*[93], *Bhagvatisutra*[94] *Avashyak-churni*[95] and *Rishimandal*[96]. The story of Valkalchiri is a famous story in Jain tradition and is available in *Avashyak-churni* and *Rishimandal Vritti*. According to *Avashyak-churni* this story is also mentioned in *Vasudev-hindi*[97].

According to the story available in *Avashyak-churni* and other works, Valkalchiri was son of King Soma Chandra and brother of Prasanna Chandra of Potanpur. Being the brother of Prasanna Chandra Rajrishi, it is obvious that he was a contemporary of Mahavir. The story of Prasanna Chandra Rajrishi is a popular story in Jain tradition; *Avashyak-churni* carries this story also. All these sources convey that his father indulged in *Dishaproshak* ascetic practices. The *Dishaproshak* ascetics have also been mentioned in other Jain works like *Aupapapatik*.

As Valkalchiri was brought up by his father in jungle, he was incapable of discriminating between man and woman, horse and deer etc. He was educated while looking after the meditational aids of his father.

From the preachings of Valkalchiri in Rishibhashit it appears that he was particularly apathetic towards women. Emphasis on practice of celibacy forms the base of his teachings. He says, "O ! man do not become your own enemy by getting infatuated with woman, fight lust as far as possible, because you will attain as much calmness as distant you are from women."

From these details it is evident that Valkalchiri was a sage who specially emphasized on practice of celibacy. The adjective *'Bhagwan'* preceding his name, in Jain tradition, confirms his importance. The name Valkalchiri indicates the fact that he must be wearing dress made of *Valkal* (skin of tree).

Besides Jain tradition we find mentions of Valkalchiri in Buddhist[98] tradition also. There he is mentioned as *Valkalither*, and a *Brahman* scholar of three *Vedas* from Shravasti city. According to details available in *Pali* literature, he was inducted in Buddhism but later expelled from the monk organisation. There are mentions of his meditation on Gridhakoot hills. Buddha is said to have praised his devotion. There is no mention of him available in the Vedic tradition. Although the Buddhist tradition has tried to own him, in my opinion he must have been a sage of the *Tapas* tradition.

7. KUMMAPUTTA

Seventh chapter of Rishibhashit[99] contains the preachings of Kummaputta (Kurmaputra). In Jain tradition, alongwith Rishibhashit, mention of Kummaputta can also be found in *Visheshavashyak-bhashya*[100] *Avashyak-churni*[101], commentry of *Aupapatik*[102] and *Visheshanvati*[103] of Haribhadra. *Isimandal*[104] *(Rishimandal)* also mentions him. But in all these works his detailed life history is not available. That is available in the *vritti* of *Rishimandal* and *Kummaputtachariyam*, but both these works are of a period later than the twelfth century. In the ancient Jain Literature he has been shown as a dwarf and his height was said to be about three feet. He is supposed to have attained omniscience while he was a house-holder. These details confirm that he was a R*ishi* of the ancient *Sraman* tradition.

In Rishibhashit he preaches desirelessness or non attachment. The most important part of his preachings is that he considers desire to be the cause of sorrow. He stipulates that if a lethargic person can be happy by becoming desireless there can be nothing against an intelligent and deligent ascetic deriving happiness through being desireless. In fact this preaching of his is parallel to *Anasakta-yoga* of *Gita*.

Besides Jain tradition we also find mention of Kummaputta *Ther* in Buddhist tradition. In *Thergatha*[105] and *Atthakatha* of *Apadan*[106] the story of Kummaputta can be found in detail. In his previous birth he had given oil for massage on feet to Vippasi Buddha. As a result of this good deed he was born in the family of a house-holder in *Velutkantaka* city of *Avanti*. His mother's name was Kumma, that is why he was called Kumma-putta (the son Kumma). He accepted monkhood on hearing preachings of Sariputta. While meditating about *Karmasthan* he attained *Arhat-hood* through *Vipashyana* (a yogic practice).

A mention of Kummaputta Sayather is also available in *Thergatha*. This person was, infact, an assistant of Kummaputta, or a monk near to him. As such he is different from Kummaputta. Both Jain and Buddhist traditions are concommitant on the fact that his name was Kummaputta because of his mother's name. At the same time it is true that the essence of his preachings is detachment and purity of thought. It is possible that he was either of an earlier period or a contemporary of Mahavir and Buddha. As regards vedic tradition, no reference could be found about Kummaputta.

8. KETALIPUTTA

The preachings of Ketaliputta have been compiled in the eighth chapter of Rishibhashit[107]. Besides Rishibhashit no other source provides any information about him. Other Jain canons or later works of fiction do not have any mention of Ketaliputta. Buddhist and *Vedic* traditions are also silent about him. As such it is difficult to say who he was. Even in Rishibhashit no more than his short discourse is available. The tenth chapter of Rishibhashit is about Tettaliputta. Tettaliputta is also mentioned in *Jnata, Anuttaropapatik, Avashyak-churni, Isimandal* and its *Vritti.*

There is a possibility that due to variation in pronunciation, two names of the same person were in use and on this basis the two names were later accepted as two different persons. However, in absence of conclusive evidences nothing more can be said about this.

In Rishibhashit Ketaliputta preaches that in the mundane life *(Aram)* an individual has two attributes and in the liberated state (*Param*) only one. As such, like a silk worm, one should break all the ties and attain liberation. The use of the terms *Aram* for this world and *Param* for liberation can also be found in *Acharanga* and *Sutrakritang.* This proves antiquity of these preachings.

The statement, 'life has two attributes and liberation one', can be explained and elaborated in many ways. Some examples are : Life has knowledge and acitivity and in liberation only knowledge is there. Life has attachment and aversion but liberation has only detachment. This discourse of Ketaliputta indicates that he must have been some mystical ascetic of that period. In absence of any concrete information about him, it is difficult to comment about his historical details as well.

9. MAHAKASHYAP

The ninth chapter of Rishibhashit[108] has the discourse of Mahakashyap. In India *Kashyap* is a well known clan name. Even Mahavir and Rishabha are supposed to be of *Kashyap* clan. *Sutrakritang*[109] has even mentioned Mahavir as *"Virena-kasaven Mahesina."* Similarly in *Bhagavati Sutra*[110] also there is a mention of a monk named Kashyap belonging to the tradition of Parshwa. As such it is difficult to decide who is this Mahakashyap. In *Uttaradhyayan-churni*[111], the father of Kapil Brahman is said to be Kashyap, Also in *Antakritadasha*[112] we find a mention of Kashyap Gathapati. But in my opinion non of these have any

connection with Mahakashyap of Rishibhashit. The adjective *Maha* (great) prefixed to *Kashyap* indicates that he must have been some prominent person.

In Buddhist[113] tradition we find mention of Mahakashyap as an extraordinary monk. He is said to be a very close disciple of Buddha. As such it is probable that Mahakashyap of Rishibhashit is non other but Mahakashyap of Buddhist tradition. This presumption gets support from the fact that two other monks of Buddhist tradition, Vajjiputta and Sariputta, are also included in Rishibhashit. As such this can be accepted that Mahakashyap of Buddhist tradition is the Mahakashyap of Rishibhashit,

The preachings of Mahakashyap compiled in Rishibhashit confirm that he was a *Rishi* connected to the Buddhist tradition. This is because his preachings contain discourse about *Santativad* and stability of *Deapak* (candle flame) has been mentioned as a metaphor for *Nirvana*. Both these are established and popular concepts of Buddhist tradition.

In *Mahabharat*[114] is found a mention of a famous chanter of *Mantras*, named Kashyap who is coming to save King Parikshit. But he cannot be taken as Kashyap of Rishibhashit because one belongs to the period of *Mahabharat* whereas the other to the period of Mahavir and Buddha. Similarly Kashyap is mentioned in *Shatpath Brahman*[115] and *Taittiriya Aranyak*[116] also, but there it is used as a clan name, and cannot have any relation with Kashyap of Rishibhashit, As such in my opinion Mahakashyap of Rishibhashit is the Mahakashyap from Buddhist tradition.

10. TETALIPUTRA

The tenth chapter ot Rishibhashit contains collection of preachings of Tetaliputra.[117] In the ancient Jain literature Tetaliputra has been mentioned in *Jnata-dharma-katha*,[118] *Vipaksutra*,[119] *Visheshaveshyak-bhashya*[120] and *Sutrakritang-churni*[121] besides Rishibhashit. In the fourteenth chapter of *Jnata-dharma-katha* detailed information about Tetaliputra is available.

According to the *Jnata* he was a minister of the ruler of Tetalipur named Kanakrath. He married Pattila, daughter of a goldsmith. Due to the fear that his own progeny might dethrone him, he used to mutilate his sons. The queen put this problem before Tetaliputra. Coincidentally the queen and Tetaliputra's wife concieved and gave birth to children at the same time. Tetaliputra's wife gave birth to a still daughter and the

queen to a son. Tetaliputra exchanged the newly born and celebrated the birth of the son.

Some how Tetaliputra becomes apathetic towards Pottila., A Jain nun Arya Suvrata comes to the city with her disciples. Some nuns come to Tetaliputra's house for alms. Pottila seeks advice from the nuns to attract the husband. The nuns reply that giving of such advice is prohibited for them; they could only give religious discourses. Pottila listens to the discourse and accepts nunhood.

After the death of Kanakrath the king's son, brought up by Tetaliputra, ascends the throne and honours Tetaliputra profusely for his help. According to the story Pottila is reborn as god and wants to convert the husband of her previous birth. She instigates the King against him. Not getting due respect from king Tetaliputra is disconcerted and attempts suicide. Inspite of repeated attempts he fails to commit suicide. As such his life becomes full of disbelief and skepticism. Finding an opportunity, Pattila, turned into a god, preaches Tetaliputra. who becomes a monk. Meditating hard he attains liberation. The same story is also available in Rishibhashit in brief. In order to compare both narratives we give parts of both texts here (See orginal in Hindi).

On doing a comparative study of these two texts we find that : (1) As compared to Rishibhashit the description about Tetaliputra in *Jnata-dharma-katha* is more elaborate and includes much more supernatural incidents; (2) The language of Rishibhashit uses the syllable 'T' much more frequently, it is nearer to *Ardhamagadhi* and so, ancient as well; on the other hand, the language of *Jnata* uses the syllable 'Y' more frequently, contains influence of *Maharashtri* Prakrit and comparatively recent.

As regards the basic teachings contained in the chapter are concerned, they are vague. In fact the preaching content in this chapter is very low, and Tetaliputra narrates .the experiences of his life. He says, "Inspite of having relatives friends,. sons, I feel helpless; inspite of having wealth I am poor. Hopelessness led me to suicide but there also I failed; consequently, my life is full of doubt;·where other *Sraman* Brahmans talk of faith, I alone preach skepticism. This lack of faith and skepticism was the cause of his detachment.

Besides, *Jnata* and Rishibhashit, *Sthanang*[122] also contains information about Tetaliputra. It mentions that the title of the eighth chapter *(Dasha)* of *Anuttaraupapatik* was Tetali. But the version of *Anuttarau-*

papatik avalable today does not contain the chapter. It may have been deleted from there because the same details had already come into *Jnata*. In absence of any information it is difficult to surmise what was the subject matter dealt in this missing chapter.

Besides Jain literature both Vedic and Buddhist literature do not contain any mention of Tetaliputra. As such it appears that Tetaliputra was basically connected with *Nirgranth* (Jain) tradition only.

11. MANKHALIPUTTA

The eleventh chapter of Rishibhashit[123] is about Mankhaliputta. It is natural to ask who this Mankhaliputta was. In Jain and Buddhist traditions mentions of Mankhali Goshal or Makkhali Goshal are available. The fifteenth *Shatak* of *Bhagavatisutra*[124] presents details of the life and philosophical beliefs of Mankhali Goshal. In the Jain tradition details about Mankhali Goshal can be found in *Upasakdasha*,[125] *Avashyak-niryukti*,[126] *Visheshavashyak-Bhashya*,[127] *Avashyak-churni*[28] and many other works besides *Bhagavati* sutra. According to the available details he was called Mankhaliputta because he was son of a *Mankha* named Mankhali, and Goshal because he was born in a *goshala* (cow hut). According to Jain tradition he met Mahavir during the second monsoon after Mahavir accepted monkhood, and remained with him for almost six years, Later they had a difference of opinion on the question of *Niyativad*. According to *Bhagwati-sutra* 24 years after Mahavir accepted monkhood Mankhaliputta Goshal declared himself to be a Jin or *Teerthankar*. Details on this episode are available in *Bhagvati-sutra*. But in my opinion this description is one sided and exaggerated. The only conclusion we may draw from these narratives is that Mankhaliputta Goshal established his own school independent of Mahavir, and it had a wide influence over the society, This sect founded by him later became famous as *Ajivak* sect.

In the Buddhist *Tripitak*[129] literarure also Makkhali Goshal has been recognised as one of the six teerthankars contemporary of Buddha. Besides this, in *Thergatha*[130] also there is a mention of Makkhali Goshal. However, in the *Atthakatha* he has been said to have been born in the state of Magadha. Although other details in Jain and Buddhist description are not similar, both the traditions equivocally convey that Mankhaliputta Goshal was the founder of *Niyativad* and a prominent Acharya of his age. *Pali Tripitak* and Jain canonical literature contain detailed comments about his philosophical thoughts. Both accept him as follower of *Niyativad*

Niyativad is that school of thought which emphasizes on an preordained system of the world as against the human endeavour. I would not like to go into a detailed discussion on this matter but would certainly like to express that the details available about Mankhaligoshal in Jain and Buddhist traditions are biased and critical. They present the personality and philosophical beliefs of Mankhaligoshal in a distorted manner. Probably Rishibhashit is the only work that presents Mankhaliputta as a revered Arhat Rishi and his preachings as valid.

It is true that ideas of *Niyativad* can also be found in the preachings of Mankhaligoshal available in Rishibhashit; but here the *Niyativad* of Mankhaliputta is a means to win over creator's ego in a person and give him a detached view point. He explicitly states that the ascetic who wavers, who is influenced, who is disturbed, who is hurt by seeing the transformation of things (matter), can not become protector of self due to the reactions so evoked.

The preachings of Mankhaliputta convey that activites of the world continue in their own regulated order. Even against the wishes of a person, adverse circumstances do prevail. He alone can save himself and others from the four life-consequences (*Chaturgati*) of this world, who remains uneffected, undisturbed, and unhurt in adverse circumstances, considering them to be nothing but mere transformations of matter. This preaching clarifies that the central theme of his *Niyativad* is for leading detached life. Same idea is propagated in *Bhagvadgita*. There also, the preaching of *Niyativad* is directed toward ending the reward oriented thinking of human beings.

In *Mahabharat*[131] we find preachings of Manki Rishi under the title Manki Gita, I believe that this Manki Rishi of *Mahabharat* is non else but Mankhaliputta of Rishibhashit. This is because Manki Gita clearly propagates *Niyativad*. It says that whatever happens is not due to human effort but due to divine will. Luck is every thing. Insisting doggedly on human effort when one fails, the divine will could be traced as the cause of failure.

On this basis it can be infered that Mankhaliputta of Rishibhashit, Mankhali-goshal mentioned in Jain canons like *Bhagvati-sutra*, Makkhali-goshal of *Pali Tripitak* literature, and Manki Rishi of *Mahabharat* are one person. In fact with the establishment of sectarian organisation in Jain and Buddhist traditions, efforts were made to distort the life history and preachings of Mankhaliputta-goshal. Literature and inscriptions also prove that Mankhaliputta was a prominent sage of *Sraman* tradition in

his age. His *Ajivak* sect continued to exist even one thousand years after his death. Mankhaliputta of Rishibhashit was the learned *acharya* Mankhaligoshal of the *Ajivak* tradition. The 15th chapter of Bhagvatisutra also mentions other *Acharyas* of this tradition.

12. JANNAVAKKA (YAJNAVALKYA)

The twelfth chapter of Rishibhashit is related to Jannavakka (Yajnavalkya). Besides Rishibhashit[132] no other work of Jains provides any information about Yajnavalkya. In the appendix to Rishibhashit it has been mentioned that he was a *Pratyek-buddha* contemporary of Arishtanemi. For detailed information about him we have to depend on sources other than Jain. Buddhist sources also do not provide detailed information about him.

In the *Vedic* works mention of Yajnavalkya is found in *Shatpath Brahman*,[133] *Shankhayan Aranyak*,[134] *Brihadaranyak Upanishad*,[135] and *Mahabharat*[136]. There is the famous Yajnavalkya *Smriti* also in his name. The text available in *Shankhayan Aranyak* is almost same as that in *Shatpath Brahman*. Leaving aside *Mahabharat* and Yajnavalkya *Smriti*, *Brihadaranyak Upanishad* is the only *Vedic* work which provides detailed information about Yajnavalkya. On the basis of the story in *Brihadaranyak Upanishad*, Oldenberg, Waber and other scholars have deduced that he was a citizen of *Videh* because of his connection with Janak.

However, Shri Suryakant, in Vedic Kosh, has expressed his doubts on his being a citizen of Videh, based on his connection with Uddalak of *Kuruanchal*. In my opinion his connection with Uddalak does not provide proper ground for doubting his citizenship of *Videh* because the Rishis keep traveling. Uddalak is also mentioned in Rishibhashit.

According to me, on the basis of the details from *Brihadaranyak Upanishad*, we may only infer that although during his early life he may have been a supporter of the *Yajna* tradition, in the end he shifted to the detachment oriented Sraman tradition due to the influence of *Atmavad* of Janak. In *Brihadaranyak Upanishad* he says that getting knowledge of *Atma* (soul) a Brahman abandons desires for son, wealth, and the world, and moves around taking alms. This is because the desire for son is same as the desire for wealth and the desire for wealth is same as the desire for the world.

On comparing these preachings from *Brihadaranyak Upanishad* with those of Yajnavalkya in Rishibhashit[137] we find astonishing similarity. In

Rishibhashit he says that as long as the desire for the world is there, the desire for wealth also remains, and vice-versa. As such a mendicant should abandon both, the desire for the world and the desire for wealth, and proceed on *Gopath* not *Mahapath*. Probably, *Gopath* here means that as the cows wander grazing in bits, the mendicant should wander taking alms and not giving trouble to anyone. Here *Mahapath* may have been used in the sense of normal wordly life or possession oriented tradition. This proves that in the end Yajnavalkya became a preacher of the path of detachment[138].

In the vedic tradition, besides *Brihadaranyak Upanishad*, mentions about Yajnavalkya are also available in *Mahabharat*. In *Shanti-parva* he has been presented as giving discourse to Janak. This indicates that he must have been a *Rishi* contemporary of Janak.

The information according to the Jain tradition that he was a *Rishi* of the period of Arishtanemi does not appear to be correct. He was probably a Rishi of a much older period. However, on the basis of the comparative study of the preachings of Yajnavalkya, available in *Brihadaranyak Upanishad* and Rishibhashit, we can certainly infer that Jannavakka (Yajnavalkya) of Rishibhashit was none else but the Yajnavalkya of *Upanishads*.

13. METEJJA BHAYALI

The thirteenth chapter of Rishibhashit[139] is about Metejja Bhayali. In Jain literature, besides Rishibhashit, Bhayali is mentioned in *Samvayang*[140]. According to *Samvayang* he is going to be the nineteenth *Teerthankar* (named Samvar) in the coming cycle of time (ascending), Two other Prakrit forms of the word Bhayali are available—Bhagali and Bhaggai. The seventh chapter of *Antakritdasha* in *Sthanang-Sutra*[141] is supposed to be about Bhagali. Although this chapter is missing from the available editions, I am sure, in the ancient edition of *Antakritdasha*, this chapter must have existed and contained the life story or preachings of Bhagali. In *Aupapatik* there is a mention of a *Kshatriya* ascetic Bhaggai and his followers. It is possible that the followers of Bhayali or Bhagali were known as Bhaggai.

The main theme of Bhayali's preachings in Rishibhashit is liberation of soul. He states that only he, who is desirous of fruits, waters a plant. One, not wanting fruit does not water a plant. Only by fostering a plant fruit is available. If the plant is destroyed the fruit is automatically destroyed. As such he wants to convey that in order to get liberated from

the wordly life, the fundamental cause of wordly life will have to be destroyed. Besides this, from philosphical angle Bhayali propagates that neither *Sat* (the existant reality) nor *Asat* (non-existant reality) has any cause. The *Asat* (non existant reality) does not enter the chain of cyclic rebirth.

Thus in his preachings we find that basic premise of *Upanishad, Gita,* and *Sankhya,* according to which it is believed that *Sat* is never destroyed and *Asat* never comes to existance. The same hypothesis has been stated in this chapter in a different way.

As regards the first name Metejja is concerned, the tenth *Ganadhar* (principle disciple) of Mahavir was also named Metejja. But in my opinion this was a different person. Besides this there is a mention of another Metejja Sraman who was living in Rajasthan and sacrificed himself adhering to the vow of Ahimsa. This person is also mentioned in *Avashyak-Niryukti,*[142] *Visheshavashyak-Bhashya,*[143] *Avashyak-churni,*[144] *Sthanang,*[145] and the *Abhaya Dev Commentary of Sthanang.*[146] Although this person and Metejja Bhayali of Rishibhashit appear to be the same person but in absence of any conclusive evidence nothing more can be said.

In Buddhist tradition mention is available about one Mettai Ther[147] who was connected to a *Brahman* family of Magadh. On becoming adult he became a forest dwelling monk. Later he met Buddha, had a discussion and joined the *Sangha* (Monk organisation); he became *Arhat* in the end. Besides him is also available in Buddhist tradition a mention of Mettagu Ther, a disciple or Bavari. However, it is difficult to say if Mettai and Mattagu Ther had any connection with Metejja Bhayali.

Besides this, another mention of one Mettiya Ther is also available. This Mettiya Ther was also supposed to be the leader of the *Chhabbagiya* monks. Buddhist tradition also mentions about a Metteya who is believed to be the Ajit Buddha of the future fifth *Kalpa.* He has been mentioned in the *Anagat-vamsh* of *Mahavamsh. Suttanipata*[148] also has one Arhat Metteya who was a friend of Tissa. But it is difficult to state as to what connection Metejja Bhayali of Rishibhashit had with Metteya of Buddhist tradition. Buddhist tradition also mentions one Bhaddali Ther. Although there is literal similarity between Bhagali and Bhaddali, it is difficult to establish any similarity between the two.

14. BAHUK

The fourteenth chapter of Rishibhashit[149] contains compilation of the preachings of Bahuk. Besides Rishibhashit Bahuk has also been

mentioned in *Sutrakritang*;[150] *Sutrakritang-churni*,[151] and commentary on *Sutrakritang* written by Sheelankacharya.[152] However, we do not get any information about the life history of Bahuk in all these works. Sutrakritang mentions Bahuk alongwith other Rishis like Nami, Narayan, Asit-deval, Dvaipayan, and Parashar. It says that, recognised in preachings of Arhat, this Bahuk Rishi attained liberation inspite of drinking water infested with living organisms. *Sutrakritang-churni* clearly states that his mention is found in Rishibhashit and that he attained liberation inspite of living in jungles and consuming vegetables, seeds, and cold water. This confirms that the Bahuks mentioned in Rishibhashit and *Sutrakritang* are same. But non of these works detail his life history.

Rishimandal-vritti is also silent about his life, as such nothing much can be said about his life history. According to *Sthanang-sutra*, the tenth chapter of *Prashnavyakaran-dasha* was about Bahu. Although the available editions of *Prashnavyakaran*-dasha do not contain these chapters; I have explained in one of my articles elsewhere that this chapter must have been a part of the oldest edition of *Prashnavyakaran* and it must have contained the preachings of Bahuk.

The central theme of the preachings of Bahuk in Rishibhashit is that if correct information is presented with incorrect thoughts, it is not authentic; infact the meaning of this statement is that if view point or thought process is impure, the evident activity, even though it appears ethical, would be considered as unethical. In this chapter, emphasizing detachmant, it has been shown that the detached-practices alone lead to liberation. All ascetic practices done with attachment lead to hell. As such Bahuk appears to be a propagater of the path of detachment.

The name of Bahuk does not appear anywhere in the Buddhist tradition,[153] however there are mentions of Bahik and Bahi. It is difficult to surmise if these Bahi & Bahik are same as Bahuk of Rishibhashit. In the Buddhist tradition the only information available is that they were disciples of Buddha; as such it is all the more difficult to give any conclusive comment about them.

As regards *Vedic* tradition[154] a *Rishi* named Bahuvrakta is mentioned. He is believed to have written some aphorisms in *Rigveda*. But it is hard to find some connection with Bahuk of Rishibhashit. *Mahabharat*[155] also mentions Bahuk. There he has been stated to be a warrior of the *Vrishni* clan. Also in *Mahabharat*, the name of the father of king Sagar is mentioned as Bahuk. King Nala was also known by the

name Bahuk. But none of these mentions indicate that these names had any connection with the Bahuk mentioned in Rishibhashit. This matter is subject to further investigation and scholars should do some efforts in this direction.

15. MADHURAYAN

Madhurayan Arhat Rishi is the preacher of the 15th chapter of Rishibhashit.[156] He has not been mentioned anywhere else in Jain or Buddhist traditions. As such it is difficult to give any comment about his life and personality.

In this chapter many words have been used in some special context and meaning. As long as those words are not clearly understood the preachings of Madhurayan cannot be properly apprehended. In the context of the meaning of this chapter neither the Sanskrit commentators are clear nor the Hindi translation, based on these, by Manohar Muni is any clearer. The Hindi and English translations in this edition are also not without doubts. Although Schubring in his notes and Manohar Muni in his explanations have done efforts to clarify the meanings, they have also accepted that the subject in the chapter is not clear.

In my view some particular words will have to be understood in order to elaborate the subject of this chapter. The three words that require an elaborate explanation are *'Sata-dukkha'*, *'Asata-Dukkha'* and *'Santam'*, As far as *'Sata-dukkha'* is concerned, everyone including the Sanskrit commentator, has accepted that it means woe *(dukkha)* born out of pleasure *(sukha)*. Here *sukha* should mean the desire for pleasure. So the meaning of *Sata-dukkha* is the woe born out of the desire for pleasure. A person who has craving for mundane pleasures can be termed as the one plagued with *Sata-dukkha*. In other words the craving for pleasure itself is *Sata-dukkha*.

Asata-dukkha is opposite of this, that is the suffering which naturaly comes because of being desireless. With this meaning of *Sata-dukkha* the answer to the first question of the chapter becomes clear. The question is who attracts *dukkha* (affliction, which here means the bondage of Karma); the one who is plagued with woes born out of the desire for wordly pleasures, or he who suffers sorrows desirelessly. The answer is : He who is mad after the lust for wordly pleasures attracts affliction. One who remains desireless, even inspite of being surrounded with natural sufferings does not attract afflictions or does not enter into bondage of *Karma*. In fact, the desire for pleasure is the invitation to woe.

A person who suffers because of desire for pleasure ends up in the bonadge of *Karma.* He who suffers due to painful circumstances does not attract *Karma* bondage. Thus Madhurayana finds the roots of afflictions in the mundane desires.

The word *Santam* does not mean peaceful *(Shant)* here; it has been used to mean existence. *'Santam dukkhi'* here means being woeful. And being woeful here only means to be full of desires. Thus the meaning of *"Santam dukkhi dukkham udeerei"* would be that by being woeful alone afflictions are invited. That means only a person with desires triggers woes. Similarly, *'No, asantam dukkhi dukkham uderai'.* means that by not being woeful by pain, afflicitions are not invited. That means a person without desires does not trigger woes.

After this, this chapter mainly propagates that sin is the chief cause of non-liberation and continued rebirth. On the basis of this, it has been deduced that as sprouting of a plant is natural consequence of the existence of seed, woes are natural consequence of existence of sin. In the end it has been established that soul is the doer of all deeds and sufferer of all consequences. As such, a mendicant should abandon the path of sin for the benefit of his own soul. As a snake charmer destroys the poison pouch of a snake, a mendicant should destroy roots of woes. In Madhurayan's view the root of woe is the desire for pleasure (mundane pleasures) and as such a mendicant should be free of desire for mundane pleasures.

On a comparative srudy we find that the subject matter of this chapter is in line with the subject matter of other chapters of Rishibhashit. This 15th chapter is similar to the 9th chapter in subject matter. This fact has also been accepted by the author of this work by stating *"Navam ajjhayanagamarannam vaneyavvam."*

In absence of any information about him elsewhere in Buddhist and *Vedic* traditions it is not possible to present a comparative study about Madhurayana.

16. SHAURYAYANA (SORIYAYANA)

The 16th chapter of Rishibhashit[157] is about the Arhat Rishi named Shauryayan, (Soriyayana). Besides Rishibhashit Soriya has been mentioned in *Sthanang*[158] and *Vipak-Sutra*[159].

In *Vipak-Sutra* he has been mentioned as Soriyadatta. According to *Sthanang,* the title of the seventh chapter of *Karmavipak-dasha* is Soriya,

but in the available edition of *Vipak-Sutra* mention of Soriyadatta is found in the eighth chapter. In this chapter he is said to be the son of a fisherman, Samudradatta, of Soriyapur town. As the story goes, once a fish bone stuck into his throat. All efforts to take it out were in vain and he had to suffer extreme agony.

Some relation between Soriyadatta of this chapter of *Vipak-Sutra* with Soriyayana of Rishibhashit can be established on the basis that Soriyayana, in his preachings, has mainly preached not to indulge in pleasures of the senses. Same thing has been stated in the *Vipak-Sutra* in a little different way, that involving himself in fulfilment of needs of the senses, a being suffers anguish.

In this chapter, clarifying the influence of physical senses, it has been stated that getting the means of satiation of the five senses (sound, sight, smell, taste and touch) one should not become attached, desirous, or greedy. These unsatiable physical senses are the cause of continued rebirth. One should neither get attached to the desired things nor get vexed at the undesired things. He who gets attached to the desired things or gets vexed at undesired things, enters bondage of evil *Karma*.

In the Buddhist tradition[160] Soriya has been refered to as Soreyya. There he is said to be a merchant's son. However, there hardly appears to be anything common between Soriya of Jain tradition and Soreyya of Buddhist tradition. In the *Vedic* tradition[161] we find a Shauri, son of Shoorsen, in *Dron-parva* 144/7. He is said to be related to Vasudev, who is said to be the father of Krishna. Still it is difficult to say that Soriyayana of Rishibhashit, Soreyya of Pali literature and Shauri of *Mahabharat* are one person, or different persons. On the basis of their names it can be accepted that they may have been connected with the geographic area-Shoorsen. In the list of *Acharyas* in *Brihadaranyak-opanishad*[162] a disciple of Kashayan is mentioned as Sokarayan. It is possible that this transformed to Soriyayan in prakrit.

17. VIDUR

The seventeenth chapter of Rishibhashit[163] contains discourse of Vidu (Vidur). Rishibhashit has mentioned him as Arhat Rishi. In Jain literature mention of Vidur is also available in *Jnata-dharma-katha*.[164] There only his name has been listed along with Arjun, Bhimsen, Nakul, Sahdev, Duryodhan, Gangeya and others. Besides this there is no other mention of Vidur in the canonical literature.

In this chapter, regarding his preachings, the first thing stated is that the knowledge that provides deliverence from all sorrows alone can be termed as the best knowledge or the supreme knowledge. Subsequently it has been stated that the knowledge that makes one comprehend about the reincarnations, past and future; bondage and liberation; and revealation of the self is the knowledge that liberates from sorrows. This statement of Vidur is akin to the *Upanishadic* statement- *"Sa vidya ya Vimuktaye"*, "that is knowledge which liberates."

It has also been stated that as all knowledge about disease, its diagnosis, and medicine is essential for its treatment; knowledge is essential for liberation. With all this, particular emphasis has been given on study and meditation in this chapter. Also that an ascetic with disciplined senses should, after alround comprehension of mundane life and indulgence in studies and meditation, abandon attachment and indulge in detached activities. All activities, considering them to be characterless activities, should he abandoned. One who acts thus becomes all pervading, omniscient, and liberated.

Thus this chapter mainly stresses first on study, meditation, and *right knowledge and then steers towards Ahimsa-attitude and conduct,* getting away from attachment.

Besides Jain tradition Buddhist tradition[165] also mentions Vidhur (Vidur). However, there is no similarity between the Buddhist story of Vidhur with those of Vidur in Jain and Vedic traditions. In the Buddhist tradition he is believed to be one of the two prominent disciples of Kakusandha Buddha. According to *Milindaprashna* Vidhur was a name of *Bodhisatva* in one of his reincarnations. As such it is difficult to find any similarity to the Vidur of Jain tradition; in these stories about Vidhur from Buddhist tradition.

In Vedic tradition and specially in the *Mahabharat* Vidur has been mentioned in details. He is said to be son of Vyas and a maid named Ambika. As such he was a son of a *Brahman* from a *Shudra* mother. Details about him are mentioned in *Adiparva* and *Sabhaparva* of *Mahabharat.* His preachings have been compiled in the *Streeparva* of *Mahabharat*[166]. On properly studying these preachings it becomes evident that although there is no literal similarity in ideas these are very similar to the preachings in Rishibhashit. On this basis we can infer that Vidur of *Mahabharat* and Vidur of Rishibhashit must have been the same person.

18. VAIRISHENA KRISHNA

The 18th chapter of Rishibhashit[167] is about the discourse of Varishena Krishna (Varisava Kanha). Besides Rishibhashit Varishen has also been mentioned in *Sthanang*[168]. In *Samvayang*[169] the four *Jin* idols mentioned are Rishabha, Mahavir, Chandranan, and Varishena; Chandranan and Varishena are said to be the first and last *Teerthankars* of *Airavata* sector. Besides this, in *Sthanang* a branch of the *Kashyap* clan has been named as *'Variskanha'*. In *Antkritdasha*[170] Varishen is said to be a *Antkrit Rishi* and son of Vasudev.

All this at least confirms that he was a Rishi contemporary to Krishna and Arishtanemi. The second syllable *'Kanha'* (*Krishna*) of his name in Rishibhashit calls for a further study. Being the son of Vasudev is he not Krishna himself ?

In this chapter it is stated that one who indulges in the prohibited or evil activities, from violence to possessiveness and passions to illusions, begets amputation of limbs. He who does not indulge in these begets omniscience. (The imputation of limbs is also refered to in 9th and 15th chapter of Rishibhashit.) In conclusion it is stated that as bird pierces a fruit, enemy divides the state, and lotus leaf is uneffected by water, the seeker should pierce and destroy the fruit of *karma* and remain uneffected by evil *karma*;

In the *Bhishmparva* of *Mahabharat*[171] one of names of Krishna is said to be Varshneya. He is called Varshneya because he belonged to the *Vrishni* clan. In *Upanishads* and *Brahmans*[172] as well, people belonging to the *Vrishni* clan have been mentioned as *varshneya* or *varshnya*. The Prakrit form of *vrishni* is *vanhi* and that of *Varishen* is *Varisava* and there is a possibility that the Sanskrit form of *varis* may be *vrishni*.

However, all this confirms that he was an ascetic contemporary of Arishtanemi. In Pali literature, *Ambatthsutta* of *Deeghnikaya* mentions one Krishna *Rishi* suggesting that Ambattha was a follower of his tradition. Similarly in *Aupapatic sutra* a branch of Brahman mendicants is named Kanha. It is possible that Varisava Kanha was the founder of this branch. In *Aupapatik* another branch of Brahman mendicants is named Deevayan Kanha (Dvaipayan Krishna). As such the former must have been connected with Varisava Kanha only.

19. ARIYAYAN

The nineteenth chapter of Rishibhashit[173] is about the *Arhat Rishi* named Ariyayan. Besides Rishibhashit Ariyayan has not been mentioned anywhere else. Buddhist and Vedic traditions are also silent about him. As such nothing conclusive can be said about his personality and history.

This chapter states that in the begining only *Aryas* existed. Consequently, as preachings, it states that *non-Aryan* thought, activities and friends should be curbed, because indulging in them leads to continued rebirths in this world. As against this, one who has *Arya* thoughts, activities, and friends attains *Aryatva (Aryahood)*. In the end it states that *Arya*-perception, *Arya*-knowledge, and *Arya*-conduct are right and should be followed.

Besides this brief discourse, nothing more is available about Ariyayan.

20. UTKAT (BHAUTIKWADI)

The title of the twentieth chapter of Rishibhashit[174] is *Utkal* or *Utkat*. There is no mention about any author of this chapter. Although, at the end of the chapter, like other chapters in the book, the stock phrase, has been mentioned; it has hardly any relevence to the preceding statements. The stock statement has been given in persuance with the style of all other chapters. In fact as this chapter contains the propagation of *Bhautikvadi* (materialistic) principles there is no mention of any *Rishi* as its preacher.

This chapter classifies five types of *Utkat*: *Dandotkat, Rajjootkat, Stenotkat, Deshotkat* and *Sarvotkat*. In this context, first of all the meaning of the word *utkat* should be understood. Although the word *utkat* has a variety of meanings, it would be best here to take the meaning as agitated or confused. One of the meanings of *utkat* is intoxication also. Infact the materialistic lifestyle was opposed to the spiritual life style and as such it was called *utkat*. This is also possible that the spiritualists gave the name 'agitated' *(utkat)* to the believers of materialism. The materialists consumed wines etc. and did not consider that to be wrong, that may also be one of the reasons. Another possibility is that the original Prakrit word *ukkal* may be the *utkul* of Sanskrit; which means a degraded or despicable family. If we take it as *utkool* it means that which flows beyond bank or breaking the banks, this indicates that

those people who propagated ideas opposing to the spiritual thinking were called *utkool*.

In this translation the use of the form *utkal* does not appear to be appropriate to me, it should have been *utkat*, *utkul*, or *utkool*. The five types of *utkal* refered to in this chapter are in fact the view points that used to propagate the materialistic doctrines through typical examples. *Dandotkat* are those who use *dand* (staff)) as an example and propagate that as the begining, middle, and end parts of a staff can not remain in seperate existence, it is a united whole, there is no entity of soul seperate from body.

Rajjootkat are those who use *Rajju* (fibre) as an example and propagate that as a rope is a conflagration of many different fibres, a living being too is a conflagration of five fundamentals and disintegrates with the disintegration of these constituents.

Stenotkat are those who re-interpret the examples of other scriptures and confirm their own beliefs. They are intolerant of other doctrines and continue to deny them by misinterpretation. May be, at some later period, *Anekantvad* (non-absolutism) developed in the *Nirganth* (Jain) tradition as an opposition to this *Stenotkatvad*. This is because those who maintain that their statement is the only truth are said to be the antithesis of compassion towards others.

Deshotkat are those who accept the existence of soul but maintain it not to be the doer. In fact, this non-activity of soul eliminates the basis of defining concepts like good or bad deeds, bondage etc. Due to this partial acceptance of materialism the are called *Deshotkat*.

Similarly *Sarvotkat* are those who deny the existence of fundamentals and through vaccuum accept the origin of all creation. They believe that there is no fundamental that continues to exist every where at all times. Thus they propagate nihilism and that is why they are called *Sarvotkat*. This must have been the basis of non-existentialism.

Detailing these five types of *utkat* or materialists and giving brief details of principles of materialism the soul as an entity seperate from body has been denied. It has been stated that after destruction the body is not created again; that is, their is no rebirth. This life is the only life, there is no other world, there is no fruit of good or bad deeds, there is no rebirth and their is nothing like good or evil deed. The body between

head and toe is the living being or soul. As burnt seeds do not sprout, a destroyed body is not created again.

Thus this chapter presents pure materialistic theory which is also known as the Charvak philosophy in Indian philosophies. Mention of this type of materialistic doctrines is available in details in ancient Jain, Buddhist, and Vedic literature. The thoughts propagated in this chapter are available in *Sutrakritang*[175] and *Rajprashniya*[176] also. Similarly Buddhist tradition also has parallel theories in *Payasi-sutta.*[177] As such, this chapter can be taken as representative of prevailent materialistic ideas of that period. *Samvayang*[178] mentions about 44 chapters of Rishibhashit. If is possible that this chapter may be a later addition to Rishibhashit, because this is the only chapter out of place with the other 44 chapters uniformly propagating spiritualistic ideas. The use of the term *utkat* for materialists is its originality. Also the five classifications : *Dandotkat, Rajjootkat, Snetotkat, Deshotkat* and *Sarvotkat,* are not available anywhere else, making it a speciality of Rishibhashit. The classifications like *dehatmavadi, paramatmavadi, manoatmavadi* etc, available in various works of Indian philosophy are different than those of Rishibhashit.

21. GATHAPATIPUTRA TARUN

The 21st chaptero f Rishibhashit[179] contains the discours of Gatha-patiputra Tarun. Besides Rishibhashit, his mention can not be found anywhere else in Jain, Vedic, or Buddhist traditions. His basic teaching in Rishibhashit is propagation of the path of knowledge. According to him ignorance is the ultimate anguish.

That again is the cause of fear. This world is the end product of this void of knowledge, in other words the living continues to be reborn in this world because of absence of knowledge, or ignorance. He states about himself, "Earlier I did not know, perceive, or comprehend due to ignorance; but now, due to knowledge, I know 'percieve', and compreh-and, in the past, due to ignorance, I indulged in many immoral and unethical deeds under influence of passions; but now, having knowledge, I shall bring all the sorrows to an end and obtain the permanent and eternal abode, which is liberation.

Giving examples it has been shown in this chapter that because of ignorance how deer, bird, or elephant are caught in trap, how the fish swallow a bait, and how the moth burn themselves kissing a flame. Because of ignorance alone an aged lion jumps in water to fight its reflection, and ends its own life. Similarly mother Subhadra consumes her own son Supriya due to ignorance.

Showing the sad consequences of ignorance the discourse guides towards the path of knowledge and states that it is because of knowledge that the arts such as tracing, refining and formulating medicines are made possible. These statements indicate that Gathapatiputra Tarun must have been a Rishi of the tradition of the path of knowledge. However, in absence of any information about him in Jain, Vedic, or Buddhist traditions, nothing much can be said about him. The story of the old lion and his reflection in water is also available in *Panchtantra*,[180] this confirms the antiquity of both *Panchtantra* and Rishibhashit.

22. GARDABHAL (DAGBHAL)

The 22hd chapter of Rishibhashit[181] is concerning Gardabhal Rishi. Regarding his personality, we find a mention in *Uttaradhyayan Ṡutra*[182] also, besides Rishibhashit. Here he has been mentioned as teacher or *Acharya* of Sanjay and also as *Bhagvan* and *Vidya-Charan-Paraga*; this shows his importance. *Uttardhyayan-sutra* thus confirms that Sanjay and Gardabhal of Rishibhashit were historical persons. In Jain tradition there is also mention of a king Gardabhill of Avanti who was a contemporary of Acharya Kalak and who kidnapped Kalak's sister, Saraswati (a nun). But this Gardabhill is a different person, not the Gardabhal of Rishibhashit. There is not a trace of doubt that *Rishi* Gardabhal of Rishibhashit and *Acharya* Gardabhal of *Uttaradhyayan* are one and the same person.

As regards his preachings detailed in Rishibhashit are concerned, he first states that *karma* are infested with *himsa* (violence), but the enlightened are free of *himsa*, and as such, like a lotus leaf in pond, they are not infested with *Karma* particles. After this the complete chapter is full of prominence of male and condemnation of female. Supporting the prominence of male it has been stated that all religions (*Dharma*) begin with man, and have man as supreme, elder, supporter, illuminater, coordinator, and focus. As an ulcer is dependent on body, ant-hill on earth, lotus on water, and fire on wood, religion is dependent on man.

It is worth mentioning that the Sanskrit Commentator of Rishibhashit, Schubring as well as this translation of Rishibhashit have indicated the meaning of *Dharma*, here, as *Gramya Dharma*, which means religion of mundane passions. But in my opinion, *Dharma* here carries its popular meaning of religious traditions, religious sects or religion. In Jainism, of the ten *Kalpa* (religious texts), *purush* (man) is the senior *Kalpa* which maintains that in context of religious organisation man is all

important and a nun with a seniority of one hundred years has to bow before a freshly inducted monk. Thus it has propagated seniority of man over woman. This system of male superiority was also accepted by Buddha in his organisation. As such the word Dharma here should be understood to mean religion or religious organisation and not the mundane duties, on the style of *Acharanga.*

In the initial couplets of this chapter the condemnation of woman also indicates that supremacy of male over female, in context of religious organisation, was an established fact. Condemning woman, it has been stated that those villages and towns which are ruled by women should be depricated. Similarly those individuals who are governed by women should be lampooned. Woman is like a golden cave inhabited by lion, a poisonous garland, and a river full of whirlpools. She is like a wine that intoxicates. The Villages and towns, where women dominate and are free like untethered horse, are despicable like dancing in a condolence meeting.

This confirms that Gardabhil Rishi was a propagater of male prominence and dominence. However, there is an isolated couplet in this chapter which praises woman. It conveys that woman is like a panegyric of a good family, sweet water, a fully blossomed lotus flower, a *malati* creeper with a snake, But even here she has been condemned in the end with the statement : '*malati* creeper with snake'.

Towards the end of this chapter detailing the causes of bondage, the path of meditation has been recommended. He states at the end that as body thrives due to mind, as a tree thrives due to roots, all the mendicants thrive on meditation. The decorations endowed on Gardabhil in *Uttaradhyayan* confirm his being connected with meditational tradition. He has been called as *Tapodhan* (proficient in ascetic practices), an adherent to religious practices comprising of studies and meditation.

On a comperative study we find that Gardabhill has not been mentioned anywhere in Buddhist tradition. But in Vedic tradition we find a mention of an *acharya* named Gardabhi or Vibhit, contemporary of Janak, in *Brihadaranyak Upanishad.*[183] However in absence of any conclusive proof it is difficult to confirm if Gardabhi-Vibhit of *Brihadaranyak Upanishad* and Dagbhal-Gaddabhal of Rishibhashit are same.

In the *Anushasanparva* of *Mahabharat*[184] there is a mention of a *Brahmavadi* (believer in *Brahma*) son of Vishwamitra, named Gaardabhi. Here he has been mentioned as a *Brahmavadi* and great *Rishi.* This

indicates that he was a prominent *Rishi* of that age. To me, his being son of Vishwamitra appears to be wrong. Because not only him but Gargi, Yajnavalkya, Narad, Kapil etc. also are said to be Vishwamitra's sons, which does not appear to be true. The only possibility is that he was one of the line of Vishwamitra's disciples. However, one thing can certainly be infered, or Gardabhill or Gardabhi was a historic Rishi and possibly of the *Upanishadic* period.

23. RAMAPUTTA

The 23rd chapter of Rishibhashit[185] contains the compilation of the preachings of Ramaputta. His mention is also available in *Sutrakritang*,[186] *Sthanang*,[187] and *Anuttaropapatik*.[188] In *Sutrakritang*[189] he has been mentioned alongwith Asit Deval, Nami, Narayana, Bahuk, Dvaipayan, Parashar, etc. He has been said to be accepted in the discourses of *Nirgranths* (*Iha sammata*) and is supposed to have attained liberation inspite of eating food etc. It should be known that in some printed editions of *Sutrakritang* and commentary by Sheelank, his name has been mentioned as Ramagutta, which is not correct. Rama-utte, mentioned in *Sutrakritang-churni* is correct and its Sanskrit transliteration is Ramaputra. The proof of this has been mentioned in details in an article by me and Prof. M. A. Dhaki in the Pt. Bechardas Doshi memorial publication.

Besides *Sutrakritang*, according to the information available in *Sthanang* also, there was a chapter titled Ramputta in ancient editions of *Antakritdasha*, which is not available in the current editions of *Antakritdasha*. It is possible that this chapter contained life and works of Ramaputta. Also the sixth chapter of third part of *Anuttaropapatik* is about Ramaputta. Here he is said to be a contemporary of Mahavir and inhabitant of Saket. Besides these two facts, authenticity of other information in this source is not impeccable. *Sutrakritang* and Rishibhashit both conclusively indicate that Ramaputta did not originally belong to the *Nirgranth* tradition, still he was given a respectable place there.

We find mention of Ramaputta in Buddhist tradition also. According to the information available in *Pali Tripatak*[190] his full name was Uddak Ramaputta and he was older than Buddha. In the begining Buddha took training of meditational practices from Ramaputta, and when he attained omniscience he wanted to go and preach him; knowing his potential. But it was too late, as Ramaputta had died by then. Thus he was an elder

contemporary of Buddha and Mahavir. *Pali Tripitak* also conveys that he had his own peculiar style of yoga practices as well as a respectable number of followers. Buddha respected him.

The preachings of Ramaputta in this chapter are in prose. First of all it mentions about two types of death, one is the pleasant death (death within meditation) and the other is the unpleasant death (death out of meditation). It has also been explained here that in order to get liberation from the mundane bondages one should practice *Jnana* (knowledge), *Darshan* (perception), and *Charitra* (conduct). A mendicant should comprehend through *Jnana*, percieve through *Darshan*, and discipline through conduct, and disintegrate the microparticles of Karma through ascetic practices.

A developed form of this school of thought can be seen in an ancient canon like *Uttaradhyayan* sutra. In the fifth chapter of *Uttaradhyayan* the two types of death have been explained in details. The 28th chapter states about knowing through *Jnana*, believing through *Darshan*, accepting through conduct, and cleaning through ascetic practices. *Uttardhyayan* also says about shedding of Karmic particles through ascetic practices. But still the text of Rishibhashit is older than *Uttaradhyayan*. This is because the language and style of Rishibhashit is older than *Uttardhyayan*. For *'Dasanena Saddahe'* it mentions *'Dasanaina pasitta'* which is of older style; because the transformation of meaning of *Darshan* from perception to faith is a much later incident in Jain tradition. Also it appears that the prevailing conception of eight classifications of Karma must have had its origin in theories of Ramaputta. All this goes to prove that Ramaputta was a revered Acharya of *Sraman* tradition, senior to Mahavir and Buddha. Also, that Ramaputta of Rishibhashit, *Sutrakritang* and *Pali Tripitak* are one person. He has also been named as Uddak Ramaputta.

24. HARIGIRI

The twentyfourth chapter of Rishibhashit[191] contains the preachings of Harigiri. We do not find any information about Harigiri from any source other than Rishibhashit. As such it is difficult to say much about his personality. As regards his preachings, the first thing he says is that earlier all was *Bhavya* (decided or preordained) but now every thing is *Abhavya* (undecided or not pre-ordained). The meaning of this statement is that as long as an individual is ignorant (illusioned) his present is dependent on bondage of the earlier (previous life) karma or decided or

pre-ordained. But on getting knowledge he becomes the maker of his destiny and so his future depends on his endeavour or is undecided or not pre-ordained. Or in other words, past is the maker of our present but we ourselves are also the makers of our future. As such the past is *Bhavya* (pre-ordained) and future is *Abhavya* (not pre-ordained). Infact, his preaching is that the present is dependent on the past and pre-ordained but the future can be made through endeavour and knowledge. As such the future of a proficient mendicant is not pre-ordained or is *Abhavya.* In fact this matter of pre-ordained and not pre-ordained is connected with the Karma principle. According to the Karma principle our present is result of our Karma in the past, but we can become the moulders of our future. This capacity of being or not the moulder of the future has been discussed in this chapter.

The Karma principle and its importance has been detailed in this chapter. Which is similar to other chapters. After detailing the Karma principle, attachment or ignorance have been discussed as the root causes of bondage of karma. It has been explained that how under the influence of attachment a person enters the bondage of Karma. In this context it has also been explained that an individual enters the bondage and can come out of it on his own. As such an ascetic should properly understand the complex nature of cycle of Karma and transcend through meditation in order to be free from the bondage of Karma.

Thus we see that the thoughts of Harigiri compiled in Rishibhashit deal elaborately with the consequences of attachment with reference to proper and organised human endeavour and Karma principle. But all these facts have been explained in the preachings of other *Rishis* in a similar fashion. As such, it is difficult to say that Harigiri had some original line of thinking. We can only state that he presented the Karma principle as an assimilation of *Niyativad* and *Purusharthvad.*

There is a mention of Harit-ther in the Buddhist tradition.[102] But it is difficult to conclude that this Harit-ther and Harigiri of Rishibhashit are same. Although he has been said to be an Arhat and a proficient ascetic, in absence of details, nothing can be said conclusively. Besides Buddhist tradition, the lineage of *Acharyas* given in *Brihadaranyak-upanishad*[103] mentions one Harit Kashyap, a disciple of Kashyap. I feel that there is a probability of Harit Rishi of *Brihadaranyak-Upanishad* being Harigiri of Rishibhashit. But in absence of conclusive proof it is difficult to accept this statement also.

25. AMBAD PARIVRAJAK

The twentyfifth chapter of Rishibhashit[194] is about Ambad Parivrajak. In Jain canonical literature his mention can be found, besides Rishibhashit, in *Samvayang*,[195] *Bhagwati*,[196] *Aupapatik*,[197] and *Sthanang*,[198] also. In *Samvayang* he is believed to be a future *teerthankar* in the next time cycle (ascending). According to *Bhagwati-sutra* he was a *parivrajak* living in Sravasti town. The incident of Ambad Sanyasi accepting *Sravak Dharma* (Jain religion) after a dialogue with Mahavir is narrated in *Bhagwati* and *Aupapatik sutras*. This indicates that inspite of having faith in Mahavir's religion he maintained his independent tradition.

Aupapatik also conveys that a branch of *Brahman Parivrajaks* carried his name. This branch probably continued till the present edition of *Aupapatik* was concluded, which was around 4th-5th century A. D. Similarly according to *Sthanang* the tenth chapter of *Antakritdasha* was about Ambad Parivrajak. However, this chapter is not found in the present edition of *Antakritdasha*. *Aupapatik* has also described in details the system of conduct of Ambad and other *Brahman Parivrajaks*. However, complete analysis of all that is not possible here, due to lack of space.

Aupapatik narrates in details the incident of how Ambad Parivrajak and his disciples courted death, accepting the vow of *Sallekhana* (fast till death) in a forest on the banks of the Ganges while they were on their way to Purimtaal town. It was during summer, on sand, and was done following their discipline of not taking water without being offered by someone. For a comparative study this narration is important and presents a vivid picture of the conduct followed by the tradition of Amdad Parivrajak. In the Jain canonical literature Ambad has been mentioned everywhere with due reverence.

In Buddhist tradition[199] we find a mention of Ambatth Manavak. According to the Buddhist tradition Ambatth was a disciple of Brahman Poshkar Saati. He had a debate with Bhagvan Buddha on the subject of superiority of Brahmans. Whereas Ambatth accused the *Shakyas* of belonging to lower caste, other people demeaned Ambatth by calling him son of a slave woman. In conclusion of this discussion Buddha asserts the importance of conduct in the formulation of the caste system. In this narration the point worth considering is that Ambatth has been addressed as *Krishnayan* or belonging to the lineage of Krishna Rishi. As is known, a school of *Brahman Parivrajaks* is named Kanha according to Aupapatik. It is a possibility that the Krishna Rishi mentioned in *Ambatth-sutta* was Varisava Kanha of Rishibhashit.

As far as the Vedic tradition[200] is concerned, the term Ambashtha has been mentioned as a particular clan-name which originated with Brahman father and *Vaishya* mother. In Buddhist tradition this name is used for the clan originating from *Kshatriya* father and *Shoodra* mother. As regards the mention of Ambad or Ambashtha as a *Rishi*, both Vedic and Buddhist traditions do not provide any information.

The chapter of Rishibhashit titled Ambad also mentions Yogandharayan Rishi. In the Jain tradition, besides Rishibhashit *Avashyak*-churni.[201] also provides details about him. *Avashyak-churni* states him to be a minister of king Udayan. As such Ambad and Yogandharayan were certainly contemporaries of Mahavir.

26. MAATANG

The twentysixth chapter of Rishibhashit[202] contains the collection of preachings of the *Arhat-rishi* named Maatang. In Jain tradition besides Rishibhashit there is no mention of Maatang anywhere. Although *Avashyak* mentions about a Maatang *Yaksha*, it is difficult to connect him with Maatang of Rishibhashit in any way. In this chapter of Rishibhashit first of all the attributes of a true *Brahman* have been stated. These attributes are similar to those mentioned in the twentyfifth chapter of *Uttaradhyayan*[203], as well as the *Brahman* section of *Dhammapad*.[204] However, here these attributes have been briefly mentioned only in six couplets, whereas in *Dhammapad* and *Uttaradhyayan* comparatively more detail is available. Even than, besides a difference in language there is hardly any difference in the subject matter.

Besides this, this chapter also discusses spiritual-cultivation (*Adhyatmic Krishi)*. This subject is also available in the thirtysecond chapter of Rishibhashit, titled *Pingiya*, and the *Kasi-Bhardwaj-sutta* of the Buddhist work *Suttanipat*.[205] At the end of this chapter it has been mentioned that he who indulges in such cultivation that involves compassion towards all beings, attains purity; be he *Bhrahman, Kshatriya, Vaishya*, or a *Shudra*. It should be recalled that the fourth couplet of thirty-second chapter titled Pingiya is same, verbatim.

Besides Jain tradition Buddhist tradition also mentions Maatang. In Buddhist literature Maatang has been stated as a *Pratyeka Buddha* and resident of Rajgriha. According to *Maatang Jatak*[206] he was born in a *chandal* (a lower cast Hindu) family and he stripped the *Brahmans* of their bloated pride. The true image of a *Brahman* conveyed in his preachings in Rishibhashit also indicates that he rejected the supremacy

of *Brahman* caste on the basis of birth. The word *Maatang* indicates chandal caste. It is worth mentioning that the *Maatang Jatak tale* of Buddhist tradition is similar to the 12th chapter of *Uttaradhyayan*[207] titled Harkeshi.

In Brahman tradition we find mentions of Maatang Rishi in *Mahabharat*[208] also. The preachings of Maatang Muni in *Mahabharat* basically convey that a brave person should always continue his endeavours. He should not bow before any one, because to work is the duty of man. The brave may perish under blows of adverse predicament but they would never bow down. When we compare this message of Maatang with the preachings in Rishibhashit, one similarity becomes evident that both direct an individual to follow the conduct as per his family tradition. In Rishibhashit Maatang expresses astonishment at *Brahmans* becoming warriors, and rulers and traders indulging in relgious rituals. He considers such acts to be blind acts. This chapter mainly conveys that *Brahman* should neither wear a bow nor ride a chariot or carry other armaments. True *Brahman* should neither resort to falsehood nor stealing.

All this information leads us to the conclusion that Maatang was an important pre-Mahavir and Buddha Rishi, born in lower caste and propagated spirtualism. His preachings were accepted with reverence by all the three traditions, Jain, Buddhist and Vedic.

27. VARATTAKA

The 27th chapter of Rishibhashit[209] compiles the preachings of Arhat Rishi named Varattaka. In Jain tradition, besides Rishibhashit, *Avashyakchurni*,[210] *Nisheeth-Bhashya*,[211] *Vrihatkalp-bhashya*,[212] *Haribhadra* commentary of *Avashyak*[213] etc. also mention him. The ninth chapter of the sixth section of the available edition of *Antkritdasha* is about Varattaka. Here he is said to be a trader of Rajagriha city who accepted monkhood through Mahavir and got Nirvana on Vipul mountain. But in *Avashyak-churni*, *Nisheeth-bhashya*, and *Vrihatkalpa-bhashya* he is said to be a minister of king Abhayasen of Varattapur town. According to *Avashyak-churni* he was inducted into monkhood by Acharya Dharmaghosh.

Besides *Avashyak-churni* the story of Varattak is also available in *Rishimandal-vritti*. According to this story, during his monk life he did a forecast which resulted in the victory of king Dhundhumar of Sunsumar city, over Chanda Pradyot. Knowing the cause of Dhundhumar's victory,

Chanda Pradyot addressed Varattaka as *Naimitik-Muni* (a forcasting monk). Knowing the folly of his unbridled utterings, Varattaka devoted himself to repentful meditation and attained *moksha*. How true is this story is hard to tell, but these details about Varattaka indicate that he must have been an important Rishi.

This chapter contains, in form of preachings of Varattaka Rishi, an outline of what an ideal *sraman* should be like. According to this a monk should be averse to the contacts with worldly people or house-holders. At the same time, leaving ties of affection, he should pursue the path of liberation by keeping away from mental abberations and indulging in studies. Entertainment of house-holders by reading dreams, predictions, satisfying vain curiosities etc., accepting and utlising charity ; joining the marraige and other cerimonial rituals of disciples ; accompanying rulers in war; all such acts, done for mundane pleasures and attracting disciples and followers, are against the conduct of a monk. A *sraman* who tolerates pleasure and pain by becoming poor and religious and does not abandon his goal, becomes victor of senses, detached and is not reborn.

These preachings of Varattaka, with slight verbal variations, are found also in the *Sabhikshu* and *Paap-sraman* chapters of *Uttaradhyayan*. However, there the names of the preachers are not clear. In Buddhist tradition there is a mention of a Varana—ther[214] who became a monk influenced by the preachings of some jungle dwelling monk. However, it is difficult to connect him in any way to Varattaka. We do not find any reference of Varattaka in Vedic tradition. As such it is difficult to infer any thing about him on the basis of sources other than Jain and Buddhist.

28. AARDRAK

The twentyeighth chapter of Rishibhashit[215] is about Aardrak. Available Prakrit forms of Aardrak are *Adda-a* and *Addag*. However, we should remember that Rishibhashit contains details of two monks with similar names-Aardrak and Uddalak. In Prakrit Uddalak is called Uddalava; as such a note should be taken of the variation in the Sanskrit forms of these two names.

Besides Rishibhashit, we find mention of Aardrak also in *Sutra-kritang*,[216] *Sutrakritang-niryukti*[217] and *Sutrakritang-churni*[218]. In *Avashyak*[219] also, he has been mentioned as Aardrak Kumar. According to *Sutrakritang* when he goes to become a monk, he meets monks from

other *Sraman* traditions like *Ajivak,* Buddhist, and *Hasti-tapas* etc. and they present the special attributes of their respective traditions.

Sutrakritang-churni also gives stories of his present and past births. According to the story he was the son of the king of Aardrakpur. Abhay Kumar had presented him an idol of Rishabh. Which inspired him to abandon the mundane life. In the Basantpur town a girl playfully took him as her husband and ultimately he had to marry her. But a few days later he once again moves out to become a monk and meets various monks as stated earlier. It is difficult to adjudge the authenticity of this story but one thing is certain, that he was some historical monk of the period of Buddha and Mahavir. The details of his discussions with monks of various traditions, narrated in *Sutrakritang,* confirm that he was either influenced by or belonged to the *Nirgranth* (Jain) tradition.

As regards his preachings in Rishibhashit are concerned, he preaches to be away from the lusty pleasures of the mundane world. According to him sexual desires are ailments and are the root cause of degradation. The people afflicted with sexual desires are sufferers of woes. Sexual desire is a sharp knife, it is poison. As long as a being does not destroy this knife or poison of sex he can not be liberated from the cycles of birth. The intellectual and scholar should try to remove his tarnishments every moment. When a single good deed of one moment is enormously beneficial, why would the efforts towards liberation not result in infinite benefits.

This discourse does not contain anything special or original. Many couplets of this chapter can be found in *Uttaradhyayan* and *Dash-vaikalik* with little verbal variations. The mention of Aardrak in an old work like *Sutrakritang* proves that he must have been a historical person. Besides Jain tradition, Aardrak does not find any mention in Buddhist and Vedik tradition, as such it is difficult ro present comperative study of his life and works. Absence of his name in other traditions indicates that he was connected with *Nirgranth* (Jain) tradition also.

29. VARDHAMAN

In the 29th chapter of Rishibhashit[220] are collected the preachings of *Arhat-rishi* named Vardhaman, According to the traditional belief of Jains he is said to be a *Pratyek-Buddha* or *Arhat Rishi* of the sect of *Teerthankar* Parshwa, but in my opinion this Vardhaman is none else but Bhagwan Mahavir himself. The family name of Mahavir, according to Jain tradition, is Vardhaman. *Kalpsutra* and *Chaturvinshat—stav* refer

to Mahavir by this name. As regards the story of Vardhaman's life is concerned, we find detailed description of his personality and philosophy in many ancient canonical works like *Acharanga,*[221] *Sutrakritang,*[222] *Bhagwati,*[223] *Kalp-sutra*[224] etc. In my opinion, there is no scope of any doubt in accepting that the Vardhaman of Rishibhashit is Bhagwan Mahavir recognised as the twentyfourth *Teerthankar* by Jains. Another proof of this is that there is complete similarity in the preaching of Vardhaman in Rishibhashit and Mahavir in the 32nd chapter of *Uttara-dhyayan* and the *'Bhavana'*[225] chapter of the second *Srutaskandha* of *Acharanga.*

In the begining of this chapter he says :

There is influx from all around, why do you not stop this influx ? How this influx is blocked ? When the five senses are awake the soul sleeps and when these five sleep soul is awake. Through these five the particles (Karmic-particles) are ingested and through these five only the ingestion is blocked. The subjects, like words etc., of the five senses like hearing etc. are pleasant and unpleasant. One should not be attached to the pleasant ones and should not be averse towards the unpleasant. His influx is blocked, who is alert and unrevolting. That pure soul, who conquers his mind and its passions and indulges in right penance shines like the flame of a *yajna.* In this manner, this chapter emphasizes on the discipline of mind and the five senses.

This theme of this chapter, with slight verbal variations, is also available in the second *shrutaskandha* of *Acharanga* in the chapter titled *Bhavana* and in *Uttaradhyayan* in the 32nd chapter titled *Pramad-Sthan.* This proves that this must have been the original discourse of Vardhaman Mahavir. The sentence *'Deva Vi Tam Namasanti'* is also available in the first chapter of *Dash-vaikalik.*[226]

This was his original discourse and its language also is accordingly. Another proof of this inference is that in the *Pali-Tripitak,*[227] in the discourse of Nigganthanataputta (Nirgranth Jnata-Putra or Vardhaman) a part of a sentence is *'Savva Vari Varito.'* In Rishibhashit in this chapter there is a similar sentence : *Savva Varihim Variye.'* It should be recalled that Pt. Rahul Sankratyayan has interpreted *'Vari'* as water, which is not correct Here *Vari* means that which should be abandoned or washed, or the evil deeds; *Sutrakritang*[228] also mentions in preachings of Mahavir : *'Se variya itthi sarayabhattam.'*

Besides Jain literature the mention of Mahavir Vardhaman is also available in Pali Buddhist literature. Here he has been mentioned as

Nigganth Nataputta and believed to be a senior contemporary of Buddha. According to the *Nirvana* years of Buddha and Mahavir, Buddha appears to be approximately 30 years younger to Mahavir. He has been recognised as one of the six *Teerthankar* contemporaries of Buddha. The references about him in the Pali literature have been thoroughly researched by Indian as well as Western scholars, As such I do not feel the need to discuss much about the subject here.

I would only like to discuss one point from *Thergatha Atthakatha,*[229] that has been neglected by scholars. In the *Atthakatha* of *Thergatha,* Vaddhaman-ther has been mentioned as a *Lichchhavi* prince of Vaishali. This is the information which relates him to Vardhaman Mahavir. After a comparative study I have arrived at the conclusion that not all the *Thers* of *Thergatha* belonged to the Buddhist tradition. Thoughts of many famous pre-Buddha *Sramans* have been included in it. However, due to sectarian polarisation, efforts have been made in *Atthkatha* to connect them to Buddhist tradition.

As Rishibhashit and *Uttaradhyayan* of Jains have compiled thoughts of Rishis of other *Sraman* traditions, *Thergatha* also has compiled thoughts of *Rishi's* of other *Sraman* traditions. On this basis, I believe that Vaddhaman of Rishibhashit and Vaddhaman of *Thergatha* are same. At the same time Nigganth Nataputta of *Pali Tripitak* and Vardhaman Mahavir of Jains are same as Vaddhaman of *Thergatha* and Rishibhashit. On this basis the historicity of Vardhaman is also clearly established. In *Thergatha* also Vardhaman-ther has talked of abandoning attachment just like in *Aacharanga* and *Uttaradhyayan.*

30. VAYU

The thirtieth chapter of Rishibhashit[230] is about the *Rishi* named Vayu. Besides Rishibhashit nowhere else in Jain canonical literature can one find a mention of Vayu Rishi. Although the third out of eleven chief disciples *(Ganadhar)* of Mahavir was named Vayubhati,[231] it is difficult to say that he was same as Vayu Rishi, Because, on this issue no evidence is available within or without the tradition, In Buddhist tradition Vayu has been mentioned only as a god.

In Vedic sources also, Vayu has been accepted only as a god. Only *Shantiparva* of *Mahabharat* mentions an ancient Rishi Vayu who visited Bhishm while he was on the arrow-bed. Similarly *Shalyaparva* of *Mahabharat* mentions about Vayu-chakra, Vayu-jwal, Vayubal, Vayu-

mandal, Vayureta, and Vayuveg Rishis. But first of all they appear to be *Pauranic* (pre-historic) not historical, and secondly there is no apparant similarity with Vayu Rishi. Besides this, another Rishi named Vayubhaksha has been mentioned; he was present in the assembly of Yudhishthar[232] and also met Krishna on the way. Vayubhakshi ascetics have also been mentioned in *Aupapatik.*

As regards the preachings of Vayu Rishi are concerned, he chiefly propagates the *Karma* principle. He says that as one sows so he reaps, good deeds bring good results and bad deeds bad. No act goes in vain. How the fruitition of *Karma* takes place after death has been asserted by stating that it is the roots that are watered but fruits grow on branches, which means that fruit is displaced by time and space from the act of watering. Similarly, the effect of the deeds takes place at a different place at different time. Besides this simple propagation of *Karma* principle, no other original thought is found in this chapter.

31. PARSHWA

The thirty first chapter of Rishibhashit[233] contains the philosophical thoughts of Arhat Parshwa. Although the traditional belief of Jains is that this Arhat Parshwa was a *Pratyek Buddha* contemporary and not Teerthankar Parshwa himself. But all scholars unanimously accept that he is Parshwa himself. The Propagation of *Chaturyam* (four dimensional religion) in his preachings is a conclusive evidence of this theory[234]. Although the Buddhist and Vedic sources do not provide any information about Parshwa, the propagation of *Chaturyam sanyam* by Nirgranth Jnata putra in Buddhist tradition is in fact the *Chaturyam* of Parshava.

Similarly, Buddhist literature contains information about Buddha's uncle, Vappashakya, being a follower of Nirgrantha tradition. Vappa also must have been from the tradition of Parshwa, because Mahavir's tradition was only at the developing stage during that period. The historicity of Parshwa is established by various evidences and many Eastern and Western scholars have accepted this. In this context I have dealt in my book 'Arhat Parshwa and His Tradition'[235]; readers may consult it for further details.

In Jain canonical literature details about Parshwa and his tradition are available in Acharanga[236], Sutrakritang[237], Samvayang[238], Bhagwati[239], Aupapatic[240], Rajprashniya[241], Niryavalika[242], Kalpa-sutra[243], Avashyakchurni[244] etc. Besides this, many story books contain story of Parshwa's life partly and fully. Uttaradhyayan, Sutrakritang and Bhagwati have

explained the difference between traditions of Parshwa and Mahavir[245]. Main points of contradiction were Chaturyam and Panch Mahavrata (five major vows) and cladness and uncladness. But besides these there were other points of contradiction like form of discourse regarding Pratikraman (re-evaluation) and Ahimsa; information about Samayik, discipline, blockage of Karma influx, morals and penance; these have been discussed in Sutrakritang and Bhagwati. According to Bhagwati Sutra, Kalasya-Vaishik putra, an ascetic follower of Parshwa, while being inducted to Mahavir's monk organisation, accepted five vows and Sapratikraman dharma (rites of daily re-evaluation of actvities), and also as discipline, uncladness, head shaving, non-bathing, not brushing teeth, uncovered head and feet, sleeping, on floor, sleeping on sheet, sleeping on wood, plucking hair, continence, entering others house for alms[246], equanimity for available and non available. This shows that these disciplines did not prevail in the tradition of Parshwa.

The rules about keeping umbrella, shoes, leather bags, and cutting of nails, mentioned in the *Chhed* sutras, were adopted in Mahavir's school through the influence of the Parshwa followers. This is also true that due to the luxurious inclinations of *Parshwite* monks, *Pasath (Parshwath)* became a synonym of laxness in conduct. *Jnata* and *Avashyak-churni* contain mentions of laxness of many monks and nuns belonging to the tradition of Pasrhwa[247]. All this indicates that Parshwa was a historical *Rishi* whose tradition, which was comparatively easy going, prevailed during Mahavir's period and many *Parshwite* monks were shifting to Mahavir's school.

As regards the philosophy of Parshwa described in Rishibhashit, it is the most ancient and authentic form of religious and philosophic beliefs of Parshwa available. Rishibhashit contains both philosophical and religious thoughts of Parshwa. It should be noted that Rishibhashit also contains that variation of Parshwa chapter which was included in the book titled *Gativyakaran*[248]. From philosophical view point it contains form of the Universe; movent of matter and soul; *Karma*, its precipitation, fruitition, and various consequences. Also discussed are *panchastikaya* (five fundamentals) and form of *Moksha*. From view point of conduct it contains discussion about Chaturyarm, passions, the eighteen evil activities from killing to misconception, sterile food etc.

First of all it conneys that the Universe and five fundamentals are eternal. But with the acceptence that the Universe is eternal, it has also been stated that it is transient; the fact that Parshwa believed the

Universe to be eternal is also mentioned in Bhagwati sutra. Again, soul and matter both are said to be dynamic and soul tends to move upwards and matter downwards. Originally four movements, *Dravyagati* (movement of matter), *Bhavagati* (movement of thought or feeling), *Kshetragati* (Movement of space) and *Kaalgati* (movement of time) have been discussed. but in text variation *Prayogagati* (movement inspired by others) and *Visrasagati* (self inspired movement), have also been discussed. Also narrated is the discussion about eight types of *Karmic* bondages and four categories of life forms. Text variation also details *Audayik* and *Parinamikgati.* (self evolved and consequentially evolved life forms). Along with is mentioned that a being suffers the consequences of evil and good deeds done by him. In the end presenting the moral thoughts it has been said that one who follows *Chaturyam,* is devoid of passions, and eats sterile food, does not enter the eight types of *Karmic* bondages, and ultimately gets liberated[249].

32. PING

In Rishibhashit[250] Ping has been mentioned as *Brahman Parivrajak Arhat Rishi.* The adjective *Brahman Parivrajak* clearly indicates that he was a Rishi of Brahman tradition. His discourse in Rishibhashit mainly propagates details about spiritual cultivation. An unknown Rishi asks Ping, "Which is your farm (working area) ? What is irrigation ?" The reply given is "Soul is the farm or working area, penance is the seed, discipline is irrigation and Ahimsa and attitude are the oxen. This is spiritual cultivation. For a dispassionate monk only this cultivation is proper, and it begets happiness in the next life. Being compassionate towards all beings, if one indulges in this cultivation; be he *Brahman, Kshatriya, Vaishya* or *Shudra*; he attains omniscience[251]. This is the description of spiritual cultivation, which on one side explains the spiritual cultivation and on the other hand clarifies that practicing such cultivation leads to liberation irrespective of caste and creed. The most important information that this chapter provides is that a *Brahman Parivrajak* propagates the concept of liberation for all the four castes.

In Rishibhashit itself this type of spiritual cultivation has been described with a little variation in the 26th chapter of Maatang. This chapter of Ping has only four verses on this topic whereas in the Maatang chapter eight verses describe the same topic. Thus this chapter contains just a brief version of the spiritual cultivation detailed in the 26th chapter titled Maatang.

In Jain tradition I have not come across this type of spiritual cultivation but in Buddhist tradition *Suttanipat* and *Sanyutta Nikaya* describe

this spiritual cultivation. In the fourth chapter, Kasi Bhardwaj, of *Suttanipat* we find its details. There, Buddha himself is presented as a farmer. He says, "Faith is seed, penance is rain, knowledge is yoke, humility is the stud of yoke, memory is my plough. I am disciplined about food and speech. I un-weed the truth. The endeavour towards *nirvana* are the oxen drawing my plough. They perpetually move in the direction leading to the place where there is no pathos. Such cultivation gives nectar as fruit. Doing such cultivation man becomes free of all sorrows."

Sanyutta Nikaya also provides almost same description. The description about spiritual cultivation conveys that in society at some point their was an aversion towards *sramans* seeking alms. These *sramans* were told that instead of begging alms they should indulge in cultivation. In reply to such suggestion the *sramans* presented the details of spiritual cultivation.

Besides Rishibhashit, details about Ping are found in Buddhist[252] tradition as well. In *Anguttar Nikaya* of Buddhist tradition there is a mention of a Brahman named Pingiyani, who lived in Vaishali and was a follower of Buddha. *Sanyutta Nikaya* also mentions a Pingi Bhikshuk who attained *Arhathood*. *Suttanipat* also mentions Maharshi Pingi. In the *Parayan Vagga* of *Suttanipat*, initially Maharshi Pingi is said to be a disciple of Bavari. Maharshi Pingi is one of the sixteen disciples of Bavari. He has been addressed with adjectives like—*Lok Vishrut* (famous), *Dhyani* (mendicant), having refined past life *Karma*, *Gani* (leader). In the *Pingi Manavak Puccha Sutta* of *Parayan Vagga* the dialogue between Buddha and Pingi has been narrated. Here Pingi describes his old age to Buddha and says that he is delapidated, weak, bad complexioned; his eyes and ears are not fully functioning. Stating thus he seeks discourse from Buddha so that he may be rid of life and death and does not, in process, beget death with attachment.

Buddha preaches Pingi to be alert and end desires. These details from *Suttanipat* clearly indicate that Ping was contemporary of Buddha but senior to him in age. The information about his being a disciple of Buddha, availabie in *Suttanipat*, is for the purpose of glorifying Buddha's field of influence. As such the description available in *Suttanipat*, cannot be accepted verbatim. Prof. C.M. Upasak[253] has conveyed the possibility of Pingi or Pingiyani of *Pali* literature being a different person and not the Ping of Rishibhashit. According to him, Ping of Rishibhashit was an ancient *Rishi* who started the tradition of Pingi or Pingiyani monks.

I have no objection agreeing to the inference drawn by Prof. Upasak. It is a possibility that some *Pingiyani* of the tradition of Ping

Rishi may have been converted into Buddhism. But, probably, Prof. Upasak has not noticed the above mentioned narration from *Suttanipat*. He is probably refering to the *Pingiyani* of *Anguttar-Nikaya* and *Samyutta-Nikaya*. *Suttanipat* has mentioned that he was a disciple of Bavari, as such here Ping indicates person not sect. Also the adjectives like leader of the people, famous in the land, mendicant and others have been given to his name as an individual. He was certainly elder to Buddha.

It is a matter of doubt, if Pingi of *Suttanipat* should be taken as Ping of Rishibhashit or his disciple, but all this goes to prove the historicity of the *Arhat Rishi* of Rishibhashit named Ping. In the *Atthakatha* of *Suttanipata* Pingi has been addressed as *Arhat*[254]. As such there is a possibility of Ping of *Suttanipat* being non else but Ping of Rishibhashit.

Mahabharat[255] mentions one *Rishi* named Pingal. But it is difficult to connect him with Ping of Rishibhashit on basis of their period and other facts.

33. MAHASHALPUTRA ARUN

The thirtythird chapter of Rishibhashit is about the preachings of Mahashalputra Arun. Besides Rishibhashit mention of Arun is not found anywhere in canonical and other Jain literature. Rishibhashit calls him Mahashalputra Arun[256]. Question is that who is this Arun Rishi ? In fact Arun is a *Upanishadic Rishi*. Schubring eqates Arun with the *Upanishadic Rishi* Aaruni[257], which is incorrect because Aaruni's other name is Uddalak and Rishibhashit contains an independent chapter on Uddalak. The word Aaruni itself indicates that he was either a descendent or disciple of Arun. As such Mahashal Arun was either father or teacher of Aaruni Uddalak. In the *Vedic* encyclopidia and names appendix of *Mahabharat*[258] Aaruni-Uddalak is one person and Arun is his father. According to *Shatpath Brahman* and *Brihadaranyakopanishad* his full name was "Arun Aupaveshi Gautam". He was called Aupaveshi as he was a disciple of Upaveshi and Gautam as he belonged to the Gautam clan[259].

Now the question is that what is the reason behind adding Mahashalputra before his name mentioned in Rishibhashit ? According to Chhandogyopanishad the *Brahmans* trained by Ashwapati were called Mahashal[260]; as Arun was also trained by Ashwapati, he may have been called Mahashalputra. Thus it is proved that Mahashalputra Arun of Rishibhashit is the *Upanishadic Rishi* Arun Aupaveshi Gautam and father and teacher of Aaruni Uddalak. The name of Sanjaya, the ruler of Mithila,

has also been used in this chapter. We shall discuss about this while discussing the 39th chapter titled Sanjaya.

As regards the preachings of Arun Rishi stated in Rishibhashit, he says a person's wisdom and foolishness can be judged only on the basis of his language, behaviour, and conduct. Rustic language, evil deeds, and lack of morality about his conduct are signs of foolishness. On the other hand civilized language, good deeds, and morality in conduct are signs of wisdom. With this it has been revealed that the company one keeps has the maximum influence on a person. This fact has been elaborated with many examples. In conclusion it has been stated that a wise and disciplined ascetic should completely understand equanimity and Ahimsa and keep company of inspiring freinds.[261]

Although Buddhist tradition mentions five persons named Arun,[262] none can be connected with Arun of Rishibhashit on the basis of available details. As such the conclusion remains that Mahashal putra Arun of Rishibhashit is Arun Aupaveshi Gautam of *Upanishads.*

34. RISHI GIRI

The thirty fourth chapter of Rishibhashit contains the discourse of Brahman Parivrajak named Rishigiri. He has not been mentioned anywhere else besides Rishibhashit. Although mentions of Rishidatta, Rishi-gupta etc. are available, it is difficult to establish any connection with Rishigiri. Similarly there is no mention of *Brahman Parivrajak* named Rishigiri in Buddhist and *Vedic* traditions. As such it is difficult to provide any information about his personality.

His preachings[263] advise to tolerate with equanimity the pains inflicted by evil and foolish people. He states that if some one criticizes in absentia one should be equanimous by thinking that he is not criticizing in your presence. If someone criticizes in your presence you should think that he is inflicting by words and not physically. If some one gives physical pain you should think that he is not using a weapon to disfigure. If he disfigures, you should think that he is not killing. And if he kills you should think that he is not depriving you of your *Dharma* (duty or religion). "An ignorant is foolish by nature, he is not aware of good or bad consequences", thinking thus you should be equanimous towards him.

It should be noted that same details are also available in *Pali* literature. Here Buddha asks a monk, "If some one criticizes you, what shall

you do ?" The monk replies, "I will think that he is only criticizing me, he is not beating me." In this manner complete discourse is repeated. The only difference is that in Buddhist tradition it as in the form of a dialogue between Buddha and a monk, whereas in Rishibhashit it is in the form of preaching of Rishigiri.

Besides this the chapter directs to become practitioner of five great vows, devoid of passions, and disciplined in thought and senses, by knowing the form of the universe. A weak person deeply involved in passions and pleasures sometimes wishes for death and sometimes for life, ultimately destroying himself. But the one who is not allured by lust begets liberation, that is without bondage and attachment. This discourse of Rishigiri is also available elsewhere in simple terms. As such on the basis of these preachings we do not get any inkling of any speciality in his concepts.

35. UDDALAK

The 35th chapter of Rishibhashit contains the discourse of Uddalak (Uddala-a). In the Jain canonical and other literature Uddalak has not been mentioned anywhere else besides Rishibhashit. In fact Uddalak is a *Upanishadic Rishi.* He was son of Arun Aupaveshik Gautam. His famous name was Uddalak-Aaruni. He has been called Aaruni because of being son of Arun. His mention is found in *Shatpath Brahman, Kausheetaki Brahman, Etereya Brahman, Brihadaranyak Upanishad, Chhandogyopanishad,*[261] etc. He was a disciple of his father Arun, Patanchal Kapya of Madra (a geographical area). His son was Shvetaketu. Although he is also said to be the father of Nachiketa, Shri Suryakant has expressed his doubt in Vedic encyclopedia.[265]

In Uddalak *Jatak* of Pali literature we find mention of Uddalak[266]. According to this he was son of the state priest of Benaras, born to a slave mother. He went to Takshashila for education and after completing his education he became leader of a group of monks. He traveled back to Varanasi and earned ample respect of masses. But the state priest, knowing of the ambiguity of his conduct, forced him to abandon monkhood and made priest under himself. Shwetaketu has also been mentioned in this context. In Vedic tradition Shwetaketu is said to be Uddalak's son. All these references indicate that this story has been presented in the Buddhist tradition after distorting it.

On these grounds we may infer that Uddalak mentioned in Rishibhashit, *Jatak Katha* and *Upanishads* is same person.

Coming to his preachings in Rishibhashit,[167] he has first of all prohibited the four *Kashayas* (passions). He who indulges in these, wanders (in cycles of birth) in this world. And who does not indulge in these, is without anger, vanity, illusion, and greed, three vices in three media (mind, speech, and body), ego, four *Vikathas*, and with five *Samitis* (attitudes), isolated from five senses. He accepts food, bed, and seat that are totally pure, without the faults of their origin, obtained from various sources, made by others, without heat and smoke, without any implement but cured by implements, specifically and only for survival and development. After that, is stated the discussion on problem of activities for self and others and the directions for purification of soul. His view is that only a seeker of soul can become an instrument of welfare in true sense. How can he indulge in welfare of all, who cannot even control his own passions and lust. Without development of soul even the welfare becomes cause of bondage. Because only a pure soul imparts peace to self and others.

In this chapter five senses, ambitions, medias of expression, ego and twenty two types of pain, have been mentioned as thieves; because these commit theft of the wealth of inner peace. As such the mendicant has been advised to be alert always.

The uniqueness of this chapter is that here only the terminology of traditional Jain conduct has been used. As such a natural doubt arises that if the ideas propagated belong to Uddalak or the compiler, put forward in the name of Uddalak. In absence of any evidence, for or against, nothing conclusive can be derived on this issue. Still the possibility that the ideas have been accepted according to the then prevailing Jain beliefs can not be ignored.

36. NARAYAN (TARAYAN)

The thirty sixth chapter of Rishibhashit is about the discourse of Tarayan (Narayan) Rishi. In Jain literature, besides Rishibhashit, Narayan Rishi has been mentioned in *Sutrakritang*[268] and *Sutrakritang-churni*.[269] In Rishibhashit a prefix *'Vitta'*, has been added to his name; what it indicates is not clear. *Sutrakritang* and Rishibhashit both indicate that he was an outsider for Jain tradition, but due regards were being given to him.

The central theme of the preachings of Narayan Rishi is the irrepressable nature of anger.[270] It has been stated that fire can be quenched by water but the fire of anger is difficult to quench. Fire destroys only this life but anger destroys many future reincarnations. Man

inflicted with anger suffers agony and disturbance recurrently. Simple darkness can be removed by light but the darkness of anger is difficult to remove. Also, anger burns self as well as others. Because of anger all the three good attributes of *Dharma* (religion), *Artha* (wealth), and *Karma* (vitality) are destroyed. As such, anger should be curbed.

Although the eighth Vasudev in Jain tradition is also named Narayan, who has also been refered to as Laxman; but he is some one else, not Narayan (Tarayan) of Rishibhashit. He may be recognised as Narayan Rishi of the *Vedic* tradition. In *Vedic* or Hindu tradition Narayan is the name of the God himself; but Narayan Rishi, who is believed to be a reincarnation of God, is also mentioned there. Generally he is known as one of the pair of Rishis named Nara-Narayan;[271] They are believed to have done penance for thousands of years at Badrikashram.[272] There is a mention of their dialogue with Narad in *Shantiparva*[273]. The tenth section of *Taittiriya Aranyak* is popularly known as *Narayanopnishad.*[274]

There is no information about Narayan Rishi in Buddhist tradition. Details available from other sources help coming to the conclusion that Narayan (Tarayan) mentioned in *Sutrakritang* and Rishibhashit is the Narayan Rishi of Hindu tradition.

37. SRIGIRI

The thirty seventh chapter of Rishibhashit is about the *Brahman Parivrajak* named Srigiri. Like Tetaliputra (10), Bahuk (14), Utkatvadi (20), Parshwa (31), chapters this is also fully in prose. Besides Rishibhashit, mention of Srigiri is not available anywhere in *Vedic*, Buddhist, or Jain literature. As such no information about the personality of Srigiri is available from any source.

In the first part of this chapter[275], three principles about creation have been stated. It says : (1) First of all there only was water, an egg appeared in it, then the universe was born and it became full of life. This universe was not created by Varun (god of water); thus Srigiri negates the concept of the universe being created out of an egg. This is well known that this concept about creation was present in the *Upanishadic* thoughts. In *Sutrakritang*[276] also this concept has been mentioned and negated. (2) The second concept about creation is of *Maya* (illusion); the universe is said to be born out of illusion. But Srigiri opposes this hypothesis and says that this world is not an illusion. Thus negating both these theories he presents his third theory of eternalism as : (3) It is not that this world did not exist some time in the past, does not exist at the present moment,

and will not exist some time in the future. Thus the universe has been accepted as eternal here. The same concept was given by Parshwa also and confirmed by Mahavir in *Bhagwati-sutra*. In Vedic tradition the *Mimansa* philosophy is similar to this concept. *Upanishads* also mention this.

The preachings of Srigiri regarding conduct indicate that he supported the *Vedic* rituals; still the *Agnihotra (Yajna)* presented by him does not contain procedure about animal sacrifice. He says, "At dawn and at dusk; collecting milk, butter, honey, salts, conchshell and wood; I shall live, keeping the Yajna-fire alive offering all these. That is why I say this; hearing this, the mendicant should move with the sun; stop where night falls; when the sun rises, start moving again, properly and looking up to four yards in all directions, East and West and South and North." This information about movement with sun is also available in varied forms in *Kappa (Dashashrut Skandha* 5/6-8*)*, Nisiha *(Nisheeth-10/31/34)* and *Dasaveyaliya (Dashvaikalika-8/28)*[277] of Jain tradition. Generally, this concept was popular with all the *Sraman Brahman Parivrajaks*. As such inspite of comparative study, we only get authentic information about Srigiri's ideas, but nothing about his personality.

38. SARIPUTRA (Satiputta)

The thirty eighth chapter of Rishibhashit is about the preachings of Ṣariputra (Satiputta) Arhat Buddha. This Satiputta is certainly the Sariputra of Buddhist tradition. Mention of the word 'Buddha' with his name and similarity of his ideas with Buddhist tradition are important evidences of this. Besides Rishibhashit Sariputra has been mentioned in *Avashyak-Churni*[278]. There, he has been shown as a follower of Buddha. Similarly, *Sheelank*-commentary of *Acharanga*[279] also mentions him. Besides, there is also a mention of Saidatta (Swatidatta) Brahman who was a citizen of Champa. Mahavir had spent four months of a monsoon in his yard[280]. But it is difficult to establish his connection with Satiputta or Sariputra.

Detailed information about Sariputra is available in Buddhist tradition. Dictionary of Pali Proper Names has devoted ten pages to his details compiled from Pali literature[281]. Due to lack of space so much details cannot be included here; I will only deal with some important facts. Buddhist tradition has expressed its reverence toward him by accepting him to be one of the two front-line disciple of Buddha.

He is said to be the son of Brahman Vanganta, his mother's name was Roopsari. He got his name Sariputra from his mother Sari. Buddha

called him *Dharma Senapati* (religious commander) and *Mahaprajnawan* (extremely wise). Before joining the Buddhist religious organisation he was a disciple of Sanjay. Sanjaya has also been mentioned in Rishibhashit as *Arhat Rishi*[282]. Barua has acceptad this Sanjaya as Sanjay Velatthiputta[283], one of the six *Teerthankar* contemporaries of Buddha. I am also of the opinion that this Sanjaya was the initial teacher of Sariputra, who refused request of Sariputra to meet Buddha. In Pali literature, preachings and philosophical thoughts of Sariputra are available in details. A comparative study of these with Rishibhashit is naturally expected.

In Rishibhashit the main theme of Sariputra's preachings is to avoid extremes , and follow the middle path[284]. This preaching is the central theme of Buddhism. He says, the pleasure that results in blis is the only real pleasure, but the pleasure that results in anguish should not be indulged in. This statement conveys that not the paingiving pleasure, but the bliss giving pleasure is cherishable. Pleasure begets bliss. Pain does not beget bliss. He further states, that eating good food, sleeping in a comfortable bed, and living in a cozy abode, a monk may concentrate in meditation whereas with unlikeable food, bed, and abode he meditates with discomfort. Here the opposition of the practice of abusing the body is clearly evident. This does not mean that Sariputra was a supporter of lustful indulgences. In the following verse he has preached about discipline of the senses. He says, an alert and intelligent mendicant should not be attracted towards the pleasures of the senses; indulgence in them should be abandoned. Because the sleeping senses of an alert mendicant cause minimal sorrows.

Further, giving transcendence from pleasure and pain as the purpose of meditation, it has been stated that as sweet or bitter medicine is taken for cure of a disease as per the directions of a doctor, similarly stringent or simple practices are done for the cure of the ailment of attachment as per the direction of the wise. As the purpose of treatment is riddance from disease not pleasure or pain; similarly the purpose of meditational practices is riddance from attachment not pleasure or pain, although pleasure and pain are inevitable in the process. Thus a practicing mendicant has been asked to remain aloof from pleasure and pain. The *Samveg* (fear of the evil) of common man and *Nirved* (detachment) of good person are signs of humility if they are desireless. Embracing the middle path in context of living in abode or jungle, Sariputra states that for a brave, who has won over the senses, there is no difference between jungle or a church. For a soul indulging in itself, jungle and

village are same. Such soul can attain purity irrespective of being a monk or a citizen.

In this manner Sariputra emphasizes on purity of attitude and not the means; which is a peculiarity of the Buddhist religious philosophy. The above mentioned details also indicate that this Sariputra is the Sariputra of Buddhist tradition. The basis of this inference is that the initial verses of this chapter have been used with some verbal variations in the *Sutrakritanga* commentary by Sheelank and the commentary of *Shatdarshan Samuchchaya* to clarify the Buddhist view point. According to the traditional belief, he is supposed to be an *Arhat Rishi* or *Pratyek Buddha* of the period of Mahavir. Being a contemporary of Buddha, he is automatically proved to be a contemporary of Mahavir as well.

39. SANJAY

The thirty-ninth chapter of Rishibhashit is about the *Arhat Rishi* named Sanjay. Besides Rishibhasit, Sanjay finds a mention in *Uttaradhyayan*[285] also. Although there are many persons named Sanjay, mentioned in Jain tradition, they are not connected, in any way, with Sanjay of Rishibhashit. However, there is no scope of any doubt that the Sanjay mentioned in 18th chapter of *Uttaradhyayan* is same as the Sanjay of Rishibhashit.

According to *Uttaradhyayan* he was the King of Kampilpur. Once he went for hunting in Keshar park and shot a deer. Finding the deer near the feet of meditating Acharya Gardabhill, he got afraid of the monk's curse and begged his pardon. Impressed by the *Acharya's* discourse about goodwill and Ahimsa, he abdicated the throne and became a monk disciple of Gardabhill. The incident of this deer hunt has been accepted by him in the fifth couplet of this chapter, where he says, "I am not concerned with the tasty meals and gorgeous abodes for which Sanjay goes into the jungles to kill deer".[286] No further proofs are needed to show that Sanjaya of Rishibhashit and *Uttaradhyayan* is one person.

The chapter of Uttardhyayan under reference is titled *"Sanyatiya"*, which is not correct; it should be titled *'Sanjayiya'*. According to *Uttardhyayan*, he was a disciple of Gardabhill. In the thirtythird chapter of Rishibhashit it has been mentioned that due to the company of benevolent friends, Sanjay, the king of Mithila, attained godhood. (33/16). But this Sanjay is the King of Mithila whereas Sanjay of *Uttaradhyayan* is the King of Kampilpur; as such they cannot be taken as

same. In my opinion Sanjay of 33rd chapter and the preacher of 39th chapter are different.

In Buddhist tradition seven persons having the name Sanjay are mentioned.[257] Besides the earlier teacher of Sariputra and the one well know by the name Sanjay Velatthiputta, no other Sanjay can in any way be connected with Sanjay of Rishibhashit. Buddhist scholars have little dispute in accepting Sanjay Velatthiputta and the earlier teacher of Sariputra as one. He is believed to be one of the six *Teerthankar* contemporaries of Buddha; so at least the period is same. His joining the Buddhist organisation with Sariputra, Moggalayan, and two hundred and fifty disciples also confirms that he was a prominent Acharya of his age. As such it is an undisputed fact that the earlier teacher of Sariputra and Sanjay Velatthiputta are the same person.

Now the question is that this Sanjay Velatthiptta and the Sanjay of Rishibhashit are also one or not. If we accept the traditional belief that Sanjay of Rishibhashit was a contemporary of Mahavir, then connecting him with Sanjay Velatthiputta, the earlier teacher of Sariputta, who was contemporary of Buddha, has no periodic hurdle. Because when Rishibhashit can compile the discourse of Mankhali Goshal, a contemporary of Mahavir, there can be no objection to compiling the thoughts of Sanjay Velatthiputta.

In the Buddhist tradition Sanjay has been termed as skeptic or indicisive, because he did not give final or conclusive answer to philosophical questions. In modern terms he must be visualising various possible alternatives to the solution of a philosophical problem, and consequently did not use a conclusive terminology. This view point of his is evident in the following words mentioned in Rishibhashit : 'To understand the evil-*Karma* comprehensively is a matter of doubt.[258] Because the decision about a *Karma* being good or evil is possible only on pondering properly from angles of matter, space, time, attitude, and effort' The term *'Rahasse'* used in Rishibhashit, is worth a special thought. Also, here *"Sammam Janitta"* would be more appropriate in place of *"Samajjinitta"* (refer to the prose part after the fourth couplet). In Rishibhashit the discourse of Sanjay is very brief. It states that evil deed should neither be done nor made to be done; if done by force of circumstances, it should not be repeated again but criticized instead.

In conclusion, it can be said that Sanjay Rishi mentioned in Rishibhashit and *Uttaradhyayan* are same. It is a strong possibility that he

was also the earlier teacher of Sariputta and one of the six *Teerthankar* contemporaries of Buddha, Sanjay Velatthiputta. In Vedic tradition we find the mention of Sanjay, a minister of Dhritarashtra;[289] but from periodic and other angles he is a different person than the Sanjay of Rishibhashit.

40. DVAIPAYAN (Devayan)

The fortieth chapter of Rishibhashit contains the collection of preachings of Dvaipayan Rishi. Besides Rishibhashit, Dvaipayan (Deevayan) has also been mentioned in *Sutrakritang*[290], *Samvayang*,[291] *Aupapatik*,[292], *Antakritadasha*[293], *Dashvaikalik-churni*[294], and *Sutrakritang-churni*[295]. He has uniformly been said to be a *Rishis* from outside the *Nirgranth* tradition. *Sutrakritang* has mentioned him with *Rishis* like Nami, Bahuk, Asit Deval, Narayan Parashar etc , and that he attained omniscience inspite of consuming unboiled water, fruits etc. According to *Samvayang* he shall be a *Teerthankar* in next ascending time cycle. In *Aupapatik* he has been mentioned as the founder of a particular tradition of *Brahman Parivrajaks*. *Antakritadash*, *Dashvaikalik-churni* etc. state that *Yadavs* disturbed his meditational practices and he decided to destroy them; as a result he was born Agnikumar Dev (a god) and destroyed Dvarka. Efforts have not been made to concieve a composit picture of his personality based on the variety of stories available about him in these canons, but in my opinion all these stories are concerning only one Dvaipayan. The traditional belief that he was a contemporary of Mahavir is incorrect. According to the aforesaid reference he must have been a *Pre-upanishadic Rishi* of the *Mahabharat* period.

In the Buddhist tradition there is a mention of two persons having the name Kanha Deepayana.[296] The story narrated in the Krishna Dvaipayana (Kanha Deepayana) *Jatak* about Kanha Deepayana does not have any relations with Dvaipayana (Deevayana) of Rishibhashit and Jain tradition. But in *Jataks* there is another story of Kanha Deepayana where he has been shown as instrumental to the destruction of Dvarika (Dvaravati) and the clan of Vasudev (*Yadav* clan). With slight variation, this story is available in all the three Jain, Buddhist, and *Vedic* traditions.

In the *Vedic* tradition Krishna Dvaipayana or Dvaipayana has been mentioned in details in *Mahabharat*.[297] In the *Vedic* tradition his popular name is Vyas or Vedavyas. He is said to be the son of Maharshi Parashar and the author of *Mahabharat*. He fathered three sons Dhritrashtra, Pandu, and Vidur from Vichitravirya's wives on request of Bhishma.

Shukdev is also said to be his son. Vaishampayan was his chief disciple. *Mahabharat* contains detailed description of his life and preachings; however, it contains more of pre-history and less of history. On the basis of the details in the three traditions, Jain, Buddhist, and Vedic, it may be infered that he was some historic person of the pre-historic period. But the absence of his name in the ancient *Upanishadic* literature is worth a consideration. Of course, his father Parashar and Parashar's sons have been mentioned there.[298]

His preachings compiled in Rishibhashit direct towards changing desire into desirelessness.[299] In other words it is a message of sublimating ambition. He says that it is because of desires that man gets sorrows. Under the influence of desires he neglects every one including parents, teacher, king, and gods, Desire is at the root of loss of wealth, bondage, seperation from king, life, and death. As such desires should be conquered; because desirelessness is the basis of bliss. The second and third verses of this chapter are also available in the thirty sixth chapter of Rishibhashit with little verbal variations. Similarly the statement, *'Jaha Thamam Jaha Balam Jadha Viriyam'* can also be found in *Dashvaikalik.*

41. INDRANAG

The forty first chapter of Rishibhashit is about the Arhat Rishi named Indranag. Besides Rishibhashit Indranag's mention is also available in *Avashyak-niryukti,*[300] *Visheshavashyak-bhashya,*[301] *Avashyak-churni,*[302] *Haribhadra Vritti of Avashyak,*[303] and *Sheelank commentary of Acharang.*[304] He was famous as a child ascetic. Ganadhar Gautam contacted him. He is said to be an inhabitant of Jeernapur (Jinnapur). I have not been able to find any thing about him from Buddhist and *Vedic* traditions. Jain sources also confirm that he was a contemporary of Mahavir; this also has traditonal acceptance.

As regards the preachings of Indranag in Rishibhashit are concerned, he first of all states that the penance or good deed done for livelihood is meaningless. A man indulging in mundane passion destroys himself. Monkhood should not he made a profession. A monk should also not earn his living through teaching, magical spells, massage carrying prophecizing etc. Thus the theme of his discourse is to practice discipline, rising above the mundane desires. Generally speaking this preaching can be found at many places. The thirteenth verse of this chapter is available verbatim in *Uttaradhyayan* and *Dhammapad.* Similarly the sixteenth verse is also available in the twelfth chapter of Rishibhashit,

titled Jannavakk (Yajnavalkya), and with little verbal variation in *Dashvaikalik* also.

42-45, SOMA, YAMA, VARUNA AND VAISHRAMAN

The last four chapters of Rishibhashit are about Soma, Yama, Varuna, and Vaishraman respectively. Although they have been stated to be *Arhat Rishis* in these chapters and according to the appendix, all these four *Pratyek Buddhas* are believed to have lived during the period of Mahavir, no information about their historicity is available from any source. However, in Jain literature there is mention of a *Brahman* named Som who was inducted into the tradition of Parshwa. It is also believed that after death he was reborn as Shukra.[305] Similarly Varun has been stated as a follower of *Sraman* tradition, who died in *Rath-Musal* war, and was reborn as a god. He believed that if one dies in a war he goes to heaven.[306]

Similarly we find the mention of Yama as father of Yamadagni,[307] although it is not clear that the same person is the Yama Rishi of Rishibhashit. Buddhist tradition also mentions some persons named Soma, Varun, etc. but to connect them with these Rishis of Rishibhashit is difficult. Infact in all the three traditions, Jain, Buddhist, and *Vedic*, they have been accepted as *Lokpal* (Sector Guardians). Whereas in Jain tradition the four *Lokpals* are Soma, Yama, Varun, and Vaishraman;[308] in the Vedic traditions the four *Lokpals* are Indra, Agni, Yama, and Varun.[309] They are believed to be the preachers of religion. In *Upanishads* the dialogue between Yama and Nachiketa is very popular. Still all the four are mythological figures not historical persons. The belief that *Lokpal*, are preachers of religion must have been the cause of including them in Rishibhashit. However, the adjective *Arhat Rishi*, attached to their names is worth a consideration.

As regards the preachings of these four *Rishis*, the preachings of the first three, Soma, Yama, and Varun are simply in one verse each. Only the preachings of Vaishraman are in detail and in fifty three verses.

Soma preaches that a mendicant, irrespective of being senior, middle, or junior in grade, should endeavor to acheive more than just a little.[310]

Yama preaches that he is best among men, who is not happy by gains and not vexed by losses.[311]

Varun says that only he can arrive at right conclusion who is uneffected by attachment and aversion.[312]

As regards Vaishraman's preachings, he initially states simple preachings about containment of lust and not indulging in evil deeds. With this he conveys the importance of Ahimsa and directs towards observing Ahimsa by presenting the ideal of equality of all life with the self.[313] This chapter contains examples like serpents of *Agandhan* variety[314], pot of oil[315], and comparison of good and evil *Karma* with gold and iron shackles.[316] Thesè examples have further evolved in *Uttaradhyayan, Dashvaikalik, Avashyak-churni, Kalpa-Sutra* commentary, and *Samayasar* of Kundkund.

It is clearly evident that there is no facet of Jain religion and philosophy that does not have its basic root available in Rishibhashit. In fact, the need of the day is that a detailed, and comparative study of the personalities of Rishibhashit and their preachings is seriously undertaken. A valuable achievement of such a study would be that the proximity of various religious traditions in India will be revealed as also the sources of thoughts and ideas that have been absorbed by the Jain tradition.

RISHIBHASHIT NIRYUKTI AND RISHI MANDAL

It also seems necessary to discuss here about Rishibhashit *Niryukti* and *Rishi Mandal.* In the *Niryukti* works of Acharya Bhadrabahu, Rishibhashit has been mentioned in *Avashyak-Niryukti* and *Sutrakritang-Niryukti.* In *Avashyak-Niryukti,* promising to write a *Niryukti* on Rishibhashit, he writes the following verse.

आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे ।
सूयगडे निज्जुत्तिं वुच्छामि तहा दसाणं च ॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमणिउणस्स ।
सूरिअपण्णत्तीए, वुच्छं इसिभासिआणं च ॥

—आवश्यक निर्युक्ति–84-85

After this, in the *Sutrakritang Niryukti,* explaining the importance and style of Rishibhashit he says :

जह वि य कोई अत्थो उप्पज्जइ तम्मि समयम्मि ।
पुव्वभणिओ अणुमओ य होइ इसिभासिएसु जहा ॥

—सूत्रकृतांगनिर्युक्ति-181

This means, if special meanings of statements are seen in some principles of other traditions, it is considered acceptable and of earlier origin like Rishibhashit. This is an indication that Rishibhashit is authentic and of earlier origin. If the term "work of earlier origin" has been used for the literature of the tradition of Parshwa, which is acceptable to Mahavir's tradition, than Rishibhashit will have to be taken as a work of Parshwa tradition. Schubring, in his preface, has accepted it to be connected with the tradition of Parshwa.

In the *Avashyak-niryukti* of Bhadrabahu we find infromation that Rishibhashit-*Niryukti* was written. But Rishibhashit-Niryukti is not available now. As a result scholars are not in agreement if Bhadrabahu had written this *Niryukti* or not. The general belief is that he had promised to write a *Niryukti* on Rishibhashit, but he could not write it. There may be two reasons for his not writing Rishibhashit-*Niryukti*. One is that he might have died before commencing the work. Secondmay be that. as Rishibhashit contained the thoughts of *Rishis* of other traditions, he might have intentionally dropped the idea of writing the *Niryukti*. But looking at the *'Isimandalatthu'*, mentioned in *Acharanga-churni*, and the available *Rishimandal-stava (Isimandal)*, I feel that Rishibhashit-*Niryukti* must have been written; it does not matter if it is not available today. In its present form *Isimandal* can not be accepted as the *Niryukti* of Rishibhashit; however, my belief is that some verses of Rishibhashit *Niryukti*, itheir original or changed form, have certainly been included in it. There is some basis of this belief, on which scholars should express their reaction after serious deliberations.

First of all we have to adjudge the similarity between the styles of Rishibhashit and a *Niryukti*. The peculiarity of the style of a *Niryukti* is that it contains the etymological explanation of some important words used, as well as a brief description of the subject matter dealt in the part or chapter of the original work, on which the *Niryukti* is being written. In *Isimandal* we find the following two verses briefly detailing the subject matter of *Isbhasiyaim* (Rishibhashit) :

नारयरिसिपामुक्खे, वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि ।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि ॥
पत्तेयवुद्ध साहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता ।
पणया वीसं इसिभासियाइं अज्झयण पवराइं ॥

—इसिमण्डल-४४, ४५

These verses can certainly be the initial verses of some *Niryukti* or an explanatory work on *Isibhasiyaim* (Rishibhashit). However, these two verses are also believed to be the begining verses of the appendix of Rishibhashit.

Similarly, the following two verses from *Rishimandal* about *Narad* also appear to be a brief detail of the *Narad* chapter of Rishibhashit :—

मुच्चा जिणिंदवयणं, सच्चं सोयं ति पभणिओ हरिणा ।
किं सच्चं ति पवत्तो चिन्ततो जायजाइसरो ।।
संबुद्धो जो पढमं, अज्झयणं सच्चमेव पन्नवई ।
कुच्छुल्लनारयरिसिं, तं वंदे सुगइमणुपत्तं ।।
इसिमन्डल ४२, ४३

If we compare these two verses with the following verse of *Sutrakritang-Niryukti,* the similarity in style would be self evident. The verse under reference from *Sutrakritang-Niryukti* is as follows :

अद्दपुरे अद्दसुतो नामेणं अद्दओ त्ति अणगारो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं अज्झयणं अद्दइज्जं ति ।।
—सूत्रकृतांग निर्युक्ति-१८७

Similarly the following verses of *Rishimandal* and *Sutrakritang-Niryukti* convey the similarity of language and style, on comparing :—

नालंदाए अद्धत्तेरस-कुलकोडिकय निवासाए ।
पुच्छिअ गोअमसामिं, सावयवपच्चक्खाणविहिं ।।
जो चरमजिणसमीवे, पडिवन्नो पंचजामियं धम्मं ।
पेढालपुत्तमुदयं, तं वंदे मुणियसयलनयं ।।
—इसिमण्डल १०२, १०३

Comparable with ;

नालंदाए समीवे मणोहरे भासि इन्दभूइणा उ ।
अज्झयणं उदगस्स उ एयं नालन्दइज्जं तु ।।
पासावच्चिज्जो पुच्छियाइयो अज्जगोयम उदगो ।
सावगपुच्छा धम्मं सोउं कहियम्मि उवसन्ता ।।
—सूत्रकृतांगनिर्युक्ति २०४, २०५

Although, from the view point of antiquity and rhyming, the verses of *Rishimandal* appear to be of later period as compared to the verses of *Sutrakritang-Niryukti,* still both have the similarity of style.

The said comparative similarity leads to the inference that some *Niryukti* on Rishibhashit must have been written. The verses of this *Niryukti* must have been included in original or varied form, first in *Isimandal* and later in *Rishimandal Prakaran (Isimandal)*, believed to have been written by Dharmaghosh. The mention of majority of the *Rishis* of Rishibhasit in *Rishimandal* confirms the belief that even if the available edition of *Isimandal* is not accepted as the *Niryukti* of Rishibhashit or the *Isimandalatthu* mentioned in *Acharanga-Churni*, one thing is clear that it contains many verses of those works.

Today there are many works, available, having the name *Rishimandal*. Some of these are in Sanskrit and others in Prakrit. We get information about these from the catalogues of libraries of manuscripts in Khambhat, and Jaisalmer and also in the book-*Jinaratna-Kosh*. But in this analysis we are concerned with the Prakrit work *Isimandal* (*Rishimandal*) popularly supposed to have been written by Dharmaghosh-suri. Generally speaking the *Rishimandal*, written in Prakrit language, is belived to be a work by Dharmaghosh-suri belonging to the *Tapagachhiya* sect. His period is the early fourteenth century; but this has not been accepted conclusively. There are many reasons for this :

1. *Khartargachha, Tapagachha, Achalgachha and Upkeshgachha* all have *Acharyas* named Dharmagosh-suri in the chronoligical list of their *Acharyas*. In the last verse of *Rishimandal* only 'Siridhammaghosam' is mentioned. As such it is difficult to ascertain to what sub-sect (*gachha*) this Dharmaghosha belonged and what was his period.

2. In the collection of Jaisalmer and Khambhat, ancient manuscripts of *Isimandal Prakaran* are available. Of these, the oldest palm leave copy of *Vritti* of *Rishimandal Prakaran* is available in Jaisalmer. The date of transcribing of this copy is 1380 Vikram, so the period of writing should be still earlier. According to the *Tapagachha* list of *Acharyas*, the period of Dharmaghosh of *Tapagachha* is Vikram 1302 to 1357. If it is a work of later part of his life, it does not seem plausible that the work of writing it and getting copied could be done during 23 years. On this basis, in the preface to *Shri Rishimandal Prakaran* (with-*Vritti*) printed at Nirnaya Sager press, Vijayobhang Suri has expressed the possibility of antiquity of the commentator as against the original author, if it is accepted as a work of Dharmghosh-suri of *Tapagachha*. According to him this seems to be a work done by Dharmaghosh-suri the disciple of *Vidhipaksha Anchalgachha Nayak* Jayasingh Suri. His period was Vikram 1208 to 1268.

3. The most important point against accepting *Rishimandal* (*Isimandal*) as a work by Dharmaghosh-suri is that there is a mention of '*Isimandalatthu*' in *Acharanga-churni*. This ascertains that some work of this name was certainly seen by the author of the *churni* of *Acharanga*. The author of *Acharanga-churni* is believed to be Jindasgani Mahattar. Scholars have deduced his period to be Vikaram 650 to 750. *Nandichurni* mentions its writing period as Shaka 598 which is Vikram 733. Which means that *Acharanga-churni* must also be of the same period. This proves that '*Isimandalatthu*' must be a work of a period earlier to this or of the sixth century, at least Scholars have accepted the period of Bhadrabahu (second), the author of *Niryuktis* as same. Here the other possibility is that Bhadrabahu promised of writing Rishibhashit *Niryukti*, but later, he himself wrote *Isimandalatthu* instead. What was the actual content of '*Isimandalatthu*', is difficult to say today.

4. Another problem in accepting *Rishimandal* to be a work by Dharmaghosh-suri is that all the copies of *Rishimandal* do not contain the last verses in which the name of Dharmaghosh-suri as its author is mentioned. The *Rishimandal vritti* with Gujarati translation, published by Jain Vidyashala, Ahmedabad, also does not contain this verse. In the copies believed to be written by Dharmaghosh-suri, as mentioned in the catalogues of Jaisalmer and Khambhat collections, there is difference in total number of verses. Some copies mention 208 and 210 verses and others 225 and 233 verses.

Not only this, there is also a clearly evident difference in number of verses available in the published editions of *Rishimandal* stava. For example :

a) *Rishimandal Vritti*—with *Vritti* by Shubh Vardhan-suri, published by Jain Vidyashala, Doshiwada Pole, Ahmedabad in 1925, has 205 verses. Here the author is not mentioned as Dharmaghosh-suri.

b) *Jain Stotra Sandoh*—published by Prachin Jain Sahityoddhar Granthavali, Sarabhai Manilal Navan, Ahmedabad, in 1832, has 209 verses. Here the author is mentioned as Dharmaghosh Sraman.

c) *Rishimandal Prakaran*—with *Vritti* by Padmanandi, published by Seth Pushpachandra Kshemchandra, Valad via Ahmedabad in 1939, has 217 verses. the author is mentioned to be Dharmaghosh Saman.

All this conveys that the *Rishimandal*, believed to be written by Dharmaghosh-Suri has differences in the available editions. Also, there

is a difference in the sequence of verses as well. As such the possibility that the available edition of *Rishimandal Prakaran* contains verses from the *Isimandalatthu* or Rishibhashit-*Niryukti*, mentioned in *Acharanga churni*, can not be ruled out. Thus it is doubtful that the *Rishimàndal-Prakaran* supposed to be written by Dharmaghosh-suri is totally his creation.

5. On analysing the last verses of *Rishimandal Prakaran*, I feel that the last three or four verses are later additions into the original. Earlier editions of *Rishimandal Prakaran* must have concluded with the salutation of Devardhigani Kshama Sramana. This is because in the lists of *Sthavirs* (a category of monks) in *Nandisutra* and *Kalpasutra* also, there are salutations to *Acharyas* upto Devardhigani Kshama Sraman. Had *Rishimandal Prakaran* been actually the work of Dharmaghosh-suri, it would have contained mention of some prominent *Acharyas*, of post Devardhigani perid, like Siddhasen, Jindas, Haribhadra, Siddharshi, Abhaya Dev, and Hemchandra.

In one of the four verses after the verse of salutation of Devardhigani Kshama Sraman there is salutation to a monk named Duhprasaha, a nun named Falgusri, and house-holders named Nagil and Satyasri; all supposed to come to existance during the end of the fifth section of the present time cycle (*Avasarpini*). In whole of *Rishimandal* this is the only verse where salutations have been offered to householders. Also, the mention of these monk, nun, and house-holders, of the fifth section of the time cycle, first came in *Teerthodgalic* and *Vyavahar-Bhashya*; and these works are of a period certainly not earlier than the sixth century A. D.

The next verse has salutations to the past and present *Rishis* of the areas named Bharat, Airavat, and Videh. The verse after this has salutations for Brahmi, Sundari, Rajimati, Chandana and others. The salutations to nuns is found only in these verses. In the last verse the name of Dharmaghosh-suri has been mentioned as the author of the work. Here also the author has written his name as Sri-Dharmaghosh (Siri Dhammaghosh). The use of *Sri* before his own name by an author is worth a thought. I feel that these verses were added to the old *Isimandalatthu*, only after some corrections and additions. Even if this is considered to be an independent work, there should be no objection in accepting that it was written on the basis of *Isimandalatthu* mentioned in *Acharanga-churni*. Scholars are expected to make a serious investigation on this matter.

THE LANGUAGE OF RISHIBHASHIT

Prof. Schubring has done a detailed analysis, in his preface, about the form of language and style of verses of Rishibhashit. He has also discussed the text variations available in the existing manuscripts, as such neither an elaborate commentary on this matter is necessary nor do I consider myself an authority on that subject. Still I feel the need of re-editing of the original text edited by Prof. Schubring, from the view point of language.

As far as the language of Rishibhashit is concerned, it is the ancient form of *Ardhamagadhi*, the similarity of which with Sanskrit is evident at places. According to the antiquity of language, it can be placed somewhere between first *Shruta-skandha* of *Acharanga* and *Sutrakritang/ Uttaradhyayan*. Whereas, an influence of Maharashtri Prakrit can be seen in *Sutrakritang* and *Uttaradhyayan*, Rishibhashit can be said to be generally free from the influence of Maharashtri Prakrit. Although, at some places, word forms appear to be influenced by Maharashtri Prakrit, proper study reveals that this influence must have come only through the mistakes of transcribers.

For example, out of the fortyfive chapters in Rishibhashit forty three contain the word *Buiyam* or *Buitam*. Out of these forty three, thirty six mention *Buitam* and only seven mention *Buiyam*. Certainly, the word form *Buiyam* conveys the influence of Maharashtri. But it is not logical that the original author would use the form *Buitam* in thirty six chapters and *Buiyam* in seven chapters. It is clear fhat the form *Buiyam* must have inadvertantly come due to the carelessness of the transcribers and influence of Maharashtri on them. Same is the case of *Jadha* and *Jaha*, *Mossikar* and *Moosiyar*, *Tati* and *Tai*, *Dhaota* and *Dhooyam*, *Loye* and *Loge*. At the end of fortieth chapter *Jaha* and *Jadha* have been used in same line (*Jaha Balam Jadha Veerayam)*. Certainly, such use would not be to the liking of the author; this variation must have come due to passage of time.

Also, whereas in the third, twentyfifth, and fortyfifth chapters, use of only the *Jadha* form is seen, in the ninth, twelfth, twentysecond and twentyeighth chapters the word *Jaha* has been used. As such the question worth a consideration is that, was the original form in different chapters retained during compilation ? Or these variations are due to later influences. Generally speaking, Rishibhashit contains the use of first person like *Pabhasati*, *Jayati*, *Meghati*, *Hinsari*, *Jevati*, *Vindati*,

Vijjati, Chindati, Seedati, Visujjhati, Vassati, Sinchati, Luppati etc., and the tendency of omitting the last consonant, like in Maharashtri Prakrit is not seen. In the whole Rishibhashit the omission of the last consonant is not seen except at eight or ten places.

Similarly the use of the sound 'Ya' instead of 'Ta' is negligible. Generally, complete Rishibhashit predominantly uses the sound *'Ta'*. For *Atma*, leaving aside one or two instances, everywhere the word *'Aata'* has been used. In the tenth chapter the word Tetaliputta has been used at places, and not Teyaliputta as in *Jnatadharma-Katha*. Similarly in the same chapter *Moosikaridhoota* word has been used for his wife. However, at one place *Dhooyam* word has also been used. It is clear that these exceptions from later Maharashtri forms must have crept into the editions of original text due to later influence. It is possible that when palm leave copies of this work were done, these changes must have come due to the influence of the language of that period through the scribers.

Although this influence of Maharashtri Prakrit on Rishibhashit is not more than two percent, the same influence on the *Ardha Magadhi* canons like *Acharanga, Sutrakritang, Uttaradhyayan* and *Dashvaikalika*, supposed to be ancient, is approximately fifteen to twenty five percent. However, one reason for this may be that whereas *Uttaradhyayan* and *Dashvaikailika* were in more popular use, Rishibhashit was not much in use. As a result, the effect of changed pronunciations must have been less on Rishibhashit, and because of others being more in use, this effect on them must already have set in even before the palm leave copies were made, after the last vocal rendering. Unfortunately, at the time of editing of the canons these facts were not considered and efforts to retain the oldest form of language was not made.

I feel that the old manuscripts of ancient *Ardhamagadhi* works like *Acharanga, Sutrakritang,* Rishibhashit, *Uttaradhyayan, Kalpasutra,* and others should be collected and if any manuscript contains old text form, it should be preserved. Not only this, where there are variations like *Aata* and *Aaya, Jadha* and *Jaha. Loye* and *Loge* in the same line, only the old forms should be accepted. It is a matter of contentment that some scholars like professors Madhusudan Dhaki and K. R. Chandra and others have drawn attention in this direction. I am hopeful that in the future editions of the canons, these facts will be attended to. As the lingual form of a book is very much helpful in determining its period, this is the responsibility of scholars that oldest form of the language of the work is retained.

On a comparative study we find that many words and parts of verses and prose of *Acharanga, Sutrakritang, Uttardhyayan, Dashvaikalik* and *Jnatadharmakatha* are also available in Rishibhashit. But the comparative study of the language forms of these reveals that from the view point of language the text of Rishibhashit is older. For example, a comparative study of Tetaliputta chapter of Rishibhashit and Teyaliputta chapter of *Jnata* reveals that the language of Rishibhashit has predominence of the sound *'Ta'* and is older. Similarly in *Acharanga, Sutrakritang, Uttardhyayan,* and *Dashvaikalika,* whereas *'Aaya'* word has been used for *Atma,* in Rishibhashit, except one or two places, the *'Aata'* form has been used. This confirms its antiquity.

CONCLUSION

Thus we observe that according to its language and subject matter, Rishibhashit is proved to be the oldest work of Prakrit literature. As we have proved earlier, this work is the oldest in the whole Pali and Prakrit literature, leaving aside, the first *Shrut-Skandha* of *Acharanga,* and belongs to the 5th century B. C. It is not only that this work is important because it is old, but also because the mentions of the ancient sages and their beliefs are historically valuable. It contains details about some such sages about whom no further information is available. Uniqueness of this work lies in its being free of sectarian prejudice.

Its writing in the Jain tradition is a sign of the tolerence and openess of Jainism on one hand and on the other that the stream of Indian spiritualism is one at its source, irrespective of getting divided later into *Upanishadic,* Buddhist, Jain, *Ajivak,* and other rivulets. Rishibhashit is the only work that compiles at one place the discourses of *Upanishadic Rishis, Brahman Parivrajaks, Ajivaks, Sramans,* Buddhist monks and Jain ascetics. This work is a clear proof of the assimilative and tolerant nature of Indian thought. Today when we are deeply bogged into communal seperatism and strife this great work could be an enlightening guide. I hope that widespread propagation of this work would release us from the communal blindness.

ACKNOWLEDGEMENTS

At the outset, I am grateful to Shri D. R. Mehta, secretary of Prakrit Bharati Academy, and M. Vinay Sagar whose persistant persuation made this detailed preface a work of research. Although a lot more serious contemplation is still needed, I hope the young scholars would

fulfil this need. The publication of this book was delayed because of me. For which I apologise before the publishers as well as the readers.

I also express my gratitude towards Prof. Schubring and other scholars who have done explorative analysis and contemplation of this important work and whose writings have helped my working. Similarly, I am grateful to the authors of Dictionary of Pali Proper Names, *Vedic Kosh*, *Mahabharat Namanukramika* and others which provided easy references to me. In the end I express my gratitude toward Prof. Madhu Sudan Dhaki and my research assistants and associates Dr. Arun Pratap Singh, Dr. Shiv Parasad Singh, Dr. Ashok Kumar Singh and others who have helped me complete this preface.

Sagarmal Jain
Professor and Head, Philosophy Deptt.
M. L. B. Arts and Commerce College,
Gwalior.

Translated into English by
Surendra Bothara,
Jaipur.

APPENDIX

Foot Notes :

1. (अ) से किं कालियं ? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं ।

तं जहा उत्तरज्झयणाइं 1, दसाओ 2, कप्पो 3, ववहारो 4, निसीहं 5, महानिसीहं 6, इसिभासियाइं 7, जंबुद्दीवपण्णत्ती 8, दीवसागरपण्णत्ती ।
—नन्दिसूत्र ८४ ।

—(महावीर विद्यालय, बम्बई 1968)

(ब) नमो तेसिं खमासमणाणं जेहिं इमं वाइअं अंगबाहिरं कालिअं भगवंतं ।

तं जहा—

1. उत्तरज्झयणाइं, 2. दसाओ, 3. कप्पो, 4. ववहारो,

5. इसिभासिआइं, 6. निसीहं 7. महानिसीहं........ ।

(ज्ञातव्य है कि पक्खियसुत्त में अंग-बाह्य ग्रन्थों की सूची में 28 उत्कालिक और 36 कालिक कुल 64 ग्रन्थों के नाम हैं । इनमें 6 आवश्यक और 12 अंग मिलाने से कुल ८२ की संख्या होती है, लगभग यही सूची विधिमार्गप्रपा में भी उपलब्ध होती है ।)

—पक्खियसुत्त (पृ० 79)
(देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सीरिज क्रमांक ९९)

2. अंगबाह्यमनेकविधम् । तद्यथा–सामायिकं, चतुर्विंशति स्तवः, वन्दनं, प्रतिक्रमणं, कायव्युत्सर्गः, प्रत्याख्यानं, दशवैकालिकं, उत्तराध्यायाः, दशाः, कल्पव्यवहारौ, निशीथं, ऋषिभाषितानीत्येवमादि ।

—तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्य) 1/20
(देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, क्रम संख्या 56)

3. तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि···· ।

—आवश्यक निर्युक्तिः, हारिभद्रीयवृत्ति पृ० 206

4. ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवादीनां निर्युक्तिं········ ।

—आवश्यक निर्युक्ति, हारिभद्रीय वृत्ति पृ० 41

5. इसिभासियाइं पणयालीसं अज्झयणाइं कालियाइं, तेसु दिण 45 निव्विएहिं अणागाढजोगो । अण्णे भणंति उत्तरज्झयणेसु चेव एयाइं अंतब्भवंति ।

विधिमार्गप्रपा पृ० 58

देविंदत्थयमाई पइण्णगा होंति इगिगनिविएण ।
इसिभासिय अज्झयणा आयंबिलकालतिगमज्झा ॥ 61 ॥
केसिं चि मए अंतब्भवंति एयाइं उत्तरज्झयणे ।
पणयालीस दिणेहिं केसिं चि जोगो अणागाढो ॥ 62 ॥ विधिमार्गप्रपा पृ० 62

(ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णकों की संख्या के सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा में भी मतैक्य नहीं है। 'सज्झायपट्ठवण विही' पृ० 54 पर 11 अंग, 12 उपांग, 6 छेद, 4 मूल एवं 2 चूलिका सूत्र के घटाने पर लगभग 21 प्रकीर्णकों के नाम मिलते हैं। जबकि पृ० 57–58 पर ऋषिभाषित सहित 15 प्रकीर्णकों का उल्लेख है।)

6. (अ) कालियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपण्णत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होई अणुओगो ॥ 124 ॥ (मू० भा०)
तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि 'तृतीयश्च' कालानुयोग:,
—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति : पृ० 206.

(ब) आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्ति वुच्छामि तहा दसाणं च ॥
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभासिआणं च ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति 84–85

7. पण्हावागरणदसाणं दस अज्झयणा पन्नता, तंजहा–उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासिताइं, महावीरभासिताइं, खोमपसिणाइं, कोमलपसिणाइं अद्दागपसिणाइं, अंगुट्ठपसिणाइं, वाहुपसिणाइं।
—ठाणंगसुत्ते, दसमं अज्झयणं दसट्ठाणं
(महावीर जैन विद्यालय संस्करण पृ० 311)

8. चोत्तालीसं अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुताभासिया पण्णत्ता।
—समवायंगसुत्त–44

9. आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना तत्थ मंदो विसीयति ॥ 1 ॥
अभुंजिया नमी विदेही, रामपुत्ते य भुंजिआ।
बाहुए उदगं भोच्चा तहा नारायणे रिसी ॥ 2 ॥
आसिते दविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥ 3 ॥
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह सम्मता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मेयमणुस्सुअं ॥ 4 ॥
—सूत्रकृतांग 1/3/4/1–4

10. Sutrakritang–2/6/1–3,7,9.
11. Bhagwati, shatak–15
12. Upasakdashang chapter 6 and 7
13. (a) Suttanipat–32 Sabhiya-sutta
(b) Deeghnikaya, Samanjafal-sutta

14. ये ते समणब्राह्मणा संघिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधु सम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं-पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकम्बली, पकुधो कच्चायनो, संजयो वेलट्ठिपुत्ता, निग्गण्ठो नातपुत्तो ।

—सुत्तनिपात, 32–सभियसुत्त

15. (अ) पालिसाहित्य का इतिहास (भरतसिंह उपाध्याय) पृ० 102–104

(ब) It is............the oldest of the poetic books of the Buddhist Scriptures.

—The Suttanipata (sister Vayira) Introduction for P. 2

16. उभो नारद पवता ।

—सुत्तनिपात 32, सभियसुत्त 34,

17. असितो इसि अद्दस दिवाविहारे ।

—सुत्तनिपात 37, नालक सुत्त 1

18. जिण्णोऽहमस्मि अबलो वीतवण्णे (इच्चायस्मा पिंगियो) ।

—सुत्तनिपात 71 पिंगियमाणवपुच्छा

19. Suttanipat-32, Sabhiya-Sutta
20. Ibid.
21. Ibid.
22. Ther Gatha 36; Dictionaary of Pali Proper Names.
23. (अ) 'आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअणंगलं ।
झाणं फालो निसित्तो य, संवरो य बीयं दढं ॥ 8 ॥
अकूडत्तं च कूडेसु, विणए णियमणे ठिते ।
तितिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा ॥ 9 ॥
सम्मत्तं गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा ।
धितिजोत्तसुसंबद्धा सव्वण्णुवयणे रया ॥ 10 ॥
पंचेव इंदियाणि तु खन्ता दन्ता य णिज्जिता ।
माहणेसु तु ते गोणा गंभीरं कसते किसिं ॥ 11 ॥
तवो बीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं परं ।
ववसातो धण तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥ 12 ॥
धिती खलं वसुयिकं, सद्धा मेढी य णिच्चला ।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंवुडं ॥ 13 ॥
कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो य तक्खमा ।
णिज्जरा तु लवामीसा इति दुक्खाण णिक्खति ॥ 14 ॥
एतं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वापि विसुज्झती ॥ 15 ॥

—इसिभासियाइं 26/8–15

(व) कतो छेत्तं, कतो वीयं, कतो ते जुगणंगले ?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णाम ते किसी ? ॥ 1 ॥
आता छेत्तं, तवो वीयं, संजमो जुगणंगलं ।
अहिंसा समिती जोज्जा, एसा धम्मन्तरा किसी ॥ 2 ॥
एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता ।
एसा बहुसई होई परलोकसुहावहा ॥ 3 ॥
एयं किसिं कसित्ताणं सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वावि य सिज्झती ॥ 4 ॥

—इसिभासियाइं 32/1–4

24. सद्धा वीजं तपो वुट्ठि पञ्ञा मे युगनंगलं ।
हिरि ईसा मनो योत्तं सति मे फालपाचनं ॥ 2 ॥
कायगुत्तो वचोगुत्तो आहारे उदरे यतो ।
सच्चं करोमि निदानं सोरच्चं मेपमाचनं ॥ 3 ॥
रिरियं मे धुरधोरम्हं योगक्खेमाधिवाहनं ।
गच्छति अनिवत्तन्तं यत्थ गन्त्वा न सोचति ॥ 4 ॥
एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला ।
एतं कसिं कसित्वान सव्वदुक्खा पमुच्चतीति ॥ 5 ॥

—सुत्तनिपात, 4–कसिभारद्वाजसुत्त

25. अहं च भोयरायस्स तं च सि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चर ॥

—उत्तराध्ययन 22/44

26. पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥

—दसवैकालिक 2/6

27. अगन्धणे कुले जातो जधा णागो महाविसो ।
मुंचित्ता सविसं भूतो पियन्तो जाती लाघवं ॥ —इसिभासियाइं 45/20

29. See-Introduction of Isibhasiyaim by Walther Schubring, Ahmedabad—1974.

30. Bhagwati, shatak–15.

31. Upasakdashang, chapter–3 and 7.

32. Jnatadharma Katha, Dropadi chapter.

33. पत्तेयबुद्धमिसिणो बीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स ।
पासस्स य पण्ण दस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥

—इसिभासियाइं, पृ० 205

34. नारयरिसिपामुक्ने, वीसं सिरिनेमिनाहतित्यम्मि ।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि ॥ 44 ॥
पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता ।
पणयालीसं इसिभासियाइं अज्झयणपवराइं ॥ 45 ॥

—ऋषिमण्डल प्रकरणम् 'आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला ग्रन्थांक 31, वालापुर, गाथा 44, 45

35. पण्हावागरणदसासु णं ससमय-पर-समय पण्णवय पत्तेयबुद्ध-विविहत्थभासाभासियाणं

—समवायांग सूत्र 546

36. Bhagwati.
37. Brihadaranyak Upanishad. Chapter, 2 Brahman-4.
38. Rishimandal-43.
39. Introduction page 3-7. ISIBHASIYAIM. L. D. Institute of Indology Ahmedabad-9, 1974.
40. Rishibhashit chapter-1
41. Samvayang Sutra, Prakeernasamvaya 252/3, Jain Vishwa Bharti (Ladnu).
42. Jnatadharma Katha, chapter 16/139-142.
43. Aupapatik Sutra-38.
44. Rishimandal Vritti, First Part, verse.-35
45. Avashyak-churni. Part-2, Page 194 (Rishibhdev Keshrimal, Ratlam, 1928).
46. Buddhavansha, Attha Katha 10/9.
47. Thergatha Atthakatha, Part-1. Page-268.
48. Ibid, Page 269.
49. Jatak Katha, Third part (Sarvajatak group). page-306.
50. Ibid-Part four, page 567.
51. Ibid-Part five, page-476.
52. Rigved.
53. Atharvaved.
54. Samved.
55. Chhandogyopanishad-7/1/1.
56. Naradparivrajakopanished, 2.6,14,33,37.
57. Naradopanishad-9.
58. Devarshi Naradastatha-Gita 10/13, 10/26.

59. Shantiparva-275/3 (Gita press).
60. Bhagwat 1/3/8, 1/5/38,39.
61. Isibhasiyaim, chapter-2,
62. Thergatha Attha Katha, Part-1 Page 206, 348.
63. Isibhasiyaim, Introduction-page-4 (L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1974.)
64. Rishibhashit, chapter-3.
65. Sutrakritang-1/1/3/4-3,
66. भविश्रव्वं खलु भो सव्व-कामविरएण एअमज्झयणं ।
भासित्तु देवलाखुअ-रायरिसी सिवयं पत्तो ॥ ऋषिमण्डल गाथा 124
67. Majjhimnikaya Part-2, Page-154 (Pali Text Society).
68. Indriyajatak, Page 463.
69. Aadiparva 1/107, 53/8 (Gita Press)
70. Sabhaparva 53/10, 78/15 (Gita Press).
71. Shalyaparva 50 (Gita Press)
72. Shantiparva 229/5, 275/4-39 (Gita Press).
73. Anushasanparva 18/17-18 (Gita Press).
74. Gita (Gorkhpur edition) 10/13.
75. Mathar vritti-71. See Sankhya darshan Aur Vijnan Bhikshu by Dr. Urmila Chaturvedi, Page-25.
76. Avashyak Niryukti, Verse 1288 (Vijayadan Suri Jain Series, Surat).
77. Avashyak Bhashya, Page 782 (Vijayadan Suri Jain Series, Surat).
78. Avashyak-churni, Part 2, Page 79 and 193.
79. Rishimandal, Verse 123. See Vritti page 190. (Jain Vidyashala, Dosivada pole, Ahmedabad. 192 ·).
80. Majjhiya Nikaya, Part 2, Page 169,200 (Pali Text Society)
81. Suttanipat, First part, 196 (P.T.S).
82. Thergatha Atthakatha, Part-1, Page 503 (P.T.S.).
83. Rigved, 1/45/3, 2/139, 3/11/7.
84. Chhandogyopanishad, 1/2/10.
85. Aadiparva 122/51.
86. Rishibhashit, chapter-5
87. Avashyak Niryukti, Page 398 (Agamodaya Samiti, Bombay, 1916-17).
88. Visheshvashyak Bhashya Page 787 (Rishabhdev Kesharimal, Ratlam, 1936).

89. Avashyak Churni, Part-I, Page 529-30 (Rishabhadev Kesharimal. Ratlam. 1936).
90. Acharanga, Sheelank Vritti, Page 154 (Agamodaya Samiti, Bombay 1916).
91. Thergatha Atthakatha, Part-2, Page 82.
92. Rishibhashit, chapter 6.
93. Aupapatik, Verse 38 (Agamodaya Samiti. Bombay, 1916).
94. Bhagwati Sutra, Verse 418 (Agam Sudhasindhu, 1977).
95. Avashyak Churni Part-I, Page 455-460.
96. Rishimandal Vritti 64.
97. एवमादि जहा वसुदेवहिंडीए एत्थ पुण वक्कलचीरिणो अहिगारो.... ।
आवश्यक चूर्णि भाग 1, पृ. 460

पिउनावसउवगरणं पमज्जयंतस्स केवल नाणं ।
उप्पन्न जस्स कए वक्कलचीरिस्स तस्स नमो ।

98. Thergatha Atthakatha, Part-1 P. 420 (P.T.S.).
99. Rishibhashit, chapter-7.
100. Visheshavashyak Bhashya. Verse-3169.
101. Avashyak-Churni Part-1. Page 583.
102. Aupapatik Vritti, Page-114.
103. Visheshanavati of Haribhadra, Verse 38,41-44.
104. Rishimandal, second part-Page-193.
105. Thergatha Atthakatha, Part-1, Page 100 (P.T.S.).
106. Apadan Attha Katha, Part-2, Page 456.
107. Rishibhashit, chapter-8.
108. Ibid chapter-9.
109. Sutrakritang 1,2/27.
110. Bhagwati Sutra 550.
111. Uttaradhyayan Churni, Page-168.
112. Antakritdasha, Sutra-12.
113. Anguttarnikaya, Part-1, Page-23 (P.T.S.).
114. Adi Parva 42,33.
115. Shatpath Brahman 7,5 1 5.
116. Taittiriya Brahman 2,18, 10,1,8
117. Rishibhashit chapter-10.

118. Jnatadharma Katha 1/14.
119. Vipaksutra, Sutra 32.
120. Visheshavashyak Bhashya Verse-3332.
121. Sutrakritang-Churni, Page-28.
122. Sthanang Sutra 755.
123. Rishibhashit chapter-11.
124. Bhagwati Sutra 540.
125. Upasakdasha 6/20,21,23,28, 7/8,11, 42-45 (Ladnu).
126. Avashyak-Niryukti, Verse 474.
127. Visheshavashyak-Bhashya, Verse-1928.
128. Avashyak-Churni, Page-282.
129. Deeghnikaya Part-1, P. 53 (P.T.S.).
130. Thergatha-23.
131. Shantiparva-177.
132. Rishibhashit, Chapter-12
133. Shatpath Brahman 9/7, See Vedic Kosh (V.H.U. 1932) Page 428
134. Shankhayan Aranyak 13/1; See Vedic Kosh (V.H.U. 1932) Page 428.
135. Brihadarnyak Upanishad 2/4/1; 3/5/1; See Vedic Kosh (V.H.U. 1932) Page-428.
136. Mahabharat Sabhaparva 4/12,33/35, Shantiparva 310-318.
137. एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मण: पुत्रैपणायाश्च वित्तैपणायाश्च लौकैपणायाश्य व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यांचरन्ति या ह्येव पुत्रैपणा सा वित्तैपणा या वित्तैपणा सा लौकैषणोभे ह्येते एषणे एवं भवत: ।

—बृहदारण्यकोपनिपद् 3/5/1

तुलनीय—

जाव ताव लोएसणा ताव ताव वित्तेसणा, ताव ताव वित्तेसणा ताव लोएसणा । से लोएसणं च वित्तेसणं परिन्नाए गोपहेण गच्छेजा णो महापहेण···· ।

—ऋपिभापित 12

138. Mahabharat, Shantiparva, chapter 310-318,
139. Rishibhashit Chapter-13.
140. Samvayang 11/4.
141. Sthanang Sutra, 157, 236.
142. Avashyak-Niryukti, Verse 866,870,871.
143. Visheshavashyak-Bhashya, Verse, 3332,3338,3339.

144. Sthanang, Sutra 157.236.
146. Sthanang-Abhayadeva commentary. Page 182,474.
147. Thergatha-84.
148. Suttanipata. Verse-814.
149. Rishibhashit, chapter-14.
150. Sutrakritang 1/3/4/2.
151. Sutrakritang-Churni, Page-121.
152. Sutrakritang Sheelank Commentary, P-15.
153. Pali Proper Names. Part-2, Page 281-83.
154. Vedic Kosh, Page-334. (K.H.V.V. 1933).
155. Mahabharat Ki Namanukramanika Page-216.
156. Rishibhashit, chapter-15.
157. Ibid-chapter-16.
158. Sthanang Sutra-755.
159. Vipaka Sutra 29.
160. Dhammapad Atthakatha, Part-1, Page-324 foot note.
161. Mahabharat. Dronparva, 144/7.
162. Brihadaranyakopanished-4/6/2.
163. Rishibhashit, chapter-17.
164. Jnatadharma-katha. Verse-117.
165. Dictionary of Pali Proper Names (Malal Shekhar) Part-2, Page-882, 883.
166. Mahabharat, Streeparva, Chapter 2 to 7.
167. Rishibhashit, chapter-18.
168. Sthanang Sutra 643.
169. Samvayang Sutra-159.
170. Antakritdasha 8.
171. Bhishma Parva 27/36.
172. Shatpath Brahman 3,1,1,4.
173. Rishibhashit, Chapter 19.
174. Ibid Capter-20.
175. Sutrakritang-1/1/1/12.
176. Rajprashniya 167-180.
177. Deeghnikaya Part-2, Payasirajanna sutta (Pali Publication Board-1958)

178. Samavayang, Samvaya-44.
179. Rishibhashit, Chapter-21.
180. Panchtantra Page-97-105 (Chokhamba Vidya Bhavan. Varanasi-1985).
181. Rishibhashit Chapter 22.
182. Uttaradhyayan 18/19,22.
183. Brihadaranya kopanishad 4/1/5.
184. Mahabharat, Anushashanparva 4/1.
185. Rishibhashit Chpater 23.
186. Sutrakritang 1/3/4/2,3.
187. Sthanang 755.
188. Anuttaraupapatik 3/6.
189. सूत्रकृताङ्ग शीलाङ्क वृत्ति खण्ड 2. पृ. 73 (म. जै. ज्ञानोदय सोसा. राजकोट)।
    अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ।
    बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे रिसी।
    असित्ते देविले चेव दीवायण महारिसि।
    पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य॥
190. (a) Jatak Part-1, Page 66-81 (Edited by Fausball).
    (b) For other references from Pali Tripitak see Dictionary of Pali Proper Names by J. P. Malal Shekhar, 1937, Vol-I, Page-382-83.
191. Rishibhashit, chapter-24.
192. Dictionary of Pali Proper Part Names II Page, 1323-1324,
193. Brihadarnyakopanishad 61/41/33.
194. Rishibhashit chapter 25.
195. Samvayang-159.
196. Bhagvati Sutra, 529-530.
197. Aupapatik Sutra 38-40.
198. Sthanang Sutra-692.
199. Deeghnikaya, Part;1, Page-S7 (P.T.S.).
200. Etereya Brahman 8,21.
201. (a) Avashyak-churni, Part-1, Page 13.
    (b) Prakrit Proper Name, Vol-I Page 56.
202. Rishibhashit, chapter-26.
203. Uttaradhyayan-Sutra, 25/19-29.
204. Dhammapada, Brahman Section, 405-410.
205, Suttanipat, Urag section, Kasibhardwaj Sutta.
206. (a) Jatak Vol-4, 375-90 (Ed. Fausball).
    (b) Dictionary of Pali proper Name Vol. II. Page 599.
207. Uttaradhyayan Sutra, chapter-12.
208. Mahabharat, Udyog parva 129/19-21.
209. Rishibhashit, chapter-27.

210. Avashyak-Churni Part-2, Page 199.
211. Nisheeth Bhashya, Verse-5890.
212. Brihadkalp-Bhashya, Verse-4066.
213. Avashyak Vritti of Haribhadra. Page-711-712.
214. Dictionary of Pali Proper Names. Vol. II Page-854.
215. Rishibhashit, chapter-28
216. Sutrakritang 2/6.
217. Sutrakritang Niryukti, Verse 187-200.
218. Sutrakritang Churni, Page 413-17.
219. (a) Avashyak Sutra P. 27.
    (b) Prakrit Proper Names. Vol. I ,Page, 44.
220. Rishibhashit, chapter-29.
221. Acharanga 2/176.
222. Sutrakritang 1/6 (Viratthui).
223. Bhagwati Sutra, Shatak 9215.
224. Kalpa Sutra 4-145.
225. Uttaradhyayan 32/21-100.
226. Dashvaikalik 1/1.
227. Deeghnikaya, Samanjafala Sutta and Majjhimnikaya. Upali Sutta.
228. Sutrakritang 1/6/28.
229. (a) Thergath Atthakatha, Part-1, Page-153.
    (b) Dictionary of Pali Proper Names Vol. II, Page-820.
230. Rishibhashit, chapter 30.
231. (a) Bhagwati Sutra 128. 132.
    (b) Visheshavashyak Bhashya, 2435
232. Mahabharat Namanukramanika, Page-303.
233. Rishibhashit, chapter-31.
234. (a) Ibid.
    (b) Uttaradhyayan 23/12.
    (c) Avashyak Niryukti-236.
    (d) Sutrakritang 2/7/81.
235. Arhat Parshwa Aur Unki Parampara, Prof. Sagarmal Jain, Page-1-7.
236. Acharanga 2/15/25.
237. Sutrakritang 2/7/8.
238. Samvayang 8/89/4;16/4;23/3.
239. Bhagwati 1/9/423.
240. Aupapatik 2/5/95.
241. Rajprashniya 213 (Madhukar Muni).
242. Nirayavalika 3/1.
243. Kalpa Sutra, 149-159.
244. Avashyak Churni, Part-1 Page 285-241, 248.

245. Uttaradhyayan 23/12-13; Sutrakritang 2/7/38.
246. Bhagwati 1/9/432-433.
247. Arhat Parshwa Aur Unki Parampara, Page-36-38.
248. Rishibhashit, Chapter-31.
249. Ibid.
250. Ibid, chapter 32.
251. Ibid.
252. For details about Pingin Buddhist tradition see Dictionary of Pali Proper Names, Vol. II. Page, 198-200.
253. Dalsukh Malvania Abhinandan Granth (Parshwanath Vidhyashram, Varanasi).
254. (a) Suttanipat Atthakatha, Vol. 2, Page-603.
(b) Dictionary of Pali Proper Names, Vol. II, Page-199.
255. Mahabharat Namanukramanika, Page-197.
256. Rishibhashit, chapter-33.
257. Isibhasiyaim, Introduction, Page-4.
258. (a) Vedic Kosh, Page-56.
(b) Mahabharat Namanukramanika, Page 31 and 42.
259. Vedic Kosh, Page-23.
260. Ibid, Page-373.
261. Rishibhashit, chapter-33.
262. Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I, Page 182-184.
263. Rishibhashit, chapter-34.
264. Vedic Kosh Page-56.
265. Ibid.
266. (a) Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I, P. 383.
(b) Jatak-487.
267. Rishibhashit, chapter-35.
268. Sutrakritang 1/3/4/2.
269. Sutrakritang Churni Page-120.
270. Rishibhashit, chapter-36.
271. Mahabharat Namanukramanika Page-175.
272. Mahabharat, Vanparva 72/339.
273. Mahabharat, Shantiparva 33-13-15.
274. Vedic Kosh, Page-244.
275. Rishibhashit, chapter-37.
276. Sutrakritang 1/1.
277. Isibhasiyaim (Schubring), Page-118.
278. Avashyak Churni, I, Paae-82.
279. Acharanga Commentary by Sheelanka, Page-135.
280. (a) Avashyak Churni, I, Page-316-320.
(b) Visheshavashyak Bhashya, Verse 1979.

281. Dictionary of Pali Proper Names, II, Page 1103-1118.
282. Rishibhashit, chapter-39.
283. Dictionary of Pali Proper Names, II, Page-1000.
284. Rishibhashit, chapter-38.
285. Uttaradhyayan-18.
286. जन्य मिए काणणोसिते उवशामेति वहाए संजए । —ऋषिभाषित ३९/५
287. Dictionary of Pali Proper Names, II Page 998-1000.
288. रहस्से खलु नो पावकम्मं.... । —ऋषिभाषित 39
289. Mahabharat Namanukramanika, Page 364-365.
290. Sutrakritang 1/3/4/3.
291. Samvayang Sutra, 159 (Prakeernaka Samvaya).
292. Aupapatik Sutra 38.
293. Antakritdasha, Section-2.
294. Dashvaikalik Churni Page-41.
295. Sutrakritang Churni Page-120.
296 Dictionary of Pali Proper Namas, I, Page 501-502.
297. Mahabharat Namanukramanika, Page 87-162.
298. Brihadaranyakopanishad 6/5/1.
299. Rishibhashit Chapter-40.
300. Avashyak Niryukti,847.
301. Visheshavashyak Bhashya, 3290.
302. Avashyak Churni I, Page 12,134,139 and 466.
303. Avashyak Haribhadriya Vritti, Page 347.
304. Acharanga Commentary by Sheelanka, Page-179.
305. Prakrit Proper Names, Vol. II, Page-864.
306. Ibid, Page 677-678.
307. Avashyak Churni, I, Page-519.
308. (a) Prakrit Proper Names, Vol. II, Page 65-7.
     (b) Bhagwati Sutra, 417-418.
309. Mahabharat Namanukramanika, P.-291.
310. Rishibhashit, chapter-41.
311. Ibid, Chapter-42.
312. Ibid. Chapter-43.
313. Ibid, Chapter-45.
314. Ibid, Chapter 45/40; compare Uttaradhyayan 22/41.
315. Ibid, Chapter 45/22.
316. Ibid. Chapter 45/50.

१. पढमं णारदज्झयणं

१. सोयव्वमेव वदति, सोयव्वमेव पवदति, जेण समयं जीवे सव्व-दुक्खाण मुच्चति। तम्हा सोयव्वातो परं णत्थि सोयं ति देवनारदेण अरहता इसिणा बुइयं।

१. सिद्धान्त श्रोतव्य (श्रवण करने योग्य सत्य) का ही कथन करता है। सिद्धान्त श्रोतव्य का ही विशेष रूप से कथन (प्रतिपादन) करता है। आत्मा स्व-सिद्धान्त का ज्ञाता बनकर समस्त दुःखों से मुक्त होता है। अतः श्रवण करने से बढ़कर अन्य कोई शौच (पवित्र) नहीं है। ऐसा अर्हत् देवर्षि नारद कहते हैं।

1. A true doctrine propounds truth meriting such a treatment. That which is worthy of attending to alone is thus propounded. The self is delivered of all unhappiness once the former discovers knowledge pertaining to itself.

Nothing is holier than listening to the true doctrine. This is Arihant Narada's doctrine.

२. पाणातिपातं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे : पढमं सोयव्वलक्खणं। मुसावादं तिविहं तिविहेणं णेव बूया ण भासए : बितियं सोयव्वलक्खणं। अदत्तादाणं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे : ततियं सोयव्वलक्खणं। अब्बम्भ-परिग्गहं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे : चउत्थं सोयव्वलक्खणं।

२. (मुमुक्षु) त्रिकरण और त्रियोग से न स्वयं हिंसा करे और न अन्य से करावे। यह श्रोतव्य का प्रथम लक्षण है।

त्रिकरण और त्रियोग पूर्वक (मुमुक्षु) मृषा (असत्य, मिथ्या) भाषा न स्वयं बोले और न अन्य से बुलवाये अथवा न मिथ्या उपदेश ही दे। यह श्रोतव्य का दूसरा लक्षण है।

तीन करण और तीन योग पूर्वक (मुमुक्षु) अदत्तादान (अन्य की वस्तु का ग्रहण) न स्वयं करे और न अन्य से करावे। यह श्रोतव्य का तीसरा लक्षण है।

मुमुक्षु त्रिकरण (कृत, कारित, अनुमोदित) और त्रियोग (मनोयोग, वचन-योग, काययोग) पूर्वक अब्रह्म (मैथुन, काम) और परिग्रह का न स्वयं सेवन और संग्रह करे तथा न अन्य किसी को इस हेतु प्रवृत्त करे। यह श्रोतव्य का चौथा लक्षण है।

2. The aspirant should abstain from violence that results from his own deeds, at his instance or on his endorsement accruing from his ideation, word or deed. Nor should he abet another to indulge in such a heinous act. This is the prime mark of a true doctrine.

The seeker should neither covertly nor overtly utter falsehood nor abet another to do so. He should not preach falsehood. This is the second attribute of a true doctrine.

Neither should he covertly or overtly accept alms nor lead another to do so. This is the third attribute of a true doctrine.

Such a devotee should never in thought, word and deed indulge in libido and acquisition. He should neither himself lapse into these vices nor abet another or sanction such a deed ex post facto. This is the fourth attribute of a true doctrine.

सव्वं च सव्वहिं चेव सव्वकालं च सव्वहा।
निम्ममत्तं विमुत्तिं च विरतिं चेव सेवते ॥१॥

१. मुमुक्षु समस्त विधियों के साथ सर्वदा प्रति-समय मोहरहित होकर विमुक्ति (अहिंसा) और विरति (सावद्य पाप कर्मों से निवृत्ति) का सेवन करे।

1. The aspirant should stay scrupulously intact of all lure and temptation and practise non-violence and non-attachment.

सव्वतो विरते दन्ते सव्वतो परिनिव्वुडे।
सव्वतो विप्पमुक्कप्पा सव्वत्थेसु समं चरे ॥२॥

२. मुमुक्षु सर्वथा पाप कर्मों से निवृत्त, जितेन्द्रिय, सर्वथा शान्त, सर्वथा बन्धन रहित अथवा निःसंग होकर सर्वत्र समभाव (राग-द्वेष रहित, तटस्थता) में विचरण करे अथवा समस्त पदार्थों के प्रति औदासीन्य भाव से विचरण करे।

2. He should be free of vices and utterly reticent, quiet and unattached. Harbouring no proclivities, he should stay tranquil and disinterested in things around.

सव्वं सोयव्वमादाय अडयं उवहाणवं ।
सव्वदुक्खप्पहीणे उ सिद्धे भवति णीरए ॥३॥

३. समस्त श्रोतव्य–श्रवण करने योग्य सत्य को ग्रहण कर मुमुक्षु की आत्मा उपधानवान (तपश्चर्या युक्त महातपस्वी) बनती है और वह मुमुक्षु समस्त दुःखों से हीन होकर, कर्मरज से रहित होकर सिद्ध होता है ।

3. Such an aspirant embraces the truth that is meritorious. He masters high asceticism and austerity. Thus ridding himself of all pain, he purges himself of all Karmic fall-out and attains summum bonum.

३. सच्चं चेवोवसेवन्ती, दत्तं चेवोवसेवन्ती, बम्भं चेवोवसेवन्ती ।
सच्चं चेवोवहाणवं, दत्तं चेवोवहाणवं, बम्भं चेवोवहाणवं ।

३. मुमुक्षु सत्य की उपासना करता है, दत्त की उपासना करता है और ब्रह्मचर्य की उपासना करता है । सत्य ही उपधान है, दत्त ही उपधान है और ब्रह्मचर्य ही उपधान है । अर्थात् सत्य, दत्त और ब्रह्मचर्य के माध्यम से ही आत्मा के निकट अवस्थिति होती है ।

3. The aspirant cultivates truth, charity and continence. They are the means and it is through these means that one attains one's true selfhood.

४. एवं से सिए बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

पढमं नारदज्झयणं समत्तं ।

४. इस प्रकार वह मुमुक्षु निर्मल, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और वह भविष्य में पुनः इस लोक (संसार) में नहीं आता है अर्थात् उसकी भव-परम्परा समाप्त हो जाती है ।

ऐसा मैं (देवर्षि नारद) कहता हूँ ।

नारद नामक प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ ।

4. This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, sanctity, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Narada, the seer, do pronounce.

२. बिइयं वज्जियपुत्तज्झयणं

जस्स भीता पलायन्ति, जीवा कम्माणुगामिणो ।
तमेवादाय गच्छन्ति, किच्चा दिन्नं व वाहिणी ॥१॥
वज्जियपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं ।

१. कर्मानुगामी जीव जिस दुःख से भयभीत होकर पलायन करते हैं, किन्तु कर्मवश वे इसी दुःख को पुनः प्राप्त करते हैं। जैसे कि, युद्ध में पराजित सेना त्रस्त होकर पलायन करती हुई मूर्खता से शत्रु के चंगुल में पुनः फंस जाती है।

ऐसा अर्हत् वज्जियपुत्त (वज्जिक पुत्र, वात्सीपुत्र) ऋषि कहते हैं।

1. A self in Karmic bondage flees from unhappiness but is renoosed by his Karmas to his unhappy desert. It is like a fatuously fleeing defeated army to be recaptured by the potent foe.

Vajjiputta, the enlightened, says thus :

दुक्खा परिवित्तसन्ति पाणा मरणा जम्मभया य सव्वसत्ता ।
तस्सोवसमं गवेसमाणे अप्पे आरंभभीरुए ण सत्ते ॥२॥

२. प्राणी दुःख से परित्रस्त हैं और समस्त जीव जन्म तथा मरण के भय से आतंकित हैं। वे प्राणी दुःख के उपशमन की खोज में रहते हुए भी आरम्भ–हिंसा आदि पाप कर्मों से भय नहीं खाते हैं।

2. All living beings are oppressed with unhappiness and the woeful chain of incarnations. All shun woe and still fail to ward off sinful enterprise and violence.

गच्छति कम्मेहि सेऽणुबद्धे, पुणरवि आयाति से सयंकडेणं ।
जम्मण-मरणाइ अट्टे, पुणरवि आयाति से सकम्मसित्ते ॥३॥

३. वह स्वकृत कर्मों से अनुबद्ध–प्रतिबद्ध (बंधा हुआ) होकर चलता है। वह स्वकृत कर्मों के द्वारा ही पुनः इस संसार में आता है। वह स्वकृत कर्मों से निचित जन्म और मृत्यु आदि के दुःखों को पुनः-पुनः प्राप्त करता है और संसार में परिभ्रमण करता है।

3. A being is riveted to his moral desert that impels him to his reincarnation. Birth and death are his inevitable destiny by virtue of his own deeds.

बीया अंकुरणिप्फत्ती, अंकुरातो पुणो बीयं ।
बीए संबुज्झमाणम्मि, अंकुरस्सेव संपदा ।।४।।

४. बीज से अंकुर निकलता है और पुनः अंकुर से बीज निकलता है । बीज से ही अंकुरों की सम्पदा/सन्तति बढ़ती है । ऐसा समझना चाहिए ।

4. A seed germinates and in its turn re-emerges from the germ. It is the seed that multiplies endlessly.

बीयभूताणि कम्माणि, संसारम्मि अणादिए ।
मोहमोहितचित्तस्स, ततो कम्माण संतती ।।५।।

५. इस अनादि संसार में कर्म ही बीज के समान है । मोहग्रस्त चित्त वाले प्राणियों के लिये उन कर्मरूपी बीजों से कर्म-सन्तति (कर्म-परम्परा) वृद्धि को प्राप्त होती रहती है ।

5. Karma is like a seed sown in the cosmos. Individuals accursed with attachment are heir to this interminable chain of Karmas.

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलाघाते हतं फलं ।
फलत्थी सिंचती मूलं, फलघाती ण सिंचती ।।६।।

६. मूल (जड़) का सिंचन करने से फल उत्पन्न होता है । मूल (जड़) को नष्ट करने से फल नष्ट हो जाता है । फल का अभिलाषी मूल को सींचता है और फल को न चाहने वाला मूल को नहीं सींचता है ।

6. Water the root and the fruit is inevitable. Nip the root and fruit ceases to exist. A seeker of fruit will water the root while one averse to the former avoid it.

मोहमूलमणिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं ।
मोहमूलाणि दुक्खाणि, मोहमूलं च जम्मणं ।।७।।

७. संसार के समस्त प्राणियों के संसार में आवागमन का मूल मोह है । समस्त दुःखों का मूल मोह है और जन्म का मूल भी मोह है ।

7. Attachment drives us reincarnation-ward. It is the root cause of woe and of births.

दुक्खमूलं च संसारे, अण्णाणेण समज्जितं ।
मिगारि व्व सरुप्पत्ती, हणे कम्माणि मूलतो ।।८।।

८. जीव अज्ञान के कारण इस दुःखमूलक संसार का उपार्जन करता है। जिस प्रकार सिंह बाण के चालक को नष्ट करता है, इसी प्रकार (हे जीव !) तू संसार के आवागमन का मूल कारण कर्म को समूल नष्ट कर दे।

8. Individual generates the woeful world owing to his ignorance. As does a lion pounce upon and destroy the hunter, so be it your destiny, O individual, to nip the root cause of Karma.

एवं से सिए बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ विइयं वज्जियपुत्तज्झयणं ।

इस प्रकार वह मुमुक्षु निर्मल, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और वह पुनः भविष्य में इस लोक में नहीं आता है, अर्थात उसकी भव-परम्परा समाप्त हो जाती है।

ऐसा मैं (वज्जियपुत्त, वात्सीपुत्र ऋषि) कहता हूँ।

वज्जियपुत्त नामक दूसरा अध्ययन पूर्ण हुआ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I, Vajjiputta (Vatsiputra) the seer, do pronounce.

३. तईयं दविलज्झयणं

१. भविदव्वं खलु भो सव्वलेवोवरतेणं। लेवोवलित्ता खलु भो जीवा अणेगजम्मजोणीभयावत्तं अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चातुरंतं संसार-सागरं वोतीकंता सिवमतुलमयलमव्वाबाहमपुणब्भवमपुणरावत्तं सासतं ठाणमब्भुवगता चिट्ठंति।

१. भो मुमुक्षु ! तुम्हें कर्मजन्य समस्त लेपों से रहित होना चाहिए। भो प्राणी ! कर्मजन्य लेप से उपलिप्त जीव एकाकी अनेक जन्म-योनियों के द्वारा अपरिमित, लम्बे रास्ते वाले, भयाकुल और चक्र (पहिया) के समान विशाल संसार रूपी समुद्र में गोते खाता रहता है और कर्मलेप से अपरत होने पर वह शिवरूप, अतुल—असाधारण, अचल—स्थिर रूप, अव्याबाध—बाधा-पीड़ारहित, अपुनर्भव—पुनः जन्मरहित, अपुनरावर्त—पुनरागमन से रहित, शाश्वत-सिद्धगति स्थान को प्राप्त कर स्थिर रहता है।

1. Be thou freed of Karmic adhesions, O being. A being besmeared with Karma keeps revolving along an endless, desolate spiral course, *rising and dipping in the crests and troughs of this fathomless ocean,* we call Universe. Once shorn of this Karmic smear, he stays supreme on the empyrean heights of Shivahood, unmoved and painless, freed from death and birth.

२. से भवति सव्वकामविरते सव्वसंगातीते सव्वसिणेहतिक्कंते सव्ववीरियपरिनिव्वुडे सव्वकोहोवरते सव्वमाणोवरते सव्वमायोवरते सव्वलोभोवरते सव्ववासादाणोवरते सुसव्वसंवुडे सुसव्वसव्वोवरते सुसव्वसव्वोवसंते सुसव्वपरिवुडे, णो कत्थई सज्जति य, तम्हा सव्वलेवोवरए भविस्सामि त्ति कट्टु

असिएण दविलेणं अरहता इसिणा बुइतं।

२. लेपरहित होने से वह आत्मा समस्त वासनाओं से रहित होता है, समस्त आसक्तियों से रहित होता है, समस्त प्रकार के स्नेह से रहित होता है, समस्त बाह्य पराक्रमों से रहित होता है, समस्त प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित होता है, समस्त प्रकार के वासादान—वस्त्र, निवास स्थान अथवा सुगन्धित पदार्थो के ग्रहण से निवृत्त होता है, सम्यक् प्रकार से पूर्णरूपेण संवरयुक्त (सावद्य—पाप रहित) होता है, सम्यक और सर्व प्रकार से अशुभवाणी और आक्रोश आदि से

रहित होता है, सम्यक् और सम्पूर्ण रूप से श्रव्य (श्रवण करने योग्य सत्य) द्वारा उपशान्त होता है और सम्यक् रूप से वह सभी से परिवृत होता है तथापि उसकी कहीं पर भी आसक्ति नहीं होती है। अतः मैं भी समस्त कर्मजन्यलेपों से रहित होऊंगा।

इस प्रकार अर्हत् असित दविल (देवल) ऋषि बोले।

2. Intact of this smear, such a self is purged of all desire, attachment, yearnings, mundane enterprise, wrath, vanity, allurement and avarice. He abandons all urges for wealth, mansion, attires and incense. He is purged of all sins, ever composed and tranquil. He abstains from all unhappy utterance. He is ever content and inclines towards none. May I attain such a dispassionate state. Added **Asit Deval.**

सुहुमे व बायरे वा, पाणे जो तु विहिंसइ।
रागदोसाभिभूतप्पा, लिप्पते पावकम्मुणा ॥१॥

१. जो आत्मा राग और द्वेष से अभिभूत (पराजित) होकर सूक्ष्म अथवा स्थूल प्राणों (जीवों) की हिंसा करता है वह पापकर्मों से लिप्त होता है।

1. An individual's causing of loss of minute or tangible lives driven by attachment or animosity attracts evil Karmic smear.

परिग्गहं गिण्हते जो उ, अप्पं वा जति वा बहुं।
गेही-मुच्छाय दोसेणं, लिप्पए पावकम्मुणा ॥२॥

२. जो संयमी अल्प या अधिक परिग्रह को ग्रहण/धारण करता है वह आसक्ति एवं मोह के दोष से पापकर्मों में लिप्त हो जाता है।

2. An austere indulging in meagre or excessive acquisition attracts evil Karmic smear on account of the attachment and avarice involved.

कोहं जो उ उदीरेई, अप्पणो वा परस्स वा।
तं निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पते पावकम्मुणा ॥३॥

एवं जाव मिच्छादंसणसल्ले।

३. जो अपने या पराये के क्रोध को प्रेरित करता (जगाता) है, उस निमित्त के अनुबन्ध (अनुसरण) से वह पापकर्मों में लिप्त होता है।

इसी प्रकार मिथ्यादर्शन-शल्य तक के पापकर्मो से वह लिप्त होता है। अर्थात् असत्य, स्तेय, मैथुन, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शन-शल्य के माध्यम से वह पापकर्मो से लिप्त होता है।

3. One who provokes another to burst into anger shares the latter's sinful act.

It triggers a chain of vices beginning with misconception, perjury, theft, libido, vanity, avarice, attachment, jealousy and hostility.

पाणातिवातो लेवो, लेवो अलियवयणं अदत्तं च।
मेहुणगमणं लेवो, लेवो परिग्गहं च ।।४।।

४. हिंसा लेप है। असत्य वचन और चोरी लेप हैं। मैथुनगमन (काम-वासना) लेप है और परिग्रह लेप है। अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह आत्मा के बन्धन हैं।

4. Violence is a smear. So are falsehood and theft, libido and acquisition. These are bondages to the self.

कोहो बहुविहो लेवो, लेवो माणो य बहुविधविधीओ।
माया य बहुविधा लेवो, लोभो वा बहुविधविधीओ ।।५।।

५. क्रोध के अनेक रूप और माया के विविध प्रकार के रूप लेप/बन्धन हैं। अनेक रूपात्मक माया और बहुविधात्मक लोभ भी (आत्मा के) लेप/बन्धन हैं।

5. Wrath and allurement appear in various forms and shapes. They constitute bondage of the self.

तम्हा ते तं विकिंचित्ता, पावकम्मपवड्ढणं।
उत्तमट्ठवरग्गाही, वीरियत्ताए परिव्वए ।।६।।

६. अतः मुमुक्षु पूर्वोक्त पापवर्द्धनकारी प्रवृत्तियों का परित्याग (विनाश) करे, सर्वोत्तम परमार्थतत्त्व अथवा संयम को ग्रहण करे और आत्मबल को पूर्णरूप से जागृत (प्रकट) करे।

6. Let such aspirant steer clear of the above mentioned vices. He should cultivate piety and charity and regain his full spiritual stature.

खीरे दूसिं जधा पप्प, विणासमुवगच्छति ।
एवं रागो व दोसो व, बम्भचेरविणासणा ॥७॥

७. जैसे दूध दूषण (तक्र संपर्क) को प्राप्त कर नष्ट हो जाता है वैसे ही राग और द्वेष के माध्यम/सम्पर्क से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है ।

7. As pollution precipitates milk, so does attachment aversion to continence,

जधा खीरं पधाणं तु, मुच्छणा जायते दधि ।
एवं गेहिप्पदोसेणं, पावकम्मं पवड्ढती ॥८॥

८. जैसे दही के सम्पर्क से दूध अपने दुग्धत्व का नाश कर दही बन जाता है वैसे ही मोहासक्ति के दोष से पापकर्म बढ़ते हैं ।

8. As curd curdles milk irretrievably, so does vice to human soul, eclipsing its pristine contours.

रण्णे दवग्गिणा दड्ढा, रोहंते वणपादवा ।
कोहग्गिणा तु दड्ढाणं, दुक्खाणं ण णिवत्तती ॥९॥

९. जंगल में दावाग्नि से जले हुए वन-वृक्ष पुनः उत्पन्न हो जाते हैं । उसी प्रकार क्रोधाग्नि से भस्म दुःख पुनः उत्पन्न हो जाते हैं । दुःखनाश नहीं होता है ।

9. As fire charred vegetation of a forest regerminates, so does the reviving vice, thanks to the wrathfulness of man.

सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं ।
सव्वोदहिजलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ ॥१०॥

१०. बाहर की जलती हुई आग को पानी से बुझाना संभव है किन्तु मोह की अग्नि को, समस्त समुद्रों के अनन्तजल से भी बुझाना संभव नहीं है, अर्थात् मोहाग्नि को शान्त करना दुःशक्य है ।

10. Physical fire can be easly extinguished with water. Not so the fire of attachment, that defies all the oceans put together.

जस्स एते परिण्णाता, जाती-मरणबंधणा ।
से छिन्नजातिमरणे सिद्धिं गच्छति णीरए ॥११॥

११. जो जन्म-मृत्यु-बन्धन के पूर्वोक्त कारणों को जान चुके हैं वे ही जन्म-मरण के बन्धनों को तोड़कर, कर्मरज से रहित होकर सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।

11. The enlightened beings, aware of the root cause of reincarnation, alone succeed in snapping this severe bond and get over this unending chain of birth and death.

एवं से बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

[इइ] तईयं दविलज्झयणं ।

इस प्रकार वह निर्मल, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी वनता है और वह भविष्य में इस लोक में नहीं आता है । अर्थात् उसकी भव-परम्परा समाप्त हो जाती है ।

ऐसा मैं (असित दविल/देवल ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Asit Deval, the seer) do pronounce.

असित दविल नामक तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ ।

—o—

४. चउत्थं अंगरिसिज्झयणं

आयाणरक्खी पुरिसे, परं किंचि ण जाणती ।

असाहुकम्मकारी खलु अयं पुरिसे, पुणरवि पावेहिं कम्मेहिं चोदिज्जती णिच्चं संसारम्मि । अंगरिसिणा भारद्दाएणं अरहता इसिणा बुइतं ।

आदानरक्षी—ग्रहण का रक्षण करने वाला अर्थात् परिग्रह का धारक और रक्षक मानव दूसरी कोई बात नहीं जानता है । ऐसा मानव वस्तुतः असाधु/अशोभनीय कर्म करने वाला होता है और पुनः-पुनः पापकर्मो के द्वारा निरन्तर संसार को प्रेरित करता है अर्थात् भव-भ्रमण को बढ़ावा देता रहता है ।

ऐसा अर्हत् भारद्वाज गोत्रीय अंग ऋषि (अंगिरस) नामक ऋषि कहते हैं ।

An acquisitive and possessive individual becomes a monomaniac. He incessantly commits evil deeds and raises the bulwark of mundaneness around himself.

This is the thesis of the enlightened Angiras hailing from the celebrated Bharadwaja family.

णो संवसितुं सक्का, सीलं जाणित्तु माणवा ।
परमं खलु पडिच्छन्ना, मायाए दुट्ठमाणसा ॥१॥

१. दुष्टहृदय वाले मनुष्य सचमुच में माया-दम्भ से आच्छादित रहते हैं । अतः उनके शील-स्वभाव को जानकर उनके साथ रहना मानव के लिये शक्य/संभव नहीं है ।

1. Callous individuals are addicted to attachment and vanity. Any proximity with them is beyond redemption.

णियदोसे णिगूहंते चिरं पि णोवदंसए ।
'किह मं कोवि ण जाणे', जाणे णत्थ हियं सयं ॥२॥

२. वे अपने दोषों को छिपाते है, चिरकाल तक प्रकट नहीं होने देते हैं और वे समझते है कि 'हमारे दोषों को कोई नहीं जानता ।' वस्तुतः ऐसा समझने वाले [illegible] को नहीं जानते हैं ।

2. They excel in concealing their angularities. However, their simulation is not fool-proof and these ill-advised beings are inevitably exposed.

जेण जाणामि अप्पाणं, आवी वा जति वा रहे ।
अज्जयारिं अणज्जं वा, तं णाणं अयलं धुवं ॥३॥

३. जिसके द्वारा मैं अपनी आत्मा को जान सकूं और जिस समय प्रत्यक्ष या परोक्ष में होने वाले शोभन अथवा अशोभन कर्मों को पहिचान सकूं, वही ज्ञान अचल और शाश्वत है ।

3. That knowledge is true and eternal which capacitates us to discern the good from the evil, be it tangible or intangible.

सुयाणि भित्तिए चित्तं, कट्ठ वा सुणिवेसितं ।
मणुस्सहिदयं पुणिणं, गहणं दुव्वियाणकं ॥४॥

४. भित्ति (दीवार) और काष्ठ पर चित्रित चित्रों को समझना सरल है किन्तु मानव के हृदय का अवधारण (निश्चय) करना गहन और दुःशक्य है ।

4. It is easy to appreciate murals on wall and carvings on wood while it is well-nigh impossible to fathom the human heart.

अण्णहा स मणे होइ, अण्णं कुणन्ति कम्मुणा ।
अण्णमण्णाणि भासन्ते, मणुस्सगहणे हु से ॥५॥

५. जिसके मन में भिन्नता है, जिसका कर्म (कार्य) भिन्न है तथा जिसकी वाणी में भिन्नता है, ऐसा मनुष्य गहन (दुर्भेद्य) होता है ।

5. One, whose thought, word and deed are at variance with one another is truly enigmatic.

तणखाणु-कंडक-लता-घणाणि वल्लीघणाणि गहणाणि ।
सढ-णियडिसंकुलाइं, मणुस्सहिदयाइं गहणाणि ॥६॥

६. घास, ठूंठ, कण्टकलता-समूह और वल्लिसमूह की गहनता के समान मनुष्य का हृदय शठता (क्षुद्रता) से व्याप्त, संकुलित और दुर्बोध्य होता है ।

6. Human heart is as crooked, puzzling and incomprehensible as tangled tufts or grass, thorny creepers and bled up v tation.

भुंजित्तुम्रावए भोए, संकप्पे कडमाणसे ।
म्रादाणरक्खी पुरिसे, परं किंचि ण जाणति ।।७।।

७. परिग्रह पिपासु मनुष्य संकल्प पूर्वक ग्रपना मानस इस प्रकार का वना लेता है कि 'मैं उच्चतर भोगों का उपभोग करता रहूँ' । इस संकल्प के ग्रतिरिक्त वह कुछ भी नहीं जानता है ।

7. An acquisitive individual burns with desire, craving for mundane and wanton luxuries and is blind to all other feelings and urges.

ग्रदुवा परिसामज्झे, ग्रदुवा वि रहे कडं ।
ततो णिरिक्ख ग्रप्पाणं, पावकम्मा णिरुम्भति ।।८।।

८. परिषदा (सभा) में दूसरा रूप है ग्रौर एकान्त (अकेले) में कुछ ग्रौर रूप है । किन्तु, मुमुक्षु साधक ग्रात्मा का निरीक्षण कर पापकर्मों को रोकता है ।

8. A pattern of thought that operates in crowd is different from that in privacy. Hence an aspirant engages in introspection and wards off sinful deeds carefully.

दुप्पचिण्णं सपेहाए, ग्रणायारं च ग्रप्पणो ।
ग्रणुवट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा परितप्पति ।।९।।

९. जो स्वकृत दुष्प्रचीर्ण (ग्रशुभवृत्ति से एकत्रित) कर्म ग्रौर ग्रनाचारों को देखता हुग्रा भी उपेक्षा करता है ग्रौर धर्म के लिये सदा अनुपस्थित रहता है वह पीछे (जीवन की संध्या में) पछताता है ।

9. One who negligently tolerates the onrush of vices and sins and is apathetic to pious deeds has nothing but repentance at the long last.

सुप्पइण्णं सपेहाए, ग्रायारं वा वि ग्रप्पणो ।
सुपतिट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा उ ण तप्पति ।।१०।।

१०. जो स्वयं के सुप्रचीर्ण (शुभवृत्ति से एकत्रित) कर्म ग्रौर श्रेष्ठ आचार-व्यवहार का निरीक्षण करता है तथा ग्रात्म-धर्म के प्रति सुप्रतिष्ठित होता है वह पीछे (जीवन की संध्या में) नहीं पछताता है ।

10. One who nurtures pious deeds and ethical conduct and promotes self-realisation has nothing to regret in the end.

पुव्वरत्तावरत्तम्मि, संकप्पेण बहुं कडं ।
सुकडं दुक्कडं वा वि, कत्तारमणुगच्छइ ।।११।।

११. पूर्वरात्रि और अपर रात्रि में संकल्पों के द्वारा जो भी सुकृत अथवा दुष्कृत कार्य किये हैं वे कर्त्ता का अनुगमन करते हैं अर्थात् कर्त्ता के साथ चलते हैं ।

11. Good deeds or bad, that one has performed consciously in the prime of his life or in its wake, follow him as does a shadow.

सुकडं दुक्कडं वा वि, अप्पणो यावि जाणति ।
ण य णं अण्णो विजाणाति, सुक्कडं णेव दुक्कडं ।।१२।।

१२. अपने सुकृत (अच्छे) या दुष्कृत (बुरे) कर्मो को स्वयं ही जानता है, किन्तु अन्य व्यक्ति किसी दूसरे के अच्छे या बुरे कर्मों को नहीं जान सकता है ।

12. It is not given to others to know the moral texture of one's deeds. It is he alone who owns this knowledge.

णरं कल्लाणकारिं पि, पावकारिं ति बाहिरा ।
पावकारिं ति णं बूया, सीलमंतो त्ति बाहिरा ।।१३।।

१३. बाहरी दुनियां वाले अर्थात् अज्ञानीजन कल्याणकारी को भी पापकारी बतलाते हैं और अज्ञानीजन पापकारी को भी सदाचारी बतलाते हैं ।

13. To an ignorant, good deeds might appear as tainted and vice versa.

चोरं पि ता पसंसन्ति, मुणी वि गरिहिज्जती ।
ण से इत्तावताऽचोरे, ण से इत्तावताऽमुणी ।।१४।।

१४. अज्ञानी लोग चोर की भी प्रशंसा करते हैं और मुनि की भी गर्हा (घृणा) करते हैं । उन अज्ञानीजनों की प्रशंसा या निन्दा से चोर साहूकार नहीं बन जाता है और मुनि असंयमी नहीं बन जाता ।

14. The ignorant adulate the burglar and disparage the saint. Such opinions leave the meanness of a burglar and nobility of a saint intact.

णण्णस्स वयणाऽचोरे, णण्णस्स वयणाऽमुणी ।
अप्पं अप्पा वियाणाति, जे वा उत्तमणाणिणो ।।१५।।

१५. अन्य किसी के कहने से कोई चोर नहीं बन जाता है और किसी दूसरे की वाणी से कोई मुनि (संयमी) नहीं बन जाता। अपनी आत्मा को वह स्वयं जानता है अथवा उत्तमज्ञानी (सर्वज्ञ) जानते हैं।

15. Appellation of the like epithet does not reduce one to a common criminal nor ennoble one to sainthood. The subject himself or the enlightened one alone knows the true moral worth of an individual.

जइ मे परो पसंसाति, असाधुं साधु माणिया।
ण मे सा तायए भासा, अप्पाणं असमाहितं ॥१६॥

१६. असाधु और असंयत होने पर भी यदि दूसरे लोग मुझे साधु और संयत कह कर मेरी प्रशंसा करते हैं, तो उनकी वह प्रशंसा मेरी असंयत आत्मा को सान्त्वना नहीं दे सकती।

16. While I am a libidinous crook, laurels reserved for saints will not console my anguished soul.

जइ मे परो विगरहाति, साधुं सन्तं णिरंगणं।
ण मे सऽक्कोसए भासा, अप्पाणं सुसमाहितं ॥१७॥

१७. यदि मैं साधु, शान्त और निर्लेप हूँ, फिर भी दूसरे लोग मेरे से घृणा व मेरी अवमानना करते हैं तो उसकी आक्रोशमयी वाणी मेरी समाधि युक्त आत्मा के आक्रोश का कारण नहीं बन सकती।

17. If I am chaste, calm and pious; deprecation and calumny from others will hardly be able to tamper with my inborn quietude.

जं उलूका पसंसन्ति, जं वा णिन्दन्ति वायसा।
णिंदा वा सा पसंसा वा, वायुजाले व्व गच्छती ॥१८॥

१८. उलूक जिसकी प्रशंसा करें और कौवे जिसकी निन्दा करें, वह निन्दा और प्रशंसा दोनों ही वायुजाल (हवा) की तरह उड़ जाती हैं।

18. Laurels from fools and reprehension from crooks carry little weight and evaporate in no time.

जं च बाला पसंसन्ति, जं वा णिन्दन्ति कोविदा।
णिन्दा वा सा पसंसा वा, पप्पा ति कुरुए जगे ॥१९॥

१९. अज्ञानी जिसकी प्रशंसा करते हैं और क्रोधी जिसकी निन्दा करते हैं। ऐसी निन्दा और प्रशंसा इस मायावी जगत में सर्वत्र विद्यमान है।

19. Such is the nature of this illusory universe that we find indiscreet folk conferring honours and irascible fellows condemning some one or the other.

जो जत्थ विज्जती भावो, जो वा जत्थ ण विज्जती।
सो सभावेण सव्वो वि, लोकम्मि तु पवत्तती ॥२०॥

२०. जो भाव (पदार्थ) यहाँ विद्यमान हैं अथवा जो भाव (पदार्थ) यहाँ अविद्यमान हैं वे सब पदार्थ इस समस्त विश्व में स्वाभाविक रूप से प्रवर्तमान (सक्रियरूप से विद्यमान) रहते हैं।

20. Things that are evident and those that are missing, both do exist in effect, naturally.

विसं वा अमतं वा वि, सभावेण उवट्ठितं।
चंद-सूरा मणी जोती, तमो अग्गी दिवा खिती॥२१॥

२१. इस विश्व में विष, अमृत, चन्द्र, सूर्य, मणि, ज्योति, अन्धकार, अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी सब कुछ स्वभाव से विद्यमान हैं।

21. Hemlock, nectar, sun, moon, gems, light, darkness, fire, heaven and earth all exist of their own accord.

वदतु जणे जं से इच्छियं, किं णु कलेमि उदिण्णमप्पणो।
भावित मम णत्थि एलिसे, इति संखाए ण संजलामहं ॥२२॥

२२. अज्ञानीजन जो चाहे वह बोल सकते हैं, ऐसा जानकर क्यों न मैं अपने आत्म-स्वभाव को जागृत करूं। मुझसे वह सन्तुष्ट नहीं है, ऐसा समझकर मैं उन लोगों पर कुपित नहीं होता हूँ।

22. The reckless blurt as they choose. Condemnations at their hand should in fact prompt me to *sublimate myself to my true selfhood.* My failure to ingratiate such ones is scanty reason for me to be frustrated.

अक्खोवंजणमादाय, सीलवं सुसमाहिते।
अप्पणा चेवमप्पाणं, चोदितो वहते रहं ॥२३॥

२३. अष्ट प्रवचन माता (५ समिति और ३ गुप्ति) रूप अक्ष (धुरा) से युक्त शीलवान और सुसमाहित आत्मा का रथ आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर चलता है।

23. The eight spokes of virtuousness constitute the axle of the wheels of the spiritual chariot that propel human self.

सीलक्खरहमारूढो, णाणदंसणसारथी ।
अप्पणा चेव अप्पाणं, चोदित्ता सुभमेहती ॥२४॥

२४. शील ही जिसका धुरायुक्त रथ है, ज्ञान और दर्शन जिसके सारथी हैं। ऐसे रथ पर आरूढ़ होकर आत्मा अपने आत्म-स्वभाव को प्रेरित करता है और शुभ-कल्याणकारी स्थिति को प्राप्त करता है।

24. Virtue is the spoked chariot and wisdom and true perspective its charioteers. Self rides such a vehicle and rallies itself to win the absolute state.

एवं से बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

[इइ] चउत्थं अंगरिसिनामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और वह भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत्, भारद्वाजगोत्रीय अगऋषि/अंगिरस नामक ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Angiras Bharadwaja the seer) do pronounce.

भारद्वाज अंगिरस ऋषि नामक चौथा अध्ययन पूर्ण हुआ।

५. पंचमं पुप्फसालज्झयणं

माणा पच्चोतरित्ताणं विणए अप्पाणुवदंसए ।
पु प्फ सा ल पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइयं ।

मानरहित होकर विनय के द्वारा आत्म-स्वरूप को देखने वाले अर्हत् पुष्पशालपुत्र ऋषि ऐसा कहते हैं ।

Shedding all vanity, Pushpashalputra, the enlightened, speaks thus in all modesty.

पुढविं आगम्म सिरसा, थले किच्चाण अंजलिं ।
पाण-भोजण से चिच्चा, सव्वं चसयणासणं ।।१।।

१. उन्होंने पृथ्वी पर मस्तक रख कर, भूमि पर (मस्तक के नीचे) अंजलिबद्ध होकर, भोजन-पानी और समस्त शयनासनों का त्याग कर दिया ।

1. He bowed in obeisance and clasped his palms in a modest posture. He discarded all meals, drink and luxurious mattresses.

णमंसमाणस्स सदा, सन्तो आगम्म वट्टती ।
कोध-माणप्पहीणस्स, आता जाणइ पज्जवे ।।२।।

२. नमन करने वाला अर्थात् विनयमान सर्वदा शान्ति और आगमिक ज्ञान में विचरण करता है । क्रोध और मानरहित आत्मा समस्त पर्यायों को जानता है ।

2. One shorn of ego is ever endowed with scriptural wisdom and tranquillity. A self freed from wrath and ego is ever aware of all the modes of matter that are extant.

ण पाणे अतिपातेज्जा, अलियादिण्णं च वज्जए ।
ण मेहुणं च सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे ।।३।।

३. प्राणों की हिंसा न करें । अलीक वचन (असत्य) और चौर्य वृत्ति का त्याग करें । मैथुन का सेवन न करें और अपरिग्रही बनें ।

3. No life be destroyed. Insincere utterance and theft be abandoned. Libido be never indulged and acquisition ever discarded.

कोध-माण-परिण्णस्स, आता जाणति पज्जवे ।
कुणिमं च ण सेवेज्जा, समाधिमभिदंसए ॥४॥

४. क्रोध और मान का परिज्ञाता आत्म-पर्यायों को जानता है। समाधि-स्वरूप का जानकार मांस का भी सेवन नहीं करे।

4. One having awareness and rejection of anger and ego, knows all modes of soul. Such a meditative genius should discard flesh eating.

एवं से बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

[इइ] पंचमं पुप्फसाल-नामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और वह भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (पुष्पशालपुत्र ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnation.

Thus I (Pushpashalputra, the seer) do pronounce.

पुष्पशालपुत्र नामक पांचवां अध्ययन समाप्त हुआ।

६. छट्ठं वल्कलचीरिज्झयणं

तमेव उवरते मातंगसड्ढे कायभेदाति आयतितमुदाहरे देवदाणवाणुमतं। तेणेमं खलु भो लोकं सणरामरं वसीकतमेव मण्णामि, तमहं बेमि।

वियत्त-वागलचीरिणा अरहता इसिणा बुइतं।

जिस प्रकार मातंग शरीर-त्याग के समय गहन वन में जाता है उसी प्रकार मातंग—हाथी की तरह आचरण करने वाला श्राद्ध—श्रावक अर्थात् मातंग श्राद्ध उन अशुभवृत्तियों से रहित होकर भविष्य में कायभेद–शरीरत्याग के लिये गमन करता है। उसी को देव और दानवों से अनुमोदित कहते हैं। भो मुमुक्षु! निश्चय से मनुष्य और देवों से युक्त यह लोक जिसके वशीभूत (आधीन) है, उसका मैं प्रतिपादन करता हूँ।

ऐसा अर्हत् गीतार्थ अथवा वृद्ध वल्कलचीरी ऋषि बोले—

A wanton being who behaves like an intoxicated elephant will shed such vicious trends to attain liberation at the end. I uphold this theme endorsed, in the past, by beings of all categories. I propound vehemently that the entire universe revolves around this ethical doctrine.

So pronounced Valkalchiri, the aged sire GITARTH—

ण णारीगणपसत्ते, अप्पणो य अबंधवे!।
पुरिसा! जत्तो वि वच्चह, तत्तो वि जुधिरे जणे ॥१॥

१. हे पुरुष! स्त्रीवृन्द के प्रति अत्यासक्ति को धारण करके अपना ही शत्रु मत बन। तुझ से जितना भी सम्भव हो उतना ही तू इससे युद्ध कर।

1. Thou O Man, free thyself of lecherous attraction to females. It is suicidal indeed. Tirelessly combat such a libido.

णिरंकुसे व मातंगे, छिण्णरस्सी हए वि वा।
णाणप्पग्गहपभट्ठे, विविधं पवते णरे ॥२॥

२. अंकुश रहित हाथी और लगाम रहित घोड़ा स्वच्छन्द हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप अंकुश से रहित मनुष्य स्वच्छन्दाचरण करता है।

2. Like a riderless elephant and reinless steed, man indulges in wantonness without the discipline of knowledge.

णावा अकण्णधारा व, सागरे वायुणेरिता ।
चंचला धावते णावा, सभावाओ अकोविता ॥३॥

३. नाविक रहित नौका वायु से प्रेरित होकर समुद्र में चपलता से दौड़ती है अर्थात् दिशाज्ञानरहित भटकती रहती है, उसी नौका के समान अज्ञानी मनुष्य भी स्वभाव से संसार-समुद्र में भटकते रहते हैं।

3. As does a rudderless boat, a myopic individual keeps wandering this ocean-like world.

मुक्कं पुप्फं व आगासे, णिराधारे तु से णरे ।
दढसुम्बणिबद्धे तु, विहरे बलवं विहिं ॥४॥

४. निराधार आकाश में छोड़े हुए पुष्प के समान, दृढ़ रस्सी से बद्ध उस मानव के लिए विधि (भाग्य) ही बलवान है।

4. Providence alone can save such a hopeless being who resembles a flower tightly bound and then floated in the windy sky.

सुत्तमेत्तगतिं चेव, गंतुकामे वि से जहा ।
एवं लद्धा वि सम्मग्गं, सभावाओ अकोविते ॥५॥

५. जिस प्रकार गमन करने की इच्छा होने पर भी वह सूत्र (रस्सी) से बद्ध होने के कारण गमन नहीं कर सकता, उसी प्रकार स्वभाव से अज्ञानी पुरुष सम्यक् मार्ग प्राप्त करके भी (कर्म रस्सी से जकड़ा होने के कारण) लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

5. The tie keeps the flower bound. Similarly an indiscreet being can hardly move towards the attainment of his target notwithstanding the urge to do so.

जं तु परं णावएहिं, अंबरे वा विहंगमे ।
दढसुत्तणिबद्धे त्ति, विहरे बलव विहिं ॥६॥

६. जब दूसरे को आकाश में नवीन (स्वतन्त्र) देखता है और पक्षी को स्वतन्त्र उड़ते भरते देखता है, तब स्वयं को दृढ़ रस्सी से आबद्ध देखता है। ऐसे मानव के लिये विधि ही बलवान है।

6. His tethered state arouses despair in him while he witnesses freely soaring birds in the sky. Such is the destiny of these wretched beings.

णाणप्पग्गहसंबन्धे, धितिमं पणिहितिन्दिए।
सुत्तमेत्तगती चेव, तधा साधू णिरंगणे ॥७॥

७. धैर्यशील, दमितेन्द्रिय और निर्लेप साधु सूत्र-मात्र-गति का अवलंबन लेकर अर्थात् उसी रस्सी को अनेक प्रकार से अंकुश (लगाम, नाथ) के रूप में प्रयोग करे।

7. An ascetic aspirant should wisely manipulate these very binding chords to restrain his urges.

सच्छंदगतिपयारा, जीवा संसारसागरे।
कम्मसंताणसंबद्धा, हिंडंति विविहं भवं ॥८॥

८. कर्म-परम्परा से सम्बद्ध जीव स्वच्छन्द गति से संचरण करते हुए संसार-समुद्र में विविध भवों के द्वारा भटकते रहते हैं।

8. Individuals riveted to Karmic smear keep reaming endlessly like flotsam and jetsam.

इत्थीऽणुगिद्धे वसए, अप्पणो य अबंधवे।
जत्तो वि वज्जती पुरिसे, तत्तो वि जुधिरे जणे।
मन्नती मुक्कमप्पाणं, पडिबद्धे पलायते ॥९॥

९. हे पुरुष/स्त्रीवृन्द के प्रति अत्यन्त आसक्ति को धारण करके तू अपना ही शत्रु मत बन। तू जितना ही इसका त्याग करेगा उतना ही तू उपशान्त बनेगा। जो अपने आपको मुक्त मान लेता है वह प्रतिबद्ध होकर पलायन करता है।

9. It is fatal to abandon oneself to lascivious urges. A curb on these would win transcendental place within. An imagined liberation is another name for severes bondage.

वियत्ते भगवं व क्क ल ची रि उग्गतवे त्ति।

उग्र तपश्चर्या के द्वारा गीतार्थ वल्कलचीरी कर्मरहित हुए।

Gitartha Valkalchiri attained emancipation by the dint of austerities and penitence.

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी।

[इइ] छट्ठं वक्कलचीरिनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और वह भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है। ऐसा मैं (गीतार्थ वल्कलचीरी) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, (Valkalchiri, the seer) do pronounce.

वल्कलचीरी नामक छठा अध्ययन पूर्ण हुआ।

७. सत्तमं कुम्मापुत्तज्झयणं

सव्वं दुक्खावहं दुक्खं, दुक्खं सऊसुयत्तणं। दुक्खी व दुक्करचरियं चरित्ता सव्व-दुक्खं खवेति तवसा। तम्हा अदीणमाणसो दुक्खी सव्व-दुक्खं, तितिक्खेज्जासि त्ति कु म्मा पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइयं।

समस्त दु:ख दु:खदायी हैं। उत्सुकता/इच्छा, अभिलाषा दु:ख है और इसको धारण करने वाला दु:खी ही है। दु:खी दुष्कर चारित्र और तपश्चर्या का आचरण कर समस्त दु:खों का क्षय कर सकता है। अत: दु:खी व्यक्ति अदीनमन होकर समस्त दु:खों को सहन करे।

ऐसा अर्हत कूर्मापुत्र ऋषि बोले।

All anguish is painful. Impatience, inquisitiveness, desire are wose. One suffering from these drives is unhappy. He ultimately discards all woes by means of embracing asceticism and austerities. Let one puritanically stand all woes falling to his lot.

So spoke Kurmaputra, the enlightened seer.

जणवादो ण ताएज्जा, अच्छिन्नं तवसंजमे।
समाधिं च विराहेति, जे रिट्ठचरियं चरे ॥१॥

१. जनवाद—लोकनिन्दा तप और संयम के अस्तित्व का रक्षण नहीं कर सकती। जो दुरिताचरण करते हैं वे समाधि का नाश करते हैं।

1. Indulging in gossip and character assassination is antipathetic to asceticism and spiritual practices. Such wanton beings ruin their spiritual attainment.

आलस्सेणावि जे केइ, उस्सुअत्तं ण गच्छति।
तेणावि से सुही होइ, किं तु सद्धी परक्कमे ॥२॥

२. जो कोई प्रमादवश भी उत्सुकता/इच्छा की ओर गमन नहीं करता है उससे भी वह सुखी होता है, किन्तु श्रद्धाशील अथवा धैर्यशील प्रमादाचरण न करे, श्रेष्ठ पुरुषार्थ करे।

2. One escaping urge and inquisitiveness, spontaneously, owing to spiritual indolence also earns happiness. But one who consciously and deservedly earns it does truly so,

आलस्सं तु परिण्णाए, जाती-मरण-बंधणं ।
उत्तिमट्ठवरग्गाही, वीरियातो परिव्वए ।।३।।

३. जन्म-मरण के बन्धन के रूप में प्रमाद परिज्ञात (विख्यात) है। अतः मुमुक्षु सर्वोत्तम परमार्थतत्त्व अथवा संयम को ग्रहण करे और आत्मबल को पूर्णरूप से जागृत (प्रकट) करे।

3. Spiritual indolence ganerates reincarnation. That enjoins upon the aspirant to doggedly practice spiritualism and asceticism to realise his true potential.

कामं अकामकारी, अत्तत्ताए परिव्वए ।
सावज्जं णिरवज्जेणं, परिण्णाए परिव्वएज्जासि त्ति ।।४।।

४. काम को अकाम बनाकर अर्थात् वासनाओं पर विजय प्राप्त कर आत्मा का रक्षण करता हुआ विचरण करे। निरवद्य के माध्यम से ज्ञान पूर्वक सावद्य का प्रत्याख्यान करता हुआ विचरण करे।

4. Let one smother all urges and desires to lend strength to human soul. The sinful urges be so manipulated that all end in the practice of totally sinfree state.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

सत्तमं कुम्मापुत्तनामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण-त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् कूर्मापुत्र ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Kurmaputra, the seer, do pronounce.

कूर्मापुत्र नामक सातवाँ अध्ययन पूर्ण हुआ।

—•—

८. अट्ठमं केतलिज्झयणं

आरं दुगुणेणं, पारं एकगुणेणं । केतलिपुत्तेण इसिणा बुइतं ।

इस लोक में (आत्मा) दो गुण (ज्ञान-चारित्र) से युक्त रहता है और परलोक (सिद्धिस्थान) में एक गुण (ज्ञान) से युक्त होता है। अथवा इस लोक में आत्मा द्विगुणित (राग-द्वेष) पाश से बद्ध होता है और परलोक में एक गुण (ज्ञान) से बद्ध होता है।

ऐसा केतलिपुत्र ऋषि बोले।

In this world the soul is endowed with two qualities-knowledge and virtuousness while hereafter there is only one quality, that of knowledge. From another angle of vision the soul is bound by the twin chords of attachment-aversion while in this world, but hereafter it is sheer knowledge that characterises it.

This is the thesis of Kaitaliputra, the seer.

इय उत्तमगंथछेयए, रहसमिया लुप्पंति व अच्छती ।
समियं वोच्छिद पावयं, कोसारकीडे व जहाइ बंधणं ॥१॥

१. जिस प्रकार रथ की धुरी में से कील के लुप्त हो जाने पर रथ भग्न हो जाता है, जिस प्रकार कौशकीट (रेशम का कीड़ा) अपने तन्तुबन्धनों का त्याग कर मुक्त हो जाता है उसी प्रकार उत्तम संयम (त्याग) के द्वारा ग्रन्थ—मिथ्यात्वादि आभ्यन्तर परिग्रहों का नाश करने वाला मुमुक्षु मुनि राग-द्वेष से रहित होकर पाप का छेदन करता है और बन्धन (राग-द्वेषादि कर्मबन्धन) का त्याग करता है अथवा उत्तम ग्रन्थों का ज्ञाता रथ की शम्या (रथ चक्र की बनी रेखा) की भांति पाप कर्मों को लुप्त कर लोक बन्धन से मुक्त हो जाता है।

1. As a chariot wheel casts its rivets prior to its collapse and the silk-worm mottle its fibrous cocoon, so does a truly non-acquisitive aspirant by discarding the inner involuted bonds of vicious attachment-aversion.

तम्हा एयं वियाणिय गंथजालं दुक्खं दुहावहं छिंदिय ठाइ संजमे । से हु मुणी दुक्खा विमुच्चइ ।

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

केतलिनामज्झयणं अट्ठमं ।

अतः जो इस ग्रन्थ-जाल (मिथ्यात्वादि आभ्यन्तर परिग्रहों के समूह लोक-बन्धन) को दु:ख का हेतु और दु:खप्रद जानकर, उसका छेदन करता है और संयम में स्थिर होता है, वह मुनि दु:खों से विमुक्त हो जाता है ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (केतलिपुत्र ऋषि) कहता हूँ ।

The mendicant who discovers the binding woeful nature of all bondages and acquisition, rightly demolishes these to win tranquillity and lasting wisdom and thus abadons all woe.

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Kaitaliputra, the seer, do pronounce.

केतलि नामक आठवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।

९. नवमं महाकासवज्झयणं

जाव जाव जम्मं ताव ताव कम्मं । कम्मुणा खलु भो पया सिया, समियं उवनिचिज्जइ अविचिज्जइ य । महइ–म हा का स वे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

जब-जब तक जन्म है तब-तब तक कर्म है । भो मुमुक्षु ! निश्चय ही कर्म से प्रजा/भव-परम्परा उत्पन्न होती है । सम्यक् प्रवृत्ति से इन कर्मो का ह्रास और नाश (क्षय) होता है ।

ऐसा अर्हत्, श्रेष्ठ महाकाश्यप ऋषि बोले—

So long as there is life, there is Karmas. Be aware O aspirtant, of Karmas, that generate existence. These Karmas gradually decline and evaporate by means of equanimitous character.

So said, Mahakashyap seer, the great :

कम्मुणा खलु भो अप्पहीणेणं पुणरवि आगच्छइ हत्थच्छेयणाणि पायच्छेयणाणि एवं कण्ण नक्क उट्ठ जिब्भ सीसदंडणाणि, उदिण्णेण जीवो कोट्टणाणि पिट्टणाणि तज्जणाणि तालणाणि, वहणाइं बंधणाइं परिकिलेसणाइं, अंदुबंधणाइं नियलबंधणाणि जावजीवबंधणाणि नियलजुयलसंकोडणमोडणाइं हिययुप्पाडणाइं दसणुप्पाडणाइं उल्लम्बणाइं ओलम्बणाइं घंसणाइं घोलणाइं पीलणाइं सीहपुच्छणाइं कडग्गिदाहणाइं भत्तपाणनिरोहणाइं, दोगच्चाइं दोभत्ताइं दोमणस्साइं भाउमरणाइं भइणिमरणाइं पुत्तमरणाइं धूयमरणाइं भज्जमरणाइं अण्णाणि य सयण-मित्तबंधुवग्गमरणाइं तेसिं च णं दोगच्चाइं दोभत्ताइं दोमणस्साइं अप्पियसंवासाइं पियविप्पओगाइं हीलणाइं खिसणाइं गरहणाइं पव्वहणाइं परिभवणाइं आगड्ढणाइं अण्णयराइं च दुक्ख-दोमणस्साइं पच्चणुभवमाणे अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारसागरं अणुपरियट्टति । कम्मुणा पहीणेणं खलु भो जीवो नो आगच्छिहिति हत्थच्छेयणाणि ताइं चेव भाणियव्वाइं जाव संसारकंतारं वीईवइत्ता सिवमयलमरुयमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तं सासयं ठाणमब्भुवगए चिट्ठति ।

भो मुमुक्षु ! निश्चयपूर्वक आत्मा कर्म-रहित न होने पर संसार में पुनः-पुनः आता है। (संसार में रहते हुए कहीं इसके) हाथ का छेदन होता है। कहीं पैर काटे जाते हैं। इसी प्रकार कहीं कान, नाक, होठ, जीभ का छेदन होता है। शिर दण्डित किया जाता है, मुंडित किया जाता हैं। उद्विग्न जीव का मर्दन किया जाता है, पीटा जाता है, तर्जित किया जाता है, प्रताड़ित किया जाता है, वध किया जाता है, बन्धनों से जकड़ा जाता है, बन्धनों से अत्यन्त दुःखी किया जाता है, जंजीर से बांधा जाता है, गाढबन्धनों से बान्धा जाता है, जीवन-पर्यन्त बांध कर रखा जाता है, शृंखला से बांधकर एक साथ कसे जाते हैं और मरोड़े जाते हैं, हृदय उखाड़ा जाता है, दांत उखाड़े जाते हैं, फांसी लगाकर लटकाया जाता है, नीचा लटकाया जाता है, घसीटा जाता है, रगड़ा जाता है, पीला (दबाया) जाता है, पीठ की चमड़ी उतारी जाती है अथवा पुरुष चिह्न को नष्ट किया जाता है, कटाग्नि दाह में जलाया जाता है, भोजन-पानी रोका जाता है, दारिद्र्य से पीड़ित है, भोजन के अभाव से दुःखी है, शोकग्रस्त है। भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री, पत्नी की मृत्यु तथा स्वजन, मित्र, और परिजनों के मरण से, उनकी दरिद्रता से और भोजनाभाव से शोकग्रस्त है। अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग, अपमान, अवर्णवाद/निन्दा, घृणा, अत्यधिक व्यथा, पराजय तथा और भी अनेक दुःसह्य दुःख एवं दुःश्चिन्ताओं का अनुभव करता हुआ एकाकी आत्मा अनादि, अपरिमित, लम्बे रास्ते वाले चतुर्गतिरूप संसार समुद्र में परिभ्रमण करता है। भो मुमुक्षु ! कर्म से रहित होने पर यह जीव निश्चयतः पुनः नहीं आता है और हस्तच्छेदनादि से लेकर दुःसह्य दुःख एवं दुश्चिन्ता पर्यन्त के समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है तथा वह संसार रूप बीहड़ वन को पार कर, शिवरूप, अचल–स्थिर, अरुज-रोगरहित, अक्षय, अव्याबाध, पुनरागमन-रहित शाश्वत स्थान को प्राप्त कर स्थिति करता है।

A partial dissolution of Karmas is sure to generate reincarnation. The individual has to suffer amputation or incarceration of extremities, ear-lobes, nose, lips and tongue. The skull is beaten or tonsured, the woe-begone individual variously pierced, hit, tortured, marauded, tethered like a cattle, chained and fettered all his life, bound and twisted, his heart is punctured denture is knocked out, he is hanged, sometimes hung low, dragged, bruised and sandwiched, skinned from the back, flogged, castrated, brandished, starved mealless and waterless. He is often penurious, hungry and bereft of brother, sister, son, daughter, consort and kins or anguished due to his poverty and other misfortunes. He suffers a juxtaposition with the enemy, bereavement of the friend, humiliation, infamy, hatred, anguish, defeat and intolerable woe and thus does he traverse along the interminable desolate course of four-fold destinies in the mundane existence. Know it for certain, O aspirant, that there is no further unfortunate reversion to mundane existence, once the Karmic fall-

out is fully disposed of. No more incarcerations, woes and anguishes thenceforth. No more reincarnation thereafter. He attains the ultimate and stays ever in bliss and transcendental tranquillity, freed of all possibilities of recurrence of life and death.

कम्ममूलमनिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं ।
कम्ममूलाइं दुक्खाइं, कम्ममूलं च जम्मणं ॥१॥

१. संसार के समस्त देहधारियों के भव-भ्रमण का मूल कर्म है। दुःखों का मूल कर्म है और जन्म का मूल भी कर्म है।

1. Karmas generate reincarnation for all living beings. These Karmas cause woe and draw one to mundane existence.

संसारसंतईमूलं, पुण्णं पावं पुरेकडं ।
पुण्णपावनिरोहाय, सम्मं संपरिव्वए ॥२॥

२. पूर्व में आचरित पुण्य और पाप ही संसार-परम्परा के मूल हैं। पुण्य और पाप का निरोध करने के लिये मुमुक्षु सम्यक् प्रकार से संयम ग्रहण करे।

2. The moral desert emanating from past deeds lands us into our mundane state. The aspirant should smother all Karmic accumulation of good and evil deeds by an ascetic feat.

पुण्णपावस्स आयाणे, परिभोगे यावि देहिणं ।
संतईभोगपाओग्गं, पुण्णं पावं सयं कडं ॥३॥

३. स्वकृत पुण्य और पाप के फलस्वरूप ही देहधारी प्राणी को पुण्य-पाप के ग्रहण और परिभोग में भोगने योग्य वस्तुओं की परम्परा प्राप्त होती है।

3. Mundane rewards and punishments are a direct consequence of good and evil deeds.

संवरो निज्जरा चेव, पुण्णपावविणासणं ।
संवरं निज्जरं चेव, सव्वहा सम्ममायरे ॥४॥

४. संवर और निर्जरा पुण्य और पाप के विनाशक हैं। अतः (मुमुक्षु) संवर और निर्जरा का पूर्णरूपेण सम्यक् प्रकार से आचरण करे।

4. Let the aspirant practice desirelessness and piety to exhaust all good and evil accumulation of deeds and resolutely choke further generation of Karmas.

मिच्छत्तं अनियत्ती य, पमाश्रो यावि णेगहा ।
कसाया चेव जोगा य, कम्मादाणस्स कारणं ॥५॥

५. मिथ्यात्व, अनिवृत्ति (अविरति), अनेक (पांच) प्रकार का प्रमाद, कषाय और योग कर्मादान–कर्मग्रहण करने के कारण हैं ।

5. Falsity, non-purgation of urges, fivefold lethargy, non-spiritual accumulation and attachment generate Karmas and their accumulation.

जहा अंडे जहा बीए, तहा कम्मं सरीरिणं ।
संताणे चेव भोगे य, णाणावण्णत्तमच्छइ ॥६॥

६. जैसा अण्डा होगा, जैसा बीज होगा (वैसा ही पक्षी और धान्य होगा ।) इसी प्रकार जैसे कर्म होंगे वैसे ही देहधारियों को सन्तान और भोग प्राप्त होंगे । कर्म के ही कारण इनमें विविधता प्राप्त होती दिखाई देती है ।

6. As the ovum and seed so the outcome. As the actions so the progeny of individuals. It is actions or Karmas that evince such a numberless variety of destiny.

निव्वत्ती वीरियं चेव, संकप्पे य अणेगहा ।
णाणावण्णवियक्कस्स, दारमेयं हि कम्मुणो ॥७॥

७. निष्पत्ति (भव/रचना), पुरुषार्थ, अनेक प्रकार के संकल्प और विविध प्रकार के वितर्क ही कर्म के द्वार हैं ।

7. Manifestation, enterprise, manifold resolutions and ideations generate Karmas.

एस एव विवण्णासो, संवुडो संवुडो पुणो ।
कमसो संवरो नेश्रो, देससव्वविकप्पिश्रो ॥८॥

८. पूर्वोक्त कर्म-द्वार ही आत्मा के विपर्यास (वैभाविक) रूप हैं । अतः इन कर्म-द्वारों का पुनः-पुनः निरोध करता हुआ आत्मा को पाप से संवृत करे तथा क्रमशः देश संवर और सर्व संवर की ओर बढ़ता जावे ।

8. These seeds of Karmas present the soul in its adventitious from. Hence it is enjoined upon each of us to smother these Karma generators then and there to protect the soul from sin and proced towards Karma annihilation, complete or incomplete.

सोपायाणा निरादाणा, विपाकेयरसंजुया ।
उवक्कमेण तवसा, निज्जरा जायए सया ।।६।।

६. सोपादान, (ग्रहणरूप सकाम), निरादान (अग्रहणरूप अकाम) विपाकोदय (सविपाका), प्रदेशोदय आदि और उपक्रम (अनुदित कर्मों को उदय में लाना) सहित तप से कर्मो की निरन्तर निर्जरा होती है ।

9. Dissolving the selfish and selfless Karmas and turning the latent ones into patent form will result in liberation from accumulated Karmas by means of penances.

संततं बंधए कम्मं, निज्जरेइ य संततं ।
संसारगोयरो जीवो, विसेसो उ तवो मश्रो ।।१०।।

१०. संसार में भ्रमण करने वाली आत्मा निरन्तर कर्म बांधती है और निरन्तर उन कर्मों की निर्जरा भी करती है । किन्तु, तप से होने वाली निर्जरा ही विशिष्ट निर्जरा है ।

10. The soul incessantly creates and simultaneously destroys Karmas during its mundane course. However, dissolution of Karmas is best achieved as a result of penances.

अंकुरा खंधखंधीयो, जहा भवइ वीरुहो ।
कम्मं तहा तु जीवाणं, सारासारतरं ठितं ।।११।।

११. जैसे अंकुर से स्कन्ध बनता है, स्कन्ध से शाखायें विकसित होती हैं और शाखाओं से वृक्ष बनता है । इसी प्रकार आत्मा भी शुभाशुभ कर्मो से स्थिति करती है । अर्थात् आत्मा के शुभाशुभ कर्म भी इसी प्रकार विकसित/वर्द्धित होते हैं ।

11. Seedling causes trunk, which, in turn, gives rise to prolifera-ting branches. Similar is the procese of generation of good and evil Karmas by soul.

उवक्कमो य उक्केरो, संछोभो खवणं तथा ।
बद्धपुट्ठनिधत्ताणं, वेयणा तु णिकायिते ।।१२।।

१२. बद्ध, स्पृष्ट और निधत्त कर्मों में उपक्रम, उत्कर, संक्षोभ और क्षय हो सकता है, किन्तु निकाचित कर्म का वेदन/अनुभव करना ही पड़ता है।

12. *Latent, accumulated and deferred Karmas may stay unmanifested and may be weakened or written off but the patent ones are bound to cause suffering and can never be evaded.*

उक्कड्ढंतं जधा तोयं, सारिज्जंतं जधा जलं ।
संखविज्जा णिदाणे वा, पावं कम्मं उदीरती ।।१३।।

१३. जैसे उत्कृष्यमाण (अंजली में भरा हुआ जल) और एक स्थान से दूसरे स्थान पर निःसार्यमाण जल धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार बद्ध-स्पृष्ट और निधत्त कर्म शनैः-शनैः क्षय हो जाते हैं, किन्तु निदानकृत कर्म अवश्य उदीरित होते हैं, अर्थात् उदय में आते हैं।

13. As the water carried in cupped palm gradually trickles down to its exhaustion in transit so the patent Karmas emerge forth.

अप्पा ठिती सरीराणं, बहुं पावं च दुक्कडं ।
पुव्वं बज्झिज्जते पावं, तेण दुक्खं तवो मयं ।।१४।।

१४. देहधारियों की स्थिति अल्प है और उनके दुष्कृत पापकर्म अत्यधिक हैं। पाप कर्म पहले भी बांधे जाते हैं अतः उनके क्षय के लिये दुष्कर तपमय निर्जरा आवश्यक है।

14. Existence of living beings is short-lived while their accumulation of vile Karmas is immense. *That warrants severe austerities on their* part to exhaust such Karmas and stop further ingress.

खिज्जंते पावकम्माणि, जुत्तजोगस्स धीमतो ।
देसकम्मक्खयब्भूता, जायन्ते रिद्धियो बहू ।।१५।।

१५. समाधियुक्त (योगी) बुद्धिमान पापकर्मों का क्षय करता है। आंशिक रूप से कर्मक्षय होने पर अनेक प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त होती हैं।

15. *A wise and meditative ascetic seeks to destroy Karmas. Even a partial success in that direction confers immense spiritual powers on such a being.*

विज्जोसहिणिवाणेसु, वत्थु-सिक्खागतीसु य।
तवसंजमपयुत्ते य, विमद्दे होति पच्चग्रो ॥१६॥

१६. तप और संयम में लीन आत्मा कर्मों का विमर्दन—नाश कर विद्यौषधि लब्धि को प्राप्त करता है और वास्तु, शिक्षा एवं गति अर्थात् दृष्टिवाद का ज्ञान प्रत्यक्ष कर लेता है।

16. A soul, austere and ascetic, witnesses a decline of Karmic accumulation and attains enlightenment to command a clairvoyant eye that can unravel mysteries of existence.

दुक्खं खवेति जुत्तप्पा, पावं मीसे वि बंधणे।
जधा मीसे वि गाहम्मि, विसपुप्फाण छड्डणं ॥१७॥

१७. जिस प्रकार मिश्रित फूलों में से विवेकशील मनुष्य विष फूलों को छोड़कर अच्छे फूलों को ग्रहण करता है। उसी प्रकार विवेकशील आत्मा इन मिश्रित लब्धियों में से पाप और बन्धनकारी लब्धियों का त्याग कर, प्रशस्त लब्धियों को ग्रहण कर दुःख का क्षय करता है।

17. As a wise being culls fragrant flowers eliminating the pernicious ones, so an accomplished soul embraces benefic deeds and steers clear off the malefic ones.

सम्मत्तं च दयं चेव, सम्ममासज्ज दुल्लहं।
ण प्पमाएज्ज मेधावी, मम्मगाहं जहारिग्रो ॥१८॥

१८. मेधावी आत्मज्ञ दुर्लभ सम्यक्त्व (सम्यक् दर्शन-ज्ञान) को पाकर उसका सम्यक् प्रकार से रक्षण करे। उसके रक्षण में तनिक भी प्रमाद न करे। जैसे शत्रु के मर्म को प्राप्त कर उसका शत्रु प्रमाद नहीं करता है।

18. A wise knower of self *should* keep a constant vigil over a true perspective and assiduously protect itself from lethargy just as one keeps a wakeful eye on an enemy.

णेहवत्तिक्खए दीवो, जहा चयति संततिं।
आयाणबंधरोहम्मि, तहऽप्पा भवसंतइं ॥१९॥

१९. जिस प्रकार तैल और वत्ती के क्षय होने पर दीपक दीपकलिका (लौ) रूप सन्तति का क्षय करता है उसी प्रकार आत्मा आदान/ग्रहण और वन्ध का अवरोध करने पर भव-परम्परा का क्षय करता है।

19. As a lamp witnesses the expiry of flame and its wick and oil exhaust, so the soul witnesses the happy outcome by refusing to further acquire and bind itself with Karmas any more.

दोसादाणे णिरुद्धम्मि, सम्मं सत्थाणुसारिणा ।
पुव्वाउत्ते य विज्जाए, खयं वाही णियच्छती ॥२०॥

२०. सम्यक् ज्ञान पूर्वक शास्त्रानुसार आचरण कर, दोषों–पापों के आगमन को रोककर और पूर्वार्जित विद्या (मिथ्याज्ञान) को नियन्त्रित कर कर्म-व्याधि का क्षय करता है ।

20. The Karmic calamity can be warded off by prohibiting all sinful deeds and gradual exhaustion of accumulated Karmas.

मज्जं दोसा विसं वण्ही, गहावेसो अणं अरी ।
धणं धम्मं च जीवाणं, विण्णेयं धुवमेव तं ॥२१॥

२१. मदिरा, विष, अग्नि, मोह रूपी ग्रहावेश, ऋण, (काम, दुर्गुण, क्रोधादि) शत्रु ही आत्मा के दोष हैं । धर्म ही इसकी आत्मा का शाश्वत धन है । ऐसा जानना चाहिये ।

21. Be it known that liquor, vices, drugs, fire, mansions, deliberate illusion, debt, libido and anger etc are the bane of soul. Virtue (Dharma) is the unexhausting asset of soul.

कम्मायाणेऽवरुद्धम्मि, सम्मं मग्गाणुसारिणा ।
पुव्वाउत्ते य णिज्जिण्णे, खयं दुक्खं णियच्छती ॥२२॥

२२. कर्म के आगमन को रोककर, प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करने वाला पूर्वार्जित कर्मों की निर्जरा कर, निश्चय पूर्वक दुःखों का क्षय कर देता है ।

22. Preventing further accumulation of Karmas and purging the past ones by means of a noble conduct is the sure means of diminishing woe.

पुरिसो रहमारूढो, जोग्गाए सत्तसंजुतो ।
विपक्खं णिहणं गेइ, सम्मद्दिट्ठी तहा अणं ॥२३॥

२३. विपक्षी को हनन करने योग्य सत्त्व सामर्थ्य से सम्पन्न पुरुष रथारूढ़ होकर विपक्ष (शत्रु) को समाप्त कर देता है। इसी प्रकार सम्यक् दृष्टि आत्मा अनन्तानुबन्धी क्रोधादि अंतरंग शत्रुओं का नाश कर देता है।

23. A potent warrior girds up his loins to reduce his adversary to bits. So the accomplished soul treats his latent foes like anger etc.

वह्निमारुयसंयोगा, जहा हेमं विसुज्झती ।
सम्मत्तनाणसंजुत्ते, तहा पावं विसुज्झती ।।२४।।

२४. जैसे अग्नि और पवन के संयोग से स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है वैसे ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से युक्त होने पर आत्मा पाप से विशुद्ध हो जाता है।

24. As burnishing in fire and exposure to air purifies gold, so correct and scripture-endorsed perspective and knowledge nullify the inherent foes like anger by smothering Karmas.

जहा आतवसंतत्तं, वत्थं सुज्झइ वारिणा ।
सम्मत्तसंजुतो अप्पा, तहा झाणेण सुज्झती ।।२५।।

२५. जैसे धूप से आतप्त (प्रस्वेदादि से मलिन) वस्त्र जल के द्वारा शुद्ध होता है वैसे ही सम्यक्त्ववासित आत्मा ध्यान रूपी जल से शुद्ध होता है।

25. As clothes soiled by perspiration in scorching sun are cleansed by water, so a soul deficient in equanimity, in due course, gets purged by means of meditation.

कंचणस्स जहा धाऊ, जोगेणं मुच्चए मलं ।
अणाईए वि संताणे, तवाओ कम्मसंकरं ।।२६।।

२६. जैसे गेरुक आदि पदार्थों के संयोग से स्वर्ण का मालिन्य नष्ट हो जाता है वैसे ही तप के माध्यम से अनादिकाल से संलग्न मिश्रित कर्मों की परम्परा भी नष्ट हो जाती है।

26. As gold is brightened by the action of detergent minerals, so human soul is purged of its timeless Karmic conglomerate by means of austerity and penances,

वत्थादिएसु सुज्झेसु, संताणे गहणे तहा ।
दिट्ठंतं देसधम्मित्तं, सम्ममेयं विभावए ॥२७॥

२७. वस्त्रादि के शोधन में और कर्म-परम्परा में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव अर्थात् रूपक दृष्टान्त एकदेशीय होते हैं । अतः इसे सम्यक् ज्ञान और विवेकपूर्वक है । ग्रहण करना चाहिये ।

27. The parallels of bleaching of clothes etc. given above are mere figurative illustrations to be comprehended in their proper perspective.

आवज्जती समुग्घातो, जोगाणं च णिरुम्भणं ।
अनियट्टी एव सेलेसी, सिद्धी कम्मक्खओ तहा ॥२८॥

२८. आवर्जन, समुद्घात, योगनिरोध, अनिवृत्ति और शैलेशीकरण के द्वारा आत्मा कर्मों का क्षय करता है तथा सिद्धि—निर्वाण को प्राप्त करता है ।

28 The soul negates Karmas by forestalling and countering these proclivities and suppression of concomitants and thus wins the ultimate.

णावा व वारिमज्झंमि, खीणलेवो अणाउलो ।
रोगी वा रोगणिम्मुको, सिद्धो भवति णीरओ ॥२९॥

२९. जलधारा के मध्य में रही हुई नौका के समान कर्मलेप से रहित आत्मा अनाकुल होती है । जैसे रोगी रोगरहित होकर प्रसन्न होता है वैसे ही कर्म-रज से मुक्त होने पर आत्मा सिद्ध होती है ।

29. Like a boat buoyed on a tranquil stream, the soul free of Karmic smear stays unperturbed. As a patient is cheered after convalescence so does the self on its accomplishment of Karmic annihilation.

पुव्वजोगा असंगत्ता, काऊ वाया मणो इ वा ।
एगतो आगती चेव, कम्माभावा ण विज्जती ॥३०॥

३०. पूर्व संसारावस्था के समस्त योगों से तथा देह, वाणी और मन से मुक्त हो जाता है, असाधारण हो जाता है और कर्मों का अभाव हो जाने से उस आत्मा का संसार में पुनरागमन नहीं होता है ।

30. Such a soul retains no remnants of its pre-liberation mundane association and reigns supreme in body, word and mind. It reveals its

supremacy and in the absence of Karmas is no more susceptible to reincarnation.

परं णवग्गहाभावा, सुही आवरणक्खया ।
अत्थि लक्खणसब्भावा, निच्चो सो परमो धुवं ।।३१।।

३१. सिद्धिस्थान प्राप्त होने पर वह अवगाहनभाव (ऊर्ध्वगति) से रहित हो जाता है । कर्म के समस्त आवरणों का क्षय हो जाने से वह सुख-सम्पन्न (परम-सुखी) हो जाता है । वह अस्ति लक्षण से सद्भावशील है, नित्य है और शाश्वत है ।

31. Having achieved the ultimate, it is no more subject to any further migration above. Having discarded all shells of Karmas, it attains an ecstatic state. Soul is the noumenon, timeless and eternal.

दव्वतो खित्ततो चेव, कालतो भावतो तहा ।
णिच्चाणिच्चं तु विण्णेयं, संसारे सव्वदेहिणं ।।३२ ।।

३२. संसार की समस्त देहधारी आत्माओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नित्य और अनित्य जानना चाहिए ।

32. All the embodied souls are time-bound or transcendental depending on each one's mettle, temporal and spatial station and mentality.

गंभीरं सव्वओभद्दं, सव्वभावविभावणं ।
धण्णा जिणाहितं मग्गं, सम्मं वेदेंति भावओ ।।३३।।

३३. गम्भीर, सर्वतोभद्र—पूर्णतः कल्याणकारी, समस्त भावों के प्रकाशक, जिनेन्द्र प्ररूपित मार्ग को जो सम्यक् प्रकार से श्रद्धा-भावनापूर्वक पहिचानते है अथवा आचरण करते हैं वे (आत्माएं) धन्य हैं ।

33. Blessed are they who devoutly pattern their conduct in accordance with the path shown by Lord Jinendra, the propounder of all profound and pious modes.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

नवमं महाकासवज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् श्रेष्ठ **महाकाश्यप** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for the aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinece and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I Mahakashyap, the seer, do pronounces.

महाकाश्यप नामक नौवां अध्ययन पूर्ण हुआ।

१०. दसमं तेतलिपुत्तज्झयणं

को कं ठावेइ णण्णत्थ सगाइं कम्माइं इमाइं ? सद्धेयं खलु भो समणा वदन्ती, सद्धेयं खलु माहणा, अहमेगोऽसद्धेयं वदिस्सामि। ते त लि पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइयं।

मेरे इन स्वकीय कर्मों को कोई किसी अन्यत्र स्थान पर स्थापित नहीं कर सकता। कोई दूसरे का कर्म हटा नहीं सकता। भो मुमुक्षु ! श्रमण कहते हैं कि श्रद्धा करनी चाहिए। माहण (ब्राह्मण) कहते हैं कि श्रद्धा करनी चाहिये। मैं अकेला कहता हूँ कि श्रद्धा नहीं करनी चाहिये।

ऐसा अर्हत् तेतलिपुत्र ऋषि बोले—

Deeds performed by me can never be bracketed with another one's. None else's deeds can be alienated. Be it noted that Shramanas and Brahamins commend devoutness. It is I alone who discard devoutness.

Adds Taitaliputra, the enlightened :

सपरिजणं पि णाम ममं अपरिजणो त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ? सपुत्तं पि णाम ममं अपुत्ते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ? एवं समित्तं पि णाम ममं अमित्तं पि णाम ममं, सपरिग्गहं पि णाम ममं दाणमाण सक्कारोवयारसंगहिते तेतलिपुत्ते ससयणपरिजणे विरागं गते, को मे तं सद्दहिस्सति ? जाति-कुल-रूव-विणओवयार-सालिणी पोट्टिला मूसि-कारधूता मिच्छं विप्पडिवन्ना, को मे तं सद्दहिस्सति ? कालक्कमनीति-विसारदे तेतलिपुत्ते विसादं गते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण अमच्चेण गिहं पविसित्ता तालपुडके विसे खातिते त्ति से वि य से पडिहते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण अमच्चेणं महतिमहालयं रुक्खं दुरुहित्ता पासे छिण्णे, तहावि ण मए, को मे तं सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण महतिमहालयं पासाणं गीवाए बन्धित्ता अत्थाहाए पुक्खरिणीए अप्पा पक्खित्ते, तत्थ अवि य णं थाहे लद्धे, को मे तं सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण महतिमहालियं कट्ठरासीं पलीवेत्ता अप्पा पक्खित्ते, से वि य से अगणिकाए विज्झाए, को मे तं सद्दहिस्सति ?

परिवार सहित होने पर भी मैं परिवार रहित हूँ, ऐसा कहने पर मेरे वचनों पर कौन विश्वास करेगा ? पुत्र-सहित होने पर भी मैं पुत्र रहित हूँ, मेरे

इन वाक्यों पर कौन विश्वास करेगा ? इसी प्रकार मित्र सहित होने पर भी, धनवान होने पर भी, परिग्रह-सम्पन्न होने पर भी, दान-मान-सत्कार-उपचार से युक्त होने पर भी, वह तेतलिपुत्र मित्र, स्वजन और परिजनों आदि से विरक्त हो गया है, मेरे इन वाक्यों पर कौन श्रद्धा करेगा ? प्रशस्त जाति-कुल-रूप, विनय और उपकारादि गुणों से विभूषित, स्वर्णकार (सोनार) की पुत्री पोट्टिला असत्य के प्रभाव में आ गई, मेरे इन वाक्यों पर कौन विश्वास करेगा ? कालक्रम के विषय में नीतिविशारद तेतलिपुत्र विषाद को प्राप्त हुए, कौन मेरे कथन पर श्रद्धा करेगा ? अमात्य तेतलिपुत्र ने घर में प्रवेश कर, तालपुट नामक विष का भक्षण किया, पर वह विष निष्फल हो गया, मेरे इस कथन को कौन मानेगा ? अमात्य तेतलिपुत्र विशाल वृक्ष पर चढ़कर रस्सी से फंदा लगाता है, तथापि रस्सी टूट जाने से मरता नहीं है, मेरे इस कथन को कौन मानेगा ? तेतलिपुत्र बड़े भारी पाषण खण्ड को गले में बांधकर, अगाध जल वाली पुष्करिणी (बावड़ी) में स्वयं को गिराता है, तथापि उसे वहाँ आश्रय-स्थान मिलता है, अर्थात् ऐसी दशा में भी वह मरता नहीं है, मेरे इस कथन पर कौन विश्वास करेगा ? तेतलिपुत्र बड़े-बड़े काष्ठ-खण्डों को एकत्रित कर, आग लगाकर, उसमें कूद पड़ा, फिर भी वह अग्नि बुझ गई, मेरे इन वाक्यों पर कौन श्रद्धा करेगा ?

I, a householder, am still free of household. But shall one believe me of such a bewildering claim ? I have fathered sons and still I own none. Who shall rely on such a paradox ? Similarly I have friends. I own riches. I am acquisitive. I am honoured and extolled but I have disowned all. Shall one believe it ? Who shall accept my averment that Pottila, the goldsmith's aristrocratic daughter perjured ? Who will accept that Taitaliputra, the wise, was confounded ? Who will agree with Taitaliputra that he entered the house and survived the severest of poisons ? Then the minister Taitaliputra attempted to hang himself from a tree. But the rope broke into twain, to defeat the effort. Who shall accept it ? Who shall agree that he tied a heavy boulder round his neck and leapt into water to still survive unscathed ? Then Taitaliputra prepared a pyre of logs and set himself aflame for immolation, but the fire also did not oblige him. Who would accept such an improbability ?

तए णं सा पुट्टिला मूसियारधूता पंचवण्णाइं सखिंखिणिताइं पवर-वत्थाइं परिहित्ता अन्तलिक्खपडिवण्णा एवं वयासी : आउसो ! तेतलिपुत्ता ! एहि ता आयाणाहि : पुरओ विरियण्णे गिरिसिहरकंदर-प्पवाते, पिट्ठओ कम्पेमाणे व्व मेइणितलं, साकड्ढन्ते व्व पायवे, णिप्फोडेमाणे व्व अम्बरतलं, सव्वतमोरासि व्व पिण्डिते, पच्चक्खमिव

सयं कतन्ते भीमरवं करेन्ते महावारणे समुट्ठिए, उभओ पासं चक्खुणिवाए सुपयण्डधणुजन्तविप्पमुक्का पुङ्खमेत्तावसेसा धरणिप्पवेसिणो सरा णितन्ति, पहुयवहजालासहस्ससंकुलं समन्ततो पलित्तं धगधगेति सव्वारण्णं, अचिरेण य बालसूरगुंजद्धपुंजणिकरपकासं झियाइ इंगालभूतं गिहं आउसो ! तेतलिपुत्ता ! कत्तो वयामो ?"

तदनन्तर वह स्वर्णकार-पुत्री पोट्टिला छोटे-छोटे घुंघरूओं से युक्त पंचवर्णीय श्रप्ठ वस्त्रों को धारण कर, आकाश में खड़ी होकर इस प्रकार बोली—आयुष्मन् तेतलिपुत्र ! आओ और इसे समझो। तुम्हारे समक्ष गिरिशिखर-कन्दरा (गुफा) से विस्तीर्ण जल-प्रपात हो रहा है और तुम्हारे पीछे भूतल को कम्पायमान करता हुआ, वृक्षों को उखाड़ता हुआ, आकाश को भेदन करता हुआ, समस्त तमराशि से पिण्डीभूत अन्धकार के समान, प्रत्यक्ष में महाकाल-सा भयंकर गर्जारव करता हुआ महान् गजराज सामने खड़ा हुआ है। पलक मात्र में दोनों तरफ से प्रचण्ड धनुष से छूटे हुए, पुंख-मात्र दिखाई देने वाले, पृथ्वी में समा जाने वाले बाण गिर रहे हैं। हजारों लपटों से प्रज्वलित आग की ज्वालाओं से सारा जंगल धू-धू करता हुआ जल रहा है और शीघ्र ही उदीयमान सूर्य आरक्त गुंजा (चिरमी) के अर्द्धभाग की राशि की प्रभा के सदृश (आग की लपटों से) अंगार बना हुआ घर जल जावेगा। आयुष्मन् तेतलिपुत्र ! (ऐसा होने पर) कहा जावें ?

Subsequent to it, the goldsmith's daughter Pottila, ceremoniously garbed and wearing tiny jingling bells, declaimed unsupported from the sky above :

Thou live long Taitaliputra. Dost thou then see the torrential water-fall resounding in the massive gully ? At your back there moves the mammoth dark elephant trumpeting fiercely resounding the sky and thumping this terrain all aghast. It knocks down huge trees obstructing its path. Instantaneously fiery arrows seemed to be showered from terrific bows on both sides, making their way right into the entrails of the earth. The entire forest range was all aflame. Soon this half-risen scarlet morning sun will explode into bits. Where is the refuge then Taitaliputra ?

तते णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं मूसियारधूयं एवं वयासि : पोट्टिले ! एहि ता आयाणाहि : भीयस्स खलु भो पव्वज्जा, अभिउत्तस्स [...] सवहणकिच्चं, मातिस्स रहस्सकिच्चं, उक्कंठियस्स देसगमणकिच्चं, छुहियस्स भोयणकिच्चं, पिवासियस्स पाणकिच्चं, परं

अभिउंजिउकामस्स सत्यकिच्चं, खन्तस्स दन्तस्स गुत्तस्स जितिन्दियस्स एत्तो ते एक्कमवि ण भवइ ।

तत्पश्चात् वह अमात्य तेतलिपुत्र स्वर्णकार-पुत्री (देवीस्वरूपधारिका) पोट्टिला से इस प्रकार बोला—हे पोट्टिले ! आओ, यह तुम्हें स्वीकार करना होगा कि, भयत्रस्त मानव के लिये निश्चय रूपेण दीक्षा ही मार्ग है । भो ! अभियुक्त का आत्महत्या करना, मार्ग-परिश्रान्त का वाहन पर बैठना, मायावी का रहस्य को गुप्त रखना, उत्कंठित का देश-भ्रमण करना, क्षुधित का भोजन करना, प्यासे का पानी पीना और दूसरे पर विजय प्राप्त करने वाले का शस्त्रग्रहण करना सम्भव है, किन्तु क्षान्त, दान्त, गुप्तेन्द्रिय, जितेन्द्रिय को पूर्वोक्त प्रपातादिक भयों में से एक भी भय संभव नहीं है ।

Responded Royal Minister Taitaliputra thus to the query of demi-goddess Pottila :

You ought to admit Pottila that there is only one escape for oppressed man and that is initiation into an anchorite career. A convict can escape through suicide. A fatigued traveller can dream of a vehicle. A sinister being may preserve a secret. One suffering from wanderlust may leave on voyages. A hungry and thirsty being may win viands and beverages. A triumphant warrior may trounce enemies. However, an austere anchorite is free from all possible mishaps.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

तेतलिपुत्तनामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् तेतलिपुत्र ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Taitaliputra, the seer, do pronounce.

तेतलिपुत्र नामक दसवाँ अध्ययन पूर्ण हुआ ।१०।

११. एगादसं मंखलिपुत्तज्झयणं

सिट्ठयणे व्व आणच्चा अमुणी । संखाए य णच्चा एसे तातिते । मं ख लि पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइयं ।

निर्मित लोक का ज्ञान (सर्व पदार्थों का ज्ञान) न रहने पर वह अमुनि हो जाता है अथवा वीतराग की आज्ञा प्राप्त करने के लिये लौकिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला शिष्ट भी अमुनि हो जाता है और संस्कार तथा (आध्यात्मिक) ज्ञान को प्राप्त करने वाला मुनि, निश्चय से त्रायी—आत्मरक्षक होता है ।

ऐसा अर्हत् मंखलिपुत्र ऋषि बोले—

One not endowed with the all-comprehensive knowledge is not a Monk (Muni). One fully enlightened is Muni and he commands knowledge that ever shields him.

Said enlightened Mankhaliputra.

से एजति वेयति खुब्भति घट्टति फन्दति चलति उदीरति, तं तं भावं परिणमति, ण से ताती । से णो एजति णो खुब्भति णो वेयति णो घट्टति णो फन्दति णो चलति णो उदीरेति, णो तं तं भावं परिणमति, से ताती । तातीणं च खलु णत्थि एजणा वेदणा खोभणा घट्टणा फन्दणा चलणा उदीरणा तं तं भावं परिणामे । ताती खलु अप्पाणं च परं च चाउरन्ताओ संसारकन्ताराओ तातीति ताई ।

जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, अनुभव करता है, क्षुभित होता है, आहत होता है, स्पन्दित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है और उन-उन भावों/पदार्थों में रूपान्तरित हो जाता है वह मुनि (स्व का) रक्षक नहीं है । जो पदार्थों को देखकर कंपित नहीं होता है, वेदन अनुभव नहीं करता है, आहत नहीं होता है, स्पन्दित नहीं होता है, चलित नहीं होता है, प्रेरित नहीं होता है, और उन भावों/पदार्थों में रूपान्तरित नहीं होता है वह मुनि (स्व का) रक्षक है । (आत्म) रक्षक मुनि को वस्तुतः न कम्पन होता है, न अनुभव होता है, न उसे क्षोभ होता है, न आहत होता है, न चलायमान होता है, न प्रेरित होता है और न वह उन-उन पदार्थों में परिणमनशील/रूपान्तरित होता है । वस्तुतः ऐसा त्रायी/उपकारी मुनि स्वयं का और दूसरों का चतुर्गतिमय संसाररूपी अटवी (भयंकर जंगल) से रक्षण करता है ।

One scared of the transition of things experiences it intimately and is flabbergasted by such transformation, suffers an empathy and

attains those very shapes on such account and is least capable of protecting oneself. A stoic stays unstirred in the face of such mundane occurrences. He retains his absolute composure and is ever unruffled. He is never provoked nor despaired. He never suffers a corresponding sea change as the mundane objects before him do. Such a pious benefactor protects himself as well as others from the forest fire that human existence patently is.

असंमूढो उ जो णेता, मग्गदोसपरक्कमो ।
गमणिज्जं गतिं णाउं, जणं पावेति गामिणं ॥१॥

१. जो नेता मार्ग के दोषों को दूर करने में समर्थ हो तथा गमनीय गति/लक्ष्य का ज्ञाता हो ऐसा कुशलजन गम्यमान (लक्ष्य) को प्राप्त कर लेता है ।

1. A pioneer who can negotiate all the turns of the course and master all the techniques necessary in human odyssey will positively lead to the destination.

सिद्धकम्मो तु जो वेज्जो, सत्थकम्मे य कोविओ ।
मोयणिज्जातो सो वीरो, रोगा मोतेति रोगिणं ॥२॥

२. जो शल्य-कर्म का विद्वान् और सिद्धकर्म (सिद्धहस्त) अथवा श्रेष्ठकर्मी वैद्य होता है वह वीर मोचनीय (साध्य) रोगों से रोगी को रोग मुक्त करता है ।

2. A talented surgeon can cure the severest maladies to the rescue of his patient.

संजोए जो विहाणं तु, दव्वाणं गुणलाघवे ।
सो उ संजोगणिप्फण्णं, सव्वं कुणइ कारियं ॥३॥

३. जो द्रव्यों के गुण-लाघव के विधान का संयोजन करता है वह संयोग निष्पन्नता उसके समस्त कार्यो/प्रयोगों को (पूर्ण) करती है ।

3. One well-versed in intricacies of chemicals can always engineer all necessary chemical proccesses.

विज्जोपयारविण्णाता, जो धीमं सत्तसंजुतो ।
सो विज्जं साहइत्ताणं, कज्जं कुणइ तक्खणं ॥४॥

४. जो सामर्थ्यशाली है, धैर्यशाली है, विद्या/मन्त्रशास्त्र और उपचार—चिकित्सा का ज्ञाता है वह विद्या की साधना कर तत्काल उद्दिष्ट कार्यों को (पूर्ण) करता है।

4. A perseverant and versatile individual who masters vital human sciences like Medicine and Engineering, can accomplish all that is necessary.

णिवत्तिं मोक्खमग्गस्स, सम्मं जो तु विजाणति ।
रागदोसे णिराकिच्चा, से उ सिद्धिं गमिस्सति ।।५।।

५. जो प्रवृत्ति-विमुख मोक्ष मार्ग की स्वरूप रचना को सम्यक् प्रकार से जानता है वह राग-द्वेष का निराकरण कर सिद्धि (सिद्ध-स्थिति) को प्राप्त करता है।

5. One fully aware of the sure device to deliverance, never succumbs to attachment-aversion and achieves the summum bonum.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

मंखलिपुत्तनामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् मंखलिपुत्र ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Mankhaliputra, the enlightened, do pronounce.

मंखलिपुत्र नामक ग्यारहवां अध्ययन पूर्ण हुआ।११।

१२. बारसं जण्णवक्कीयज्झयणं

जाव ताव लोएसणा ताव ताव वित्तेसणा, जाव ताव वित्तेसणा ताव ताव लोएसणा। से लोएसणं च वित्तेसणं च परिन्नाए गोपहेणं गच्छेज्जा, णो महापहेणं गच्छेज्जा जण्णवक्केण अरहता इसिणा बुइतं। तंजहा—

जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है। जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैषणा है। वह मुमुक्षु लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग कर, गोपथ से जाय। महापथ से न जाय।

ऐसा अर्हत् याज्ञवल्क्य ऋषि बोले—तद्यथा—

Mundane yearnings and avarice are concomitants. Let an aspirant choose the creditable course of pious souls and not the tempting one common folk are prone to choose.

Said Yagyavalkya, the enlightened.

जहा कवोता य कविंजला य
गाओ चरन्ती इह पातरासं।
एवं मुणी गोयरियप्पविट्ठे
णो आलवे णो वि य संजलेज्जा ॥१॥

१. जैसे कबूतर, कपिंजल (गोरा) पक्षी और गाय प्रातःकाल भोजन (चरने) के लिए भ्रमण करते हैं इसी प्रकार मुनि गोचरी के लिए भ्रमण करे। गोचरी के लिए भ्रमण करता हुआ मुनि न किसी के साथ संभाषण करे और न किसी पर कुपित होवे।

1. As a pigeon and cow roam about each morning, to seek meals, so should a hermit do. He should, during this course, neither converse nor be angry.

पंचवणीमकसुद्धं, जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा।
तस्स सुलद्धा लाभा, हणणाए विप्पमुक्कदोसस्स ॥२॥

२. जो दोषप्रमुक्त मुनि है वह पांच प्रकार के वनीपकों/याचकों—१. कृपण, २. दीनहीन, ३. ब्राह्मण, ४. कुत्ता और ५. श्रमणों का बाधक न बनता

हुआ सम्यक् प्रकार से अन्वेषण करता हुआ भिक्षा (गौचरी) ग्रहण करता है उसे कर्म-नाश का लाभ सुलभ है।

2. A pious hermit never offers impediment to the miser, urchin, Brahmin, Pariah and saints. He seeks his meal carefully and thus diminishes his burden of Karmas.

पंथाणं रूवसंबद्धं, फलावत्तिं च चिन्तए।
कोहातीणं विवाकं च, अप्पणो य परस्स य ।।३।।

३. मुनि स्वमार्ग (श्रमण मार्ग) के अनुरूप का और फलावृत्ति का चिन्तन करे। स्व और पर के क्रोधादिक के विपाक का भी चिन्तन करे।

3. A saint should contemplate the code prescribed for him and its moral implications. He should contemplate the means of purging himself of wrath etc.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

जण्णवक्कीयनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् याज्ञवल्क्य ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Yagyavalkya, the seer, do pronounce.

याज्ञवल्कीय नामक बारहवां अध्ययन पूर्ण हुआ।१२।

१३. तेरसं भयालिणामज्झयणं

किमत्थं णत्थि लावण्णताए ? मे ते ज्जे ण भ या लि णा अरहता इसिणा वुइतं ।

क्या कारण है कि तुम लावण्य (शरीर सौन्दर्य अथवा मैत्री) की रक्षा नहीं करते हो ? इस पर अर्हत् मेतार्य (मैत्रेय) भयालि नामक ऋषि बोले—

On being questioned why, he was negligent of his own looks, said Bhayali of Maidarya family :

णो हं खलु हो अप्पणो विमोयणट्ठताए परं अभिभविस्सामि, मा णं मा णं से परे अभिभूयमाणे ममं चेव अहिताए भविस्सति ।

भो मुमुक्षु ! मैं अपनी विमुक्ति के लिए दूसरे का पराभव नहीं करूंगा । नहीं, नहीं, वह पराभूत व्यक्ति मेरे लिए ही अहितकारी बनेगा ।

Thou O aspirant hear me, I shall never seek ascent at another's expense. His decline is sure to be my ultimate undoing.

आताणाए उ सव्वेसिं, गिहिवूहणतारए ।
संसारवाससन्ताणं, कहं मे हंतुमिच्छसि ? ॥१॥

१. अभिभूत होने वाला संसारवास से सन्तुष्ट सभी गृहस्थ कहे जाने वाले तारकों/श्रावकों से पूछता है कि किस कारण से मेरा हनन करना चाहते हो ?

1. Such an innocent hermit, ignorant of worldly guiles and steadfast in his norms, questions the confounded mundane folk—what ails you folk to harm a soul like me ?

सन्तस्स करणं णत्थि, णासतो करणं भवे ।
बहुधा दिट्ठं इमं सुट्ठु, णासतो भवसंकरो ॥२॥

२. विद्यमान वस्तु का विधान (कारण) नहीं है और असत् (अविद्यमान वस्तु) का विधान (कारण) प्राप्त नहीं है । बहुधा यह भली-भांति देखा गया है कि भव-परम्परा की प्राप्ति असत् नहीं है ।

2. Things extant reveal no primordial cause and the non-extant ones have causes beyond anybody's grasp. It is a common observation that mundane existence is not a figment of imagination.

सन्तमेतं इमं कम्मं, दारेणेतेणुवट्ठियं ।
णिमित्तमेत्तं परो एत्थ, मज्झ मे तु पुरे कडं ॥३॥

३. ये जो विद्यमान कर्म हैं वे भव-परम्परा के द्वार के रूप में उपस्थित हैं । दूसरे तो निमित्त मात्र हैं । वस्तुतः मेरे लिये तो मेरे पूर्वकृत कर्म ही (उत्तर-दायी) हैं ।

3. The courses of actions available are like the open sesame to reincarnation. Other factors are no more than conducive circumstances of secondary value. My accumulated deeds alone are the creators of my destiny.

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।
फलत्थी सिंचती मूलं, फलघाति ण सिंचती ॥४॥

४. मूल (जड़) का सींचन करने पर फल की उत्पत्ति होती है । मूल (जड़) का नाश करने पर फल नष्ट हो जाता है । फलार्थी मूल का सिंचन करता है और फलहन्ता मूल का सिंचन नहीं करता है ।

4. Nurturing the root yields fruits. Nipping the root exterminates fruition. One craving for fruits, waters the root while one averse to fruit avoids such an eventuality.

लुप्पती जस्स जं अत्थि, णासन्तं किंचि लुप्पती ।
सन्तातो लुप्पती किंचि, णासन्तं किंचि लुप्पती ॥५॥

५. जिसके जो कर्म होते हैं, वे ही लुप्त (नाश) होते हैं । असत् (अविद्य-मान कर्म) का किंचित् भी नाश नहीं होता है । सत् (विद्यमान कर्म) का अल्प नाश होता है किन्तु असत् (अविद्यमान कर्म) का किंचित् भी नाश नहीं होता ।

5. A deed meets its own negation. That which does not exist can not meet its negation. That which exists can meet partial negation but that which is non-existent is immune from destruction.

'अत्थि मे' तेण देति, 'नत्थि मे' तेण देइ मे ।
जइ से होज्ज, ण मे देज्जा; णत्थि से, तेण देइ मे ॥६॥

६. 'मेरा है' यह समझकर वह मुझे देता है। 'मेरा नहीं है' यह समझकर भी वह मुझे देता है। यदि वह अपना अधिकार समझता है तो वह मुझे नहीं देगा और यदि वह अपना अधिकार नहीं समझता है तो वह मुझे देगा।

6. He awards me something when he finds me owning it already. When I am shorn of all possessions then also he deigns to award me something. However, if he deems his own right over his possessions he spares to award me anything.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

भयालिनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत्, मैत्रेय भयालि ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I Bhayali, the seer, from Maidarya family do pronounce.

भयालि नामक तेरहवां अध्ययन पूर्ण हुआ।१३।

१४. चउद्दसं बाहुकज्झयणं

जुत्तं अजुत्तजोगं ण पमाणमिति बा हु के ण अरहता इसिणा बुइतं ।

युक्त भी अयुक्त से संबद्ध हो तो वह प्रमाणभूत नहीं है। ऐसा अर्हत् बाहुक ऋषि बोले—

The valid when in juxtaposition with the invalid loses its claim to validity.

Bahuk, the enlightened spoke thus.

अप्पणिया खलु भो अप्पाणं समुक्कसिय ण भवति बद्धचिन्धे णरवती, अप्पणिया खलु भो य अप्पाणं समुक्कसिय भवति बद्धचिन्धे सेट्ठी। एवं चेव अणुयोये जाणह खलु भो समणा माहणा : गामे अदु वा रण्णे अदु वा गामे णो वि रण्णे

अभिणिस्सए इमं लोगं, परलोगं पणिस्सए।

भो मुमुक्षु ! राजकीय चिन्हों से सम्पन्न राजा के लिए अपने आपको उत्कृष्ट बताने की आवश्यकता नहीं होती। भो मुमुक्षु ! बद्धचिन्ह श्रेष्ठि के लिए अपने आपको पुनः पुनः उत्कर्षशील बनाने की आवश्यकता होती है। भो श्रमणों ! भो माहणों ! यह अनुयोग इस प्रकार समझना चाहिए। ग्राम में अथवा अरण्य में अथवा दोनों में रहते हुए इह लोक का सेवन करे और परलोक की उपासना करे।

A prince endowed with paraphernalia need not announce his royalty: A duly decked millionaire hardly needs any overt effort to obtain recognition. Thou O Shramanas and thou Brahmins, please know that this observation applies to villages and forests both and it destroys the existence here and hereafter.

दुहओ वि लोके अपतिट्ठिते। अकामए बा हु ए मते ति अकामए चरए तवं अकामए कालगए णरकं पत्ते, अकामए पव्वइए, अकामते चरते तवं,

अकामए कालगए, सिद्धिं पत्ते अकामए।

वह दोनों ही लोक में अप्रतिष्ठित हो जाता है (क्योंकि दोनों ही लोक अशाश्वत हैं) ऐसा अकाम बाहुक का (मेरा) मत है। अकाम तप का आचरण करने वाला अकाम मरण से (पूर्व कर्मों के वशीभूत) नरक गति को प्राप्त करता है। पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त कर कामना-रहित दीक्षा ग्रहण करता है। कामना-रहित तप करता है। कामना-रहित मरण को प्राप्त कर निष्काम सिद्धि को प्राप्त करता है।

A being may earn infamy due to motivelessness. This is Bahuk's thesis. One dedicated to penances for the purgation of Karmas may fall into the destiny leading to desirefree death, and thereafter to infernal existence. He then reincarnates in human species and wins desirefree initiation. He devotes himself to desirefree penances and subsequent to desirefree death wins desirefree ultimate achievement.

सकामए पव्वइए, सकामए चरते तवं, सकामए कालगते णरगे पत्ते, सकामए चरते तवं, सकामए कालगते-सिद्धि पत्ते सकामए !

जो कामना सहित दीक्षित हुआ है, कामना सहित तपश्चर्या करता है वह कामना सहित मृत्यु से नरक को प्राप्त करता है। (जो) सकाम तप करता है, सकाम मृत्यु प्राप्त करता है, (क्या वह) सकाम सिद्धि स्थान को प्राप्त करता है? [नहीं।]

One who has been initiated with motives, performs penances with motives and subsequent to it motive-enlivened spiritual attainments.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

बाहुकणामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण-त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् बाहुक ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Bahuk, the seer, do dronounce.

बाहुक नामक चौदहवां अध्ययन पूर्ण हुआ।

---

१५. पंचदसं मधुरायणिज्जणामज्झयणं

[१.] सायादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति, असाता-दुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति ? सातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति णो असातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरति। [२.] सातादुक्खेण अभिभूतस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति, असाता-दुक्खेण अभिभूयस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति ? सातादुक्खेण अभिभूतस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति। पुच्छा य वागरणं च। [३.] सन्तं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, असन्तं दुक्खी दुक्खं उदीरेति ? सन्तं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, सातादुक्खेण अभिभूतस्स उदीरेति, णो असन्तं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, म धु रा य णे ण अरहता इसिणा बुइतं।

[१] साता दुःख से अभिभूत होने पर दुःखी दुःख की उदीरणा करता है ? असाता दुःख से अभिभूत होने पर दुःखी दुःख को प्रेरित करता है ? सुख-दुःख से अभिभूत (पराजित) होने पर दुःखी दुःख को उदीरित-प्रेरित करता है। असाता-पीड़ा दुःख से पराभूत होने पर दुःखी दुःख को प्रेरित नहीं करता है।

[२] सुख-दुःख से पीड़ित दुःखीजन दुःख को उदीरित करते हैं ? असाता दुःख से पीड़ित दुःखीजन दुःख को प्रेरित करते हैं ? सुख-दुःख से पीडित दुःखीजन दुःख को उदीरित करते हैं ? प्रश्न और व्याकरण अर्थात् उत्तर यहां प्राप्त है।

[३] दुःखी शान्त (बाधा-रहित) दुःख की उदीरणा करता है ? दुःखी बाधा सहित दुःख की उदीरणा करता है ? दुःखी शान्त दुःख की उदीरणा करता है ? शान्त दुःखों से अभिभूत कर्मों की ही उदीरणा करता है। दुःखी अशान्त दुःखों की उदीरणा नहीं करता है।

ऐसा अर्हत् मधुरायण ऋषि बोले—

1. Is unhappily resultant desert rendered manifest in case of an overly happy subject whose latencies had it in store ? Or is such the destiny of the individuals who are overly unhappy ? A happy self oppressed by an unhappy aftermath and a self oppressed by unrelieved anguish do not trigger the chain of manifestation of unhappy destiny. Unhappy selves oppressed by an unhappy trail of happiness witness the manifestation of unhappy latencies. Same is the case with selves that suffer unhappiness on account of unhappy desert as yet latent. The statement above is an answer to respective moral queries.

2. Does an unhappy soul whose unhappy desert is still latent make it patent ? Or such a one whose evil desert is impending to be patent ? The former case is true. The latter is not true as his evil desert has of its own accord set in motion the manifestation of the latency.

Said Madhurayan, the seer, thus.

दुक्खेण खलु भो अप्पहीणेणं जीए आगच्छन्ति हत्थच्छेयणाइं पादच्छेयणाइं एवं णवमज्झयणगमएणं णेयव्वं जाव सासतं निव्वाणमब्भुवगता चिट्ठन्ति, णवरं दुक्खाभिलावो ।

भो मुमुक्षु ! दुःखों—कर्मों की अल्पहानि होने के कारण ये जीव संसार में पुनः पुनः आते हैं और उनका हस्तच्छेदन होता है, पादछेदन होता है । इस प्रकार इस ग्रन्थ के महाकाश्यप नामक नौवें अध्ययन की तरह समझना चाहिए, यावत् शाश्वत निर्माण को प्राप्त कर सिद्धिगति में स्थित होता है । नवरं—इस अध्ययन का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ दुःखी आत्मा का निरूपण है ।

O thou Aspirant, Karmas ground in woe are negated too slowly. It results in reincarnations and the individual suffers amputation of hands and feet. So long as one does not free oneself of Karmic smear to win final deliverance, one has to undergo woe. [This chapter repeats what has been recorded in Mahakashyap's discourse (Chapter Nine). Hovever, woe-begone individuals are the main theme of the present chapter.]

पावमूलमणिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं ।
पावमूलाणि दुक्खाणि, पावमूलं च जम्मणं ॥१॥

१. संसार के समस्त देहधारियों के भव-भ्रमण का मूल पाप है । दुःखों का मूल भी पाप है और जन्म-मरण का मूल भी पाप है ।

1. All beings owe their reincarnation to sin. They owe their woe to sin as well as their repeated births.

संसारे दुक्खमूलं तु, पावं कम्मं पुरेकडं ।
पावकम्मणिरोधाय, सम्मं भिक्खु परिव्वए ॥२॥

२. संसार में पूर्वकृत पाप-कर्म ही दुःख का मूल है । पाप-कर्म का निरोध करने के लिए भिक्षु (मुनि) सम्यक् प्रकार का आचरण करे ।

2. Accumulated Karmas yield pain. Let the saint regulate his conduct so as to exterminate all sin.

सभावे सति कन्दस्स, धुवं वल्लीय रोहणं ।
बीए संवुज्झमाणम्मि, अंकुरस्सेव संपदा ।।३।।

३. वृक्ष के स्कन्द का सद्भाव होने पर लता उस पर अवश्य ही बढ़ेगी। बीज के विकसित होने पर अंकुरों की सम्पदा अवश्य बढ़ेगी।

3. A climber is sure to spread by virtue of a stem that is suitable. Germination always results in seedlings.

सभावे सति पावस्स, धुवं दुक्खं पसूयते ।
णासतो मट्टियापिण्डे, णिव्वत्ती तु घडादिणं ।।४।।

४. पाप का सद्भाव होने पर उससे दुःख की उत्पत्ति अवश्य होगी। मृत्तिकापिण्डके अभाव में घटादि की रचना सम्भव नहीं है। [अर्थात् मृत्पिण्ड है तो घटादि उत्पन्न हो सकते हैं। पाप है, इसीलिए दुःख की सृष्टि है।]

4. A proliferating sin will yield woe. In the absence of clod there can be no pitcher.

सभावे सति कन्दस्स, जहा वल्लीय रोहणं ।
बीयातो अंकुरो चेव, धुवं वल्लीय अंकुरा ।।५।।

५. स्कन्द का सद्भाव होने पर जैसे लता उस पर चढ़ती है और बीज से अंकुर विकसित होते हैं वैसे ही पाप रूपी लता से दुःख अंकुरित होते हैं।

5. As the conduciveness of steme ncourages a climber, and germination a seedling, so does sin to woe.

पावघाते हतं दुक्खं, पुप्फघाए जहा फलं ।
विद्धाए मुद्धसूईए, कतो तालस्स संभवे ? ।।६।।

६. जैसे पुष्प का नाश करने पर फल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही पाप का नाश करने पर दुःख नष्ट हो जाते हैं। ताड़ वृक्ष के अग्र (शिखर) भाग को सूई (कील) से बींध दिया जाय तो क्या उस ताड़ वृक्ष में कभी फल लग सकते हैं ? नहीं लगते।

6. As fruition is exterminated by plucking off a flower, so woes are eliminated by avoiding sins. If the apical of a palm plant be punctured with a needle the plant's non-fruition is preordained.

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।
फलत्थी सिंचए मूलं, फलघाती न सिंचति ॥७॥

७. मूल का सिंचन करने पर फल प्राप्त होता है। मूल का नाश करने पर फल का नाश होता है। फलाभिलाषी मूल का सिंचन करता है और फलहन्ता मूल का सिंचन नहीं करता है।

7. Watering the root will positively yield fruit. Nipping the root will exclude all possibility of fruit. One craving for fruit will nurture the root and one wary of the latter will never nurture the former.

दुक्खितो दुक्खघाताय, दुक्खावेत्ता सरीरिणो ।
पडियारेण दुक्खस्स, दुक्खमण्णं णिबन्धई ॥८॥

८. दुःख का अनुभव करता हुआ दुःखाभिभूत देहधारी दुःख का नाश करने के लिए प्रयत्न करता है किन्तु उसका वह एक दुःख का प्रतिकार दूसरे दुःख का उपार्जन कर लेता है।

8. The miserable sufferer endeavours to preclude all misery. However, these endeavours generate further train of miseries, inevitably.

दुक्खमूलं पुरा किच्चा, दुक्खमासज्ज सोयती ।
गहितम्मि अणे पुव्वि, अदइत्ता ण मुच्चइ ॥६॥

६. दुःख का मूल (बीज) पहले बोता है। पश्चात् दुःख प्राप्त होने पर शोक करता है। पूर्व में लिये हुए ऋण (कर्ज) को लौटाये बिना वह ऋण-मुक्त नहीं हो सकता।

9. One first sows the seed of misery and subsequently regrets it. A debtor has no option but to discharge his own debt.

आहारत्थी जहा बालो, वण्हि सप्पं च गेण्हती ।
तहा मूढो सुहत्थी तु, पावमण्णं पकुव्वती ॥१०॥

१०. जैसे खाने की इच्छा वाला बालक अग्नि और सांप को पकड़ लेता है। वैसे ही मूढ़ व्यक्ति अपने प्रशस्त हाथों से अन्य पाप को ग्रहण कर लेता है।

10. As a hungry infant grasps fire or serpent, so a confounded being voluntarily extends his own hand to grasp a fresh sin.

पावं परस्स कुव्वन्तो, हसती मोहमोहितो ।
मच्छो गलं गसन्तो वा, विणिघातं ण पस्सती ।।११।।

११. मोहग्रस्त जीव दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हंसता है। मछली (आटे की गोली को) गले में उतारते समय नाशकारी कांटे को नहीं देखती है।

11. A befuddled sadist commits sins like a fish totally unaware of the angling rod while swallowing the bait.

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लितो ।
दित्तं पावति उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणा ।।१२।।

१२. जैसे जल में रहा हुआ हाथी अत्यधिक उत्तेजित हो जाता है वैसे ही मोहमल्ल से प्रेरित आत्मा वर्तमानिक भोगों में अत्यासक्त और उत्तेजित हो जाती है।

12. As an *elephant frolicking in water sport is utterly wanton,* so is a voluptuous being engrossed in present lust.

परोवघाततल्लिच्छो, दप्पमोहमलुद्धरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं ण विन्दती ।।१३।।

१३. दूसरे का घात करने में लिप्सु व्यक्ति अहंकार और मोहमल्ल से उद्धत होने के कारण गुण और दोष से शून्य हो जाता है। जैसे जर्जर वृद्ध सिंह उन्मत्त होकर निर्बल प्राणियों का वध करते समय विवेक शून्य हो जाता है।

13. A ruthless vain being is wantonly unconcerned and is morally vacuous. He is like a senile tiger marauding weaklings in the forest.

सवसो पावं पुरोकिच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।
आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्कधारो दुहट्टिओ ।।१४।।

१४. पूर्वकृत पाप-कर्म के वशीभूत होकर दुर्मति जीव दुःख का अनुभव करता है। वह गले में फंदा कस कर दुःख और विपदाओं की धारा में अपने आप को छोड़ देता है।

14. Feeling of misery is the direct outcome of moral lethargy and accumulated sins. One is like a neck-bound victim of one's own doing, *immersed in a watery grave.*

पावं जे उ पकुव्वन्ति, जीवा साताणुगामिणो ।
वड्ढती पावकं तेसिं, अणग्गाहिस्स वा अणं ।।१५।।

१५. जो सुखाभिलाषी जीव सुख के लिये पाप करते हैं। जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण (कर्ज) बढ़ता जाता है वैसे ही उसके पापों की राशि भी बढ़ती जाती है।

15. Indulgent beings commit sins like a debtor delving headlong in enhancing debts.

अणुबद्धमपस्सन्ता, पच्चुप्पण्णगवेसका ।
ते पच्छा दुक्खमच्छन्ति, गलुच्छिन्ना झसा जहा ।।१६।।

१६. जो केवल वर्तमान सुख को ही खोजते हैं किन्तु उससे अनुबद्ध फल को नहीं देखते हैं वे बाद में उसी प्रकार से दुःख पाते हैं जैसे कण्ठ से विंधी हुई मछली।

16. Those lost in instant pleasures, oblivious of the concomitant miserable trail are akin to the angled fish unaware of the bait.

आता-कडाण कम्माणं, आता भुंजति जं फलं ।
तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ।।१७।।

१७. आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है और आत्मा ही उनके फल का भोक्ता है। अतः (मुमुक्षु) आत्मोत्कर्ष के लिये पापग्रहण करने वाले मार्ग का त्याग कर दे।

17. The self authors the deeds (Karmas) and itself reaps the harvest. The sole path to elevation is through sinlessness.

सन्ते जम्मे पसूयन्ति, वाहिसोगजरादओ ।
नासन्ते डहते वण्ही, तरुच्छेत्ता ण छिन्दति ।।१८।।

१८. जन्म के सद्भाव में व्याधि, शोक, बुढ़ापा आदि उपाधियां उत्पन्न होती हैं अर्थात् जन्म-मृत्यु का अभाव होने पर किसी भी प्रकार की उपाधि उत्पन्न नहीं होती है। जलने योग्य पदार्थ नहीं है तो आग किसको जलाएगी? वृक्ष काटने वाला नहीं है तो कुल्हाड़ी किसको काटेगी?

18. Incarnation yields maladies, woe and senility etc. Once this chain is broken, no such miseries ever rise. If there be no fuel where-from the fire? If there be no woodcutter where-from rhe cutting by the axe?

दुक्खं जरा य मच्चू य, सोगो माणावमाणणा ।
जम्मघाते हता होन्ती, पुप्फघाते जहा फलं ॥१६॥

१६. जैसे पुष्प का नाश कर देने पर फल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही जन्म का नाश होने पर दुःख, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, और मानापमान नष्ट हो जाते हैं ।

19. As destruction of flower precludes all possibility of fruition, so elimination of reincarnation precludes misery, age,death, bereavement and humiliation.

पत्थरेणाहतो कीवो, खिप्पं डसइ पत्थरं ।
मिगारि ऊसरं पप्पं, सरुप्पत्तिं व मग्गति ॥२०॥

२०. पत्थर से आहत कीव—पक्षिविशेष (लोकोक्ति के अनुसार कुत्ता) शीघ्र ही पत्थर को काटता है । बाण लगने पर सिंह बाण पर न झपटकर बाण फेंकने वाले की ओर झपटता है ।

20. A dog hit by a pelting stone ignorantly begins to bite the stone itself while the wise tiger spares the arrow but attacks the hunter himself.

तहा बालो दुही वत्थुं, बाहिरं णिन्दती भिसं ।
दुक्खुप्पत्तिविणासं तु, मिगारि व्व ण पप्पति ॥२१॥

२१. वैसे ही अज्ञानी जीव, दुःख प्राप्त होने पर (कुत्ते की तरह) बाह्य वस्तुओं पर अत्यन्त क्रुद्ध होता है किन्तु सिंह की तरह दुःखोत्पत्ति के कारणों का विनाश नहीं करता है ।

21. Likewise, the unwise one being afflicts by mundane agonies goes furious over the objects apparent and external, but does not attack the cause that originates the pain.

वणं वण्हि कसाए य, अणं जं वावि दुट्ठितं ।
आमगं च उव्वहन्ता, दुक्खं पावंति पीवरं ॥२२॥

२२. व्रण, अग्नि, कषाय, ऋण आदि घृणित कार्यों को कर, रोग-पीड़ा को धारणकर वे महान् दुःख को प्राप्त करते हैं ।

22. He indulges in heinous acts of all descriptions; injury, fire, passions, debts and the like. These in turn generate diseases and sufferings. Thus goes on the infinite chain.

वण्ही अणस्स कम्मस्स, आमकस्स वणस्स य ।
णिस्सेसं घाइणं सेयो, छिण्णोऽवि रुहती दुमो ।।२३।।

२३. ऋण की अग्नि, कर्म की आग, रोग की आग, और व्रण की आग को जड़ से ही समाप्त करना श्रेयकारी है । क्योंकि, ऊपर से काटने पर भी वृक्ष फिर से उग आता है ।

23. Strike at the root of this chain. Extinguish the deadly fires, the debts, the Karmas, the disease and the injury. Cut the tree in its branches, it will grow again, cut its root, it will never.

भासच्छण्णो जहा वण्ही, गूढकोहो जहा रिपू ।
पावकम्मं तहा लीणं, दुक्खसंताणसंकडं ।।२४।।

२४. भस्माच्छादित अग्नि और प्रच्छन्न क्रोधी शत्रु के समान पाप कर्मों में दुःखों की परम्परा और संकट छिपे रहते हैं ।

24. As the fire covered by ash can burn, an enemy dissimulating anger and out-wardly calm can hit, so the Karmas, envelope a long hidden chain of miseries and pains.

पत्तिन्धणस्स वण्हिस्स, उद्दामस्स विसस्स य ।
मिच्छत्ते यावि कम्मस्स, दित्ता वुड्ढी दुहावहा ।।२५।।

२५. प्रचुर ईन्धन प्राप्त अग्नि, उद्दाम (प्रचण्ड) विष और मिथ्यात्व से आच्छन्न कर्म ये तीनों ही दुःखप्रद और दुःख को बढ़ावा देते हैं ।

25. A fire fed with plenty of fuel, a deadly poison and a Karma that is false, are all a perennial source of untold misery.

धूमहीणो य जो वण्ही, छिण्णादाणं च जं अणं ।
मन्ताहतं विसं जं ति, धुवं तं खयमिच्छति ।।२६।।

२६. धूम्र रहित अग्नि, लेन-देन से रहित ऋण और मन्त्र से आहत विष जैसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ।

26. As a fire with no smoke left, a debt with no further encumbrances and a poison nullified by incantations are soon put out.

छिण्णादाणं धुवं कम्मं, झिज्जते तं तहाहतं ।
आदित्तरस्सितत्तं व, छिण्णादाणं जहा जलं ।।२७।।

२७. वैसे ही कर्म-ग्रहण (आस्रव) रहित होने पर कर्म भी क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं । जैसे सूर्य की प्रखर किरणों से जल गर्म हो जाता है और सूर्य किरणों का साहचर्य-सम्पर्क न रहने पर जल पुनः शीतल हो जाता है ।

27. So the Karmas with no further ingress are soon eliminated. *The strong rays of the sun heat the water, when they are withdrawn, it* will soon revert to its natural cold.

तम्हा उ सव्वदुक्खाणं, कुज्जा मूलविणासणं ।
वालग्गाहि व्व सप्पस्स, विसदोसविणासणं ।।२८।।

२८. अतः मुमुक्षु समस्त दुःखों के मूल (जड़) को समाप्त करे । जैसे सपेरा सांप के विष-दोष को समाप्त करता है ।

28. A Monk should, therefore, do away with the root of all pains *and miseries—just as a snake-charmer nullifies the poisonous effect of the* snakebite.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि हव्वमागच्छति त्ति बेमि

मधुरायणिज्जणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् मधुरायण ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Arhat Madhurayana, do pronounce.

मधुरायण नामक पन्द्रहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।

—: ० :—

१६. सोलसं सोरियायणज्झयणं

जस्स खलु भो विसयायारा ण परिस्सवन्ति इन्दिया वा दवेहिं, से खलु उत्तमे पुरिसे त्ति सो रि या य णे ण अरहता इसिणा बुइतं। तं कहमिति ? मणुण्णेसु सद्देसु सोयविसयपत्तेसु णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्जा णो विणिघायमावज्जेज्जा। मणुण्णेसु सद्देसु सोत्तविसयपत्तेसु सज्जमाणे रज्जमाणे गिज्झमाणे मुज्झमाणे आसेवमाणे विप्पवहतो पावकम्मस्स आदाणाए भवति। तम्हा मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु सोयविसयपत्तेसु णो सज्जेज्जा णो रजेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्झा णो आसेवमाणे वि (प्पवहतो....भवेज्जा)। एवं रूवेसु गंधेसु रसेसु फासेसु। एवं विवरीएसु णो दूसेज्जा।

भो मुमुक्षु ! जिसके इन्द्रियों का वेग द्रवित वस्तु—जल की तरह विपयाचार में नहीं बहता है, वह निश्चय से उत्तम पुरुष है।

ऐसा अर्हत् शौर्यायण ऋषि बोले—

उन इन्द्रियों के वेग का बहाव किस प्रकार का है ? मुमुक्षु श्रोत्रेन्द्रिय विपय को प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में आसक्त न हो, अनुरक्त न हो, लुब्ध न हो, मोहित न हो, और न अपने में व्याघात का अनुभव करे। कर्णेन्द्रिय विपय को प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में आसक्त, अनुरक्त, लोलुप और मोहित होकर सेवन करने वाला और उसमें बहने वाला पाप-कर्मों को ग्रहण करता है। अतः मुमुक्षु कर्णेन्द्रिय विपय को प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में न आसक्ति करे, न अनुराग करे, न गृद्ध हो, न मोहित हो, न उपसेवना करे और न उसमें डूबे। इसी प्रकार रूप (चक्षुरिन्द्रिय), गन्ध (घ्राणेन्द्रिय), रस (जिह्वेन्द्रिय) और स्पर्श (स्पर्शेन्द्रिय) के विपय को प्राप्त मनोज्ञ पर अनुरागादि न करे। इसी प्रकार श्रोत्र-चक्षु-घ्राण-जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय के विपय को प्राप्त अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श पर द्वेप न करे।

Know it Aspirant, he is an elevated soul whose senses flow not libidinously towards their objects like a fluid.

Shauryayan, the seer, further eleborated regarding the nature of sensual outflow. Let not the aspirant be stirred, moved, perturbed, enticed and allured of tempting sounds. One whose ears are prone to fall for enticing, tempting, bewitching sounds is sure to commit related sins. The aspirant should not be charmed and bewitched to the point of reinless indulgence in such melodious temptations. Similarly should one shield

oneself from temptations of vision, smell, taste and touch. Nor should these stimuli cause abhorrenceto relevant senses.

दुद्दन्ता इन्दिया पंच, संसाराए सरीरिणं ।
ते च्चेव णियमिया सन्ता, णेज्जाणाए भवन्ति हि ।।१।।

१. शरीरधारियों की दुर्दान्त (दुर्दम) बनी हुई ये पांचों इन्द्रियां संसार-भ्रमण का कारण बनती हैं । ये ही दुर्दान्त इन्द्रियां नियन्त्रित होने पर संसारराहित्य का कारण बनती हैं ।

1. These senses, when reinless, generate this mundane existence. Once they are restrained, they dispense with bondages of mundane existence.

दुद्दन्ते इन्दिए पंच, रागदोसपरंगमे ।
कुम्मो विव सअंगाइं, सए देहम्मि साहरे ।।२।।

२. जैसे (आघात की आशंका होने पर) कछुआ अपने शरीर के अवयवों का सगोपन करता है वैसे ही राग-द्वेष से छुटकारा पाने के लिए मुमुक्षु इन दुर्दान्त पांचों इन्द्रियों का संगोपन करे ।

2. As a tortoise, when apprehensive withdraws itself into its shell so does an ascetic his senses to protect himself from attraction-aversion.

वण्ही सरीरमाहारं, जहा जोएण जुंजती ।
इन्दियाणि य जोए य, तहा जोगे वियाणसु ।।३।।

३. जैसे अग्नि (जठराग्नि) आहार को इन्द्रियों की सक्रियता से औचित्य के साथ शरीर में परिणित करती है वैसे ही इन्द्रियों पर योग (मन-वचन-काय योग) के साथ नियमन करने की प्रक्रिया को जानो ।

3. As gastric juices assimilate food for the benefit of the different organs of the body, so one should regulate one's senses by mental, oral and bodily regulation.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो इच्चत्थं पुणरवि हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

सोरियायणणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् शौर्यायण ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Shauryayan, the seer, do pronounce.

शौर्यायण नामक सोलहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१६।

—: o :—
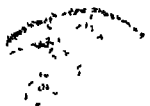
१७. सत्तदसं विदुणामज्झयणं

इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा ।
जं विज्जं साहइत्ताणं, सव्वदुक्खाण मुच्चती ॥१॥

१. वह विद्या महाविद्या है और समस्त विद्याओं में प्रशस्ततम है। इस विद्या का साधन कर आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त होती है।

1. Here-in is contained supreme knowledge. It is knowledge par excellence. Once it is practised the soul is freed of all misery.

जेण बन्धं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं ।
आयाभावं च जाणाति, सा विज्जा दुक्खमोयणी ॥२॥

वि दु णा अरहता इसिणा बुइतं ।

२. जिस विद्या से वन्ध और मोक्ष, गति और आगति तथा आत्म भाव का परिज्ञान होता है वही विद्या दुःख-मोचनी है।

ऐसा अर्हत् विदु ऋषि बोले—

2. That knowledge is truly beneficial which imparts discretion to discern bondage from liberation, happy destiny from an unenviable one.

Added Vidu, the seer :

सम्मं रोगपरिण्णाणं, ततो तस्स विणिच्छितं ।
रोगोसहपरिण्णाणं, जोगो रोगतिगिच्छितं ॥३॥

३. सम्यक् रूप से सर्वप्रथम रोग का परिज्ञान होना चाहिए। पश्चात् रोग का निदान होना चाहिए। रोग की औषध का परिज्ञान होना चाहिए। तभी उस औषध के सेवन से रोग की चिकित्सा हो सकती है अर्थात् रोग मुक्त हो सकता है।

3. You should have an exhaustive knowledge of the disease. Then you should diagnose it carefully. You should have adequate knowledge of medicine. Then alone the remedy can cure the malady.

सम्मं कम्मपरिण्णाणं, ततो तस्स विमोक्खणं ।
कम्ममोक्खपरिण्णाणं, करणं च विमोक्खणं ॥४॥

४. सम्यक् रूप से कर्म का परिज्ञान होना चाहिए। पश्चात् कर्म के विमोचन का परिज्ञान होना चाहिए। कर्म विमोचन का परिज्ञान और उसका आचरण करने पर जीव कर्ममुक्त हो जाता है।

4. One should have adequate knowledge of Karma. Then should one know the device to negate the Karma. Such a device alone will confer deliverance.

मम्मं ससल्लजीवं च, पुरिसं वा मोहघातिणं।
सल्लुद्धरणजोगं च, जो जाणइ स सल्लहा ॥५॥

५. जो जीव के सशल्य मर्म को, मोहनाशक पुरुष को और शल्यनाश के योग को जानता है वह शल्य का नाश करता है।

5. One who knows the essence of the sin, the dispassioned self that can disillusion and the means of disillusionment alone can cure the sin of illusion.

बन्धणं मोयणं चेव, तहा फलपरंपरं।
जीवाण जो विजाणाति, कम्माणं तु स कम्महा ॥६॥

६. जो बन्धन और मोचन को, उसकी फल परम्परा तथा जीवों के कर्मों को भी जानता है वही कर्मों का नाश करता है।

6. One well-versed in the knowledge of bondage, liberation and their repercussions, alone can destroy Karmas.

सावज्जजोगं णिहिलं विदित्ता,
तं चेव सम्मं परिजाणिऊणं।
तीतस्स णिन्दाए समुट्ठितप्पा,
सावज्जवुत्ति तु ण सद्दहेज्जा ॥७॥

७. सावद्य योग को पूर्णरूपेण जानकर और उसका सम्यक् प्रकार से परिज्ञान कर पूर्वकृत पापों की निन्दा के लिये तत्पर आत्मा सावद्य वृत्ति पर श्रद्धा न करे।

7. Comprehending fully the associative tendency of sin, a soul, bent upon abandoning the encumbrance of accumulated Karmas, should not associate with the sinful tendencies.

सज्झायज्झाणोवगतो जितप्पा, संसारवासं बहुधा विदित्ता ।
सावज्जवुत्तीकरणेऽठितप्पा, निरवज्जवित्ती उ समाहरेज्जा ॥८॥

८. स्वाध्याय-ध्यान में संलग्न जितेन्द्रिय संसारवास का समस्त प्रकार से परिज्ञान कर, सावद्य प्रवृत्ति के कार्यों से अमना होकर निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण करे ।

8. Absorbed in spiritual study and meditation, an austere being should comprehend mundane associations and evolving an apathy towards these, he should cultivate asceticism.

परकीयसव्वसावज्जं जोगं इह अज्ज दुच्चरियं णायरे अपरिसेसं ।
णिरवज्जे ठितस्स णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्तए ॥

समस्त परकीयवृत्ति सावद्य योग हैं और दूषित व्यवहार हैं, ऐसा समझ कर वह श्रेष्ठ पुरुष उसका आचरण न करे । पूर्णरूपेण निरवद्य व्यापार में स्थित आत्मा, पुनः सावद्य व्यापार का आचरण करने की कल्पना भी नहीं करता है ।

All acquisitive urge and greed are reprehensile. A noble man should understand it and avoid such a conduct. A soul deeply grounded in asceticism would not even conceive of a relapse into mundane ways.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

विदुणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् विदु ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Vidu, the seer, do pronounce.

विदु नामक सतरहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१७।

१८. अट्ठदसं वरिसवज्झयणं

अयते खलु भो जीवे वज्जं समादियति । से कहमेतं ? पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेणं, अरति जाव मिच्छादंसणसल्लेणं वज्जं समाइत्ता हत्थच्छेयणाइं पायच्छेयणाइं जाव अणुपरियट्टन्ति णवमुद्देसगमेणं । जे खलु भो जीवे णो वज्जं समादियति, से कहमेतं ? व रि स व क ण्हे ण अरहता इसिणा बुइतं । पाणाइवातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं सोइन्दिय ५-णिग्गहेणं णो वज्जं समज्जिणित्ता हत्थच्छेयणाइं पायच्छेयणाइं जाव दोमणस्साइं वीतिवतित्ता सिवमचल- जाव चिट्ठन्ति ।

भो ! जीव दुःखी होने पर प्राणिवधादिक पापकर्म स्वीकार करता है, वह कैसे ? प्राणातिपात (हिंसा) यावत् परिग्रह, अरति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से पाप-कर्म का उपार्जन करता है । इसके फलस्वरूप वह नवम महाकाश्यप अध्ययन में प्रतिपादित हस्तच्छेदन, पादछेदन आदि असीम दुःखों को प्राप्त करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है ।

भो ! जो जीव प्राणिवधादिक पापकर्म स्वीकार नहीं करता है, वह कैसे ?

इस पर अर्हत् वर्षप (वरिसव) ऋषि बोले—

प्राणातिपात (हिंसा) से निवृत्ति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य अर्थात् १८ पाप-स्थानों से निवृत्ति और श्रोत्रेन्द्रियादि पांचों इन्द्रियों का निग्रह कर जो पाप-कर्म का उपार्जन नहीं करता है । फलस्वरूप वह हस्तच्छेदन पादछेदन यावत् दुश्चिन्ता पर्यन्त दुःख-समूह को व्यतिक्रान्त (नाश) करके शिव, अचल यावत् शाश्वत स्थान को प्राप्त कर स्थिति करता है ।

What makes you folk indulge in butchering and the like ? What makes you commit violence, acquisition, insincere deeds and thus pile up sins ? The consequence is that the unwise author of such deeds suffers amputation of arms and feet, as narrated in the ninth discourse of Mahakashyap.

How is it that the wise never indulge in killing and exterminating life ?

Said Varshap :

One who determinedly shields oneself from butchering, insincere action, sins of eighteen kinds, suborns the five senses and avoids scrupulously all sinful actions; escapes amputation of limbs and wins the supreme inviolable state.

सकुणी संकुप्पघातं च, वरत्तं रज्जुगं तहा ।
वारिपत्तधरो च्चेव, विभागम्मि विहावए ।।१।।

१. जैसे शकुनी पक्षी अपनी तीक्ष्ण चोंच से फल को छेद देता है, वैरि राज्य को खण्ड खण्ड कर देता है, वारिपत्रधर—कमल जल से पृथक् रहता है वैसे ही विशुद्ध आत्मा अपने से पापकर्मो को दूर कर देता है ।

1. As a sharp-beaked bird evacuates a fruit, an enemy ruins an empire, a lotus stays intact of water, so a chastened soul discards all sins.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

वरिसवणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता ।

ऐसा मैं (अर्हत् वर्षप ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachments. Such a being is freed of the chain of reincarnation.

Thus I, Varshap, the seer, do pronounce.

वर्षप नामक अठारहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१८।

१९. एगूणवीसं आरियायणज्झयणं

सव्वमिणं पुराऽऽरियामासि । आ रि या य णे णं अरहता इसिणा बुइतं ।

पहले समस्त जन आर्य थे ।

ऐसा अर्हत् आर्यायन ऋषि बोले—

Aryayan, the seer, declared that in the beginning all were Aryans i.e. the civilised and cultured beings.

वज्जेज्जऽणारियं भावं, कम्मं चेव अणारियं ।
अणारियाणि य मित्ताणि, आरियत्तमुवट्ठिए ॥१॥

१. अनार्य विचार, अनार्य आचार और अनार्य मित्रों का परित्याग करे तथा आर्यत्व प्राप्त करने के लिए तैयार हो जाए ।

1. Incivil ideas, incivil conduct and incivil company should be shunned.

जे जणाऽणारिए णिच्चं, कम्मं कुव्वन्तऽणारिया ।
अणारिएहि य मित्तेहिं, सीदन्ति भवसागरे ॥२॥

२. जो मानव अनार्य हैं वे अनार्य मित्रों के साथ मिलकर सर्वदा अनार्य कर्म करते हैं, वे भव सागर में दुःखों को प्राप्त करते हैं ।

2. Incivil beings seek a similar company and combinedly indulge reprehensible conduct. They are deemed to suffer vicissitudes of the mundane existence.

संधिज्जा आरियं मग्गं, कम्मं जं वा वि आरियं ।
आरियाणि य मित्ताणि, आरियत्तमुवट्ठिए ॥३॥

३. आर्यत्व प्राप्त होने पर अथवा आर्यत्व प्राप्त करने के लिये आर्य मार्ग, आर्यकर्म और आर्यमित्रों का अनुसन्धान करे ।

3. On attaining civilized and cultured status of Aryans, one should adopt this path, regulate one's conduct accordingly and keep company with like individuals.

जे जणा आरिया णिच्चं, कम्मं कुव्वंति आरियं ।
आरिएहि य मित्तेहि, मुच्चन्ति भवसागरा ।।४।।

४. जो मानव आर्य हैं, आर्यमित्रों के साथ मिलकर सर्वदा आर्य कर्म करते हैं, वे भवसागर से मुक्त हो जाते हैं ।

4. Having attained high civilisation worthy of Aryans, a company is sought of the like individuals and on working in that noble direction they earn final deliverance.

आरियं णाणं साहू, आरियं साहु दंसणं ।
आरियं चरणं साहू, तम्हा सेवय आरियं ।।५।।

५. आर्य का ज्ञान श्रेष्ठ है । आर्य का दर्शन श्रेष्ठ है । आर्य का चारित्र श्रेष्ठ है । अतः आर्य की ही उपासना करनी चाहिए ।

5. Aryans master superb knowledge, their philosophy is superb, and so is their conduct. We should emulate Aryans ever and anon.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो इच्चत्थं पुणरवि हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

आरियायणज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् आर्यायण ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Aryayan, do pronounce.

आर्यायण नामक उन्नीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१६।

—: ० :—

२०. वीसं उक्कलज्झयणं

पंच उक्कला पन्नत्ता, तंजहा : दण्डुक्कले १. रज्जुक्कले २. तेणुक्कले ३ देसुक्कले ४ सव्वुक्कले ५ ।

पांच प्रकार के उत्कल अर्थात् धर्मरहित बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं– १. दण्डोत्कल, २. रज्जूत्कल, ३. स्तेनोत्कल, ४. देशोत्कल और ५. सर्वोत्कल।

There are five schools of non-spiritual materialism :

[१.] से किं तं 'दण्डुक्कले'? दण्डुक्कले नामं जे णं दण्डदिट्ठन्तेणं आदिल्लमज्झवसाणाणं पण्णवणाए 'समुदयमेत्ता' भिधाणाइं "णत्थि सरीरातो परं जीवो" त्ति भवगतिवोच्छेयं वदति। से तं दण्डुक्कले।

१. दण्डोत्कल किसे कहते हैं? दण्डोत्कल उसे कहते हैं, जो दण्ड (लकड़ी) के दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित करते हैं कि दण्ड का आदि, मध्य और अन्तिम हिस्सा पृथक्-पृथक् अस्तित्व वाला न होकर दण्ड का समुदाय मात्र है, उसी प्रकार शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। शरीर का नाश होते ही भव अर्थात् संसार का नाश हो जाता है। ऐसी जो प्ररूपणा करते हैं उन्हें दण्डोत्कल कहते हैं।

1. One school (Dandotkal) relies on the parallel of a stick. They insist that like the inseparable top, middle and end of a stick the soul is an extension of, and is not conceivable separate from, body. Once the body is shed the world exists no more.

[२.] से किं तं 'रज्जुक्कले'? रज्जुक्कले णामं जे णं रज्जुदिट्ठन्तेणं समुदयमेत्तपन्नवणाए 'पंचमहब्भूतखन्धमेत्ता' भिधाणाइं संसारसंसतिवोच्छेयं वदति। से तं रज्जुक्कले।

२. रज्जूत्कल किसे कहते हैं? रज्जूत्कल उसे कहते हैं जो रज्जु (रस्सी) के दृष्टान्त के माध्यम से यह प्रतिपादित करते हैं कि जीव पांच महाभूतों के अंश का समुदायमात्र है, अर्थात् जीव का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। पांच महाभूतों का नाश होते ही संसार-परम्परा का उच्छेद हो जाता है। ऐसा जो प्रतिपादित करते हैं उन्हें रज्जूत्कल कहते हैं।

2. Another school (Rajjutkal) relies on the example of a rope. They avail that the individual is a mere combination of the five elements. Self does not exist away from those physical elements. Once the five

elements (earth, water, fire, air and ether) are disintegrated, there exists no world.

[३.] से किं तं 'तेणुक्कले' ? तेणुक्कले णामं जे णं अण्णसत्थ-दिट्ठन्तगाहेहिं सपक्खुब्भावणाणिरए "मम नेतं" इति परकरुणच्छेदं वदति । से तं तेणुक्कले ।

३. स्तेनोत्कल किसे कहते है ? स्तेनोत्कल उसे कहते हैं जो अन्य शास्त्रों में प्राप्त दृष्टान्त और गाथाओं के माध्यम से अपने पक्ष का प्रकटीकरण अथवा उन्नति करने में व्यस्त रहता है । मेरा कथन ही सत्य है, अन्य नहीं, ऐसी प्ररूपणा करता हुआ दूसरे की करुणा अथवा समभाव का विनाश करता है । ऐसा जो कथन करते है उन्हें स्तेनोत्कल कहते हैं ।

3. The third school (Stenotkal) culls like ideas and illustrations from sundry scriptures to lend strength to its dogma. They are utterly dogmatic and opinionated in favour of their ideology. They are least considerate in disputations.

[४.] से किं तं 'देसुक्कले' ? देसुक्कले णामं जे णं "अत्थि न्नेस" इति सिद्धे जीवस्स अकत्तादिएहिं गाहेहिं देसुच्छेयं वदति । से तं देसुक्कले ।

४. देशोत्कल किसे कहते हैं ? देशोत्कल उसे कहते हैं जो आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित है, ऐसा स्वीकार करते हुए भी आत्मा को अकर्त्ता आदि कहता हुआ, आत्मा के एक देश का उच्छेद करता है । ऐसी जो मान्यता रखते हैं उन्हें देशोत्कल कहा जाता है ।

4. The fourth school (Deshotkal) concedes so far as the existence of soul as an entity is concerned. They treat it as the non-doer and ignore one aspect of the soul.

[५.] से किं तं 'सव्वुक्कले' ? सव्वुक्कले णामं जे णं "सव्वतो सव्वसंभवाभावा णो तच्चं, सव्वतो सव्वहा सव्वकालं च णत्थि" त्ति सव्वच्छेदं वदति । से तं सव्वुक्कले ।

५. सर्वोत्कल किसे कहते हैं ? सर्वोत्कल उसे कहते है जो समस्त पदार्थो की सार्थकता को अस्वीकार करता है और प्रतिपादित करता है कि समस्त कालों में

पदार्थ की सार्थकता का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार सर्वविच्छेद की जो मान्यता रखते हैं उन्हें सर्वोत्कल कहते हैं।

5. The last school of this class, called Sarvotkal, denies purpose behind all the entities. They believe in refuting everything.

उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थका, एस आतापज्जवे कसिणे तयपरियन्ते जीवे, एस जीवे जीवति, एतं तं जीवितं भवति। से जहा णामते दड्ढेसु बीएसु ण पुणो अंकुरुप्पत्ती भवति, एवामेव दड्ढे सरीरे ण पुणो सरीरुप्पत्ती भवति। तम्हा इणमेव जीवितं, णत्थि परलोए, णत्थि सुकडदुक्कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसे। णो पच्चायन्ति जीवा, णो फुसन्ति पुण्णपावा, अफले कल्लाणपावए। तम्हा एतं सम्मं ति बेमि : उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थका एस आयाप[ज्जवे] क[सिणे] तयपरितन्ते एस जीवे। एस मडे, णो एतं तं [जीवितं भवति]। से जहा णामते दड्ढेसु बीएसु [...] एवामेव दड्ढे सरीरे [...]। तम्हा पुण्णपावऽग्गहणा सुहदुक्खसंभवाभावा सरीरदाहे पावकम्माभावा सरीरं डहेत्ता णो पुणो सरीरुप्पत्ती भवति ॥

ऊपर से लेकर चरणतल तक और नीचे से लेकर मस्तक के केशाग्र तक, इस आत्मा के पर्याय हैं। समस्त शरीर की त्वचा पर्यन्त जीव है। यह जीव का प्राण-धारण है। इसी को जीवित कहा जाता है। जैसे जले हुए बीजों में फिर से अंकुर नहीं निकलते, वैसे ही शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः यही जीवन है। परलोक नहीं है। सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल-व्यापार भी नहीं है। जीव पुनः आता भी नहीं है। पुण्य और पाप आत्मा को स्पर्श भी नहीं करते हैं। पुण्य और पाप निष्फल हैं। इसलिये मैं ठीक कहता हूँ कि ऊपर से चरणतल तक और नीचे से मस्तक के केशाग्र तक इस आत्मा के पर्याय हैं। समस्त शरीर की त्वचा पर्यन्त यही जीव है। यह जीव (कर्मरहित) मर जाता है तो पुनः जीव नहीं आता है। जैसे जले हुए बीजों में फिर से अंकुर नहीं निकलते, वैसे ही शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः पुण्य-पाप का ग्रहण ही नहीं होता है। सुख-दुःख की संभावना का भी अभाव है, क्योंकि शरीर के जल जाने से पापकर्म का अभाव/नाश हो जाता है, शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है।

The entire organism from head to foot is an extenison of soul. Self exists right upto the skin. It sustains the individual. It justifies spe-

llation of living. Roasted seeds never germinate. Similarly a body burnt cannot be reincarnated. Body and life are co-terminous. There is no hereafter. There does not exist any system of moral desert. The individual is never reborn. Good and evil moral destiny never touch the soul. Virtue and vice mean nothing. Soul is what you see in the physical being of the individual. Body and soul are synonymous. Once the soul dies, it is never reborn. Like the roasted seed, a body burnt is a life dispersed off for good. Virtuous and vicious aftermath of deeds is non-existent and cannot affect the self. Happy or unhappy destiny is fiction as a burnt body is a completely closed chapter.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

उक्कलज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I Utkal, the seer, do pronounce.

उत्कल नामक बीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।२०।

—: o :—

२१. एगवीसं गाहावइज्जं नामज्झयणं

णाहं पुरा किंचि जाणामि, सव्वलोकंसि । गा हा व ति पुत्ते ण तरुणेण अरहता इसिणा बुइतं ।

मैं पहले समस्त लोक के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता था। ऐसा अर्हत गाथापति-श्रेष्ठि पुत्र तरुण ऋषि बोले—

Initially I was utterly ignorant of the universe, said Gathapati trader's son Tarun, the seer :

अण्णाणमूलकं खलु भो पुव्वं न जाणामि न पासामि नोऽभिसमावेमि नोऽभिसंबुज्झामि, नाणमूलाकं खलु भो इयाणि जाणामि पासामि अभिसमावेमि अभिसंबुज्झामि । अण्णाणमूलयं खलु मम कामेहिं किच्चं करणिज्जं, णाणमूलयं खलु मम कामेहिं अकिच्चं अकरणिज्जं । अण्णाणमूलयं जीवा चाउरन्तं संसारं जाव परियट्टयन्ति, णाणमूलयं जीवा चाउरन्तं जाव वीयीवयन्ति । तम्हा अण्णाणं परिवज्ज णाणमूलकं सव्वदुक्खाणं अन्तं करिस्सामि, सव्वदुक्खाणं अन्तं किच्चा सिवमचल-जाव सासतं अब्भुवगते चिट्ठिस्सामि ।

भो ! अज्ञानमूलक (ज्ञानहीन) होने के कारण यह मैं पहले न जानता था, न देखता था, न समझता था और न अवबोध ही रखता था। भो ! ज्ञानमूलक (ज्ञानवान्) होने पर अब मैं जानता हूँ, देखता हूँ, समझता हूँ और अवबोध रखता हूँ। अज्ञानमूलक (ज्ञानहीन) होने के कारण काम के वशीभूत होकर मैंने कार्य किये हैं। ज्ञान सम्पन्न होने पर मेरे लिए काम के वशीभूत होकर कार्य करना अकरणीय है, अयुक्त है। अज्ञानमूलक जीव चतुर्गतिरूप संसार में यावत् परिभ्रमण करते हैं। ज्ञानमूलक जीव चतुर्गतिरूप संसार का यावत् त्याग (नाश) करते हैं। अतः अज्ञान का परित्याग कर, मैं ज्ञान-सम्पन्न होकर समस्त दुःखों का अन्त करूंगा। समस्त दुःखों का अन्त कर शिव, अचल, यावत् शाश्वतस्थान को प्राप्त कर स्थिति करूंगा।

Being ignorant earlier I knew nothing, I saw nothing and comprehended nothing. Having mastered all knowledge, now I know, I understand and comprehend. During my previous ignorant existence I was driven by desire. Being enlightened now, to be motivated by desire is

irrational for me. Ignorant beings keep orbiting in the four phases of mundane existence.

I resolve to attain enlightenment and renounce all woe. I will stay ever and anon on the pedestal of equanimity, blissful and unmoved and be delivered of all possible woes.

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं ।।१।।

१. अज्ञान ही परम दुःख है। अज्ञान से ही भय उत्पन्न होते हैं। समस्त शरीरधारियों के लिए संसार-परम्परा का मूल भी अज्ञान ही है।

1. The severest woe is ignorance. Ignorance feeds apprehension. It is the root cause of reincarnations.

मिगा बज्झन्ति पासेहिं, विहंगा मत्तवारणा ।
मच्छा गलेहि सासन्ति, अण्णाणं सुमहब्भयं ।।२।।

२. अज्ञान के कारण ही हरिण, पक्षी और हाथी पाश से बन्धते हैं। मत्स्यों के कण्ठ बींधे जाते हैं। अज्ञान ही संसार का सबसे बड़ा भय है।

2. Ignorance leads deers, birds and elephants to bondage and fish to death. There is no graver sin than ignorance.

जम्मं जरा य मच्चू य, सोको माणोऽवमाणणा ।
अण्णाणमूलं जीवाणं, संसारस्स य संतती ।।३।।

३. अज्ञान से ही जीव जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक और मानापमान प्राप्त करते हैं। जीवों की भव-परम्परा भी अज्ञानमूलक है।

3. It is ignorance that blights individuals with birth, age, death, grief and honour-humiliations. Reincarnation is the direct outcome of ignorance.

अण्णाणेण अहं पुव्वं, दीहं संसारसागरं ।
जम्मजोणिभयावत्तं, सरन्तो दुक्खजालकं ।।४।।

४. अज्ञान के कारण ही मैंने पहले जन्म (योनि) जनित भय चक्र के विस्तृत दुःखजाल में फंसकर दीर्घ काल तक संसारसागर में परिभ्रमण किया है।

4. It was my ignorance to which I owe my previous reincarnations, fraught with anguish and agony of all sorts, lasting to aeons in the fathomless gulf of existence.

दीवे पातो पयंगस्स, कोसियारिस्स बन्धणं ।
किंपाकभक्खणं चेव, अण्णाणस्स णिदंसणं ॥५॥

५. पतंग का दीपक पर गिरना, कोशियार-रेशम के कीड़े का बन्धन और किंपाक फल का भक्षण अज्ञान को ही प्रकट करता है ।

5. The self-immolation of moths on a flame, self-cocooning of the silk worm, or consumption of lethal fruit are all instances of ignorance.

बितियं जरो दुपाणत्थं, दिट्ठो अण्णाणमोहितो ।
सम्भग्गगातलट्ठी उ, मिगारी णिधणं गओ ॥६॥

६. अज्ञान से मोहित वृद्ध सिंह जल में अपनी परछाई को शत्रु रूप दूसरे सिंह की परछाई देखकर, समझकर कूद पड़ता है, फलस्वरूप उसकी देहयष्टि (शरीर) भग्न हो जाती है और वह मृत्यु प्राप्त करता है ।

6. The fatuous aged tiger leaps into the lake, deeming its watery image as an adversary and thus casts its life in ignorance.

मिगारी य भुयंगो य, अण्णाणेण विमोहिता ।
णहादंसणिवातेणं, विणासं दो वि ते गता ॥७॥

७. अज्ञान से विमोहित सिंह और सांप पंजा और दंश के प्रहार से दोनों विनाश को प्राप्त हुए ।

7. It is in ignorance that the serpent and tiger are engaged in a duel, the former stinging the latter and the latter clawing the former, to mutual death.

सुप्पियं तणयं भद्दा, अण्णाणेण विमोहिता ।
माता तस्सेव सोगेण, कुद्धा तं चेव खादति ॥८॥

८. अज्ञान से विमोहित होकर सुप्रिय नामक पुत्र की माता भद्रा उसी के शोक से क्रुधित होकर अपने पुत्र सुप्रिय का भक्षण करती है ।

8. It was a mark of utter ignorance that Bhadra in grief of her dead son Supriya devoured his cadaver.

विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं व जोयणं ।
साहणं वा वि विज्जाणं, अण्णाणेण ण सिज्झति ॥९॥

९. अज्ञान के कारण ही औषधियों का विन्यास, संयोजन, मिश्रण और विद्याओं की साधना सफल नहीं होती है ।

9. Ignorance defeats the prescription, combination and processing of herbs and drugs and cultivation of expertise.

विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं व जोयणं ।
साहणं वा वि विज्जाणं, णाणजोगेण सिज्झति ॥१०॥

१०. ज्ञान के योग से ही औषधियों का विन्यास, संयोजन, मिश्रण और विद्याओं की साधना सफल होती है ।

10. Knowledge alone propitiates a happy prescription, combination and processing of herbs and drugs.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

गाहावइज्जं नामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् गाथापतिपुत्र तरुण ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Gathapatiputra Tarun, the seer, do pronounce.

गाथापतिपुत्र तरुण नामक इक्कीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।२१।

२२. दुवीसं गद्दभीयज्झयणं

परिसाडी कम्मे अपरिसाडिणो बुद्धा, तम्हा खलु अपरिसाडिणो बुद्धा णोवलिप्पन्ति रएणं पुक्खरपत्तं व वारिणा। द ग भा ले ण अरहता इसिणा वुइतं।

कर्मों को पृथक् करना चाहिए। कर्मों को पृथक् न करने वाले अबुद्ध/अज्ञानी होते हैं। कर्मों को पृथक् करने वाले प्रबुद्ध कर्मरज से वैसे ही अलिप्त रहते हैं जैसे जल से कमल।

ऐसा अर्हत् दगभाल/गर्दभालि ऋषि बोले–

Actions (Karmas) should be segregated. Those who fail to do so are ignorant. The wise who succeed in segregating their Karmas are intact of the Karmic smear like a lotus in pond.

Thus spoke Dagbhal, the seer :

पुरिसादीया धम्मा पुरिसपवरा पुरिसजेट्ठा पुरिसकप्पिया पुरिसपज्जोविता पुरिससमन्नागता पुरिसमेव अभिउंजियाणं चिट्ठन्ति। से जहा नामते अरती सिया सरीरंसि जाता सरीरंसि वड्ढिया सरीरसमन्नागता सरीरं चेव अभिउंजियाण चिट्ठति, एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव चिट्ठन्ति। एवं गण्डे वम्मीके थूभे रुक्खे वणसण्डे पुक्खरिणी णवरं पुढवीय जाता भाणियव्वा, उदग पुक्खले उदगं णेतव्वं। से जहा णामते अगणिकाए सिया अरणीय आते जाव अरणीं चेव अभिभूय चिट्ठति, एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया तं चेव।

पुरुष से धर्म (ग्राम्यधर्म अर्थात् विषय-विकारजनित धर्म) की आदि होती है। वह पुरुष प्रधान, पुरुष ज्येष्ठ, पुरुष-कल्पित, पुरुष प्रद्योतित (प्रकाशित), पुरुष-समन्वित और पुरुष को केन्द्रित करके रहता है। जैसे पीड़ादायक रोग-विशेष शरीर में उत्पन्न होता है, बढ़ता है, समन्वित होकर शरीर से जुड़कर रहता है वैसे ही पुरुष का धर्म पुरुष को घेरे रहता है। वैसे ही व्रण शरीर में, दीमक का टीला वन और वृक्षों के समूह में तथा जल में कमल पैदा होता है। विशेषता यह है कि वे वल्मीक पृथ्वी में ही उत्पन्न, वर्धित, समन्वित और जुड़े रहते हैं। कमल जल से उत्पन्न, वर्द्धित, समन्वित और जुड़े रहते हैं। जैसे अग्नि अरणी (वृक्ष विशेष) से उत्पन्न होती है और अरणी का ही आश्रय लेकर रहती है, इसी प्रकार पुरुष का धर्म (ग्राम्य धर्म) पुरुष का ही आश्रय लेकर रहता है।

Dharma (spiritual order) is male-oriented. Dharma is male-dominated, male-oriented, male-created and male-based. As a painful malady rises in a particular organism, is aggravated and is integrated so the spiritual order (Dharma) belongs to the individual and surrounds him like an aura. Similar to it, a wound grows in body, white ants in a sand-dune and lotus in a pond. These are all accretions of earth and thrive upon it. As fire sustains itself on fuel, so male individual should sustain himself on another of his kind.

धित् तेसिं गामणगराणं, जेसिं महिला पणायिका ।
ते यावि धिक्किया पुरिसा, जे इत्थीणं वसं गता ॥१॥

१ . वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य हैं जहाँ पर महिला शासन करती है। वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य हैं जो नारी के वशीभूत हैं।

1. The villages and towns administered by female rulers are reprehensible. The males under thumb of female are not worth the salt.

गाहाकुला सुदिव्वा व, भावका मधुरोदका ।
फुल्ला व पउमिणी रम्मा, वालक्कन्ता व मालवी ॥२॥

२. वह सुदिव्य कुल की गाथा/प्रशस्ति के समान है, सुवासित मधुर जल के सदृश है, विकसित रम्य कमलिनी के समान है और सर्पवेष्टित मालती के समान है।

2. A female is bestowed with all honours. She is bewitching. She emanates fragrance akin to a blooming lily of the valley. She is like a snake-encircled jasmine.

हेमा गुहा ससीहा वा, माला वा वज्झकप्पिता ।
सविसा गन्धजुत्ती वा, अन्तोदुट्ठा व वाहिणी ॥३॥

३. स्वर्ण की गुफा है जिसमें सिंह बैठा हुआ है, विषयुक्त पुष्पों की माला है, विषमिश्रित गन्ध गुटिका है, भयंकर भंवरों से युक्त नदी है।

3. She is like a golden cavern with a man-eater seated within. She is a garland of poisonous flowers, a fatal fragrance, a stream fraught with internal whirl-pools.

गरन्ता मदिरा वा वि, जोगकण्णा व सालिणी ।
णारी लोगम्मि विण्णेया, जा होज्जा सगुणोदया ॥४॥

४. मदोन्मत्त बना देने वाली मदिरा है, सुशोभना योग कन्या है। वह विश्व में नारी कही जाती है जो स्वकीय गुणों से उद्भासित है।

4. She is like a maddening liquor and a charming maiden doomed to widowhood. Such a being is dubbed a female all over the world.

उच्छायणं कुलाणं तु, दव्वहीणाण लाघवो।
पतिट्ठा सव्वदुक्खाणं, णिट्ठाणं अज्जियाण य ॥५॥

५. (असंस्कारी) नारी कुल का नाश करती है, द्रव्यहीन (निर्धन) का तिरस्कार करती है, समस्त दुःखों का प्रतिष्ठास्थान है, अध्यवसाय अथवा आर्यत्व की नाशक है।

5. A female is prone to damn her family, belittle the penurious, a veritable mine of miseries and a damner of human endeavour.

गेहं वेराण गंभीरं, विग्घो सद्धम्मचारिणं।
दुट्ठासो अखलीणं व, लोके सुता किमंगणा? ॥६॥

६. गहन वैरभाव का घर है, सद्धर्माचरण करने वालों के लिए विघ्नभूत है, लगाम रहित दुष्ट अश्व के समान है, स्वेच्छाचारिणी है। ऐसी नारी लोक में कुनारी कही जाती है।

6. She is a storehouse of ill-will, a dampener of spiritual enterprise, a reinless steed. She is wanton by nature. Such a female deserves all condemnation.

इत्थी उ बलवं जत्थ, गामेसु णगरेसु वा।
अणस्सयस्स हेसं तं, अपव्वेसु य मुण्डणं ॥७॥

७. जहाँ ग्राम और नगरों में स्त्रियां बलवान हैं, बेलगाम घोड़े की तरह स्वच्छन्द हैं वे अपर्व के दिनों में मुण्डन के समान हैं।

7. The villages and towns dominated by females are anarchic and ominous.

धित् तेसिं गामणगराणं सिलोगो ॥८॥

८. वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य हैं जहाँ महिला शासिका है। वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य हैं जो नारी के वशीभूत हैं।

8. The villages and towns ruled by females are accursed. Damned are such males who are enamoured of females.

डाहो भयं हुतासातो, विसातो मरणं भयं।
छेदो भयं च सत्थातो, वालातो दसणं भयं ॥९॥

९. अग्नि से जलने का भय है, विष से मरने का भय है, शस्त्र से छेदन का भय है और सर्प से डसने का भय है।

9. Fire inflicts burn, poison a casualty, an arm a gaping wound and a serpent sting.

संकणीयं च जं वत्थुं, अप्पडीकारमेव य।
तं वत्थुं सुट्ठु जाणेज्जा, जुज्जन्ते जेऽणुजोइता ॥१०॥

१०. जो वस्तु शंकास्पद है उसका प्रतिकार भी सम्भव नहीं है। अतः उस वस्तु के उपभोक्ता को उसके त्याग और भोग का सम्यक् परिज्ञान होना चाहिए।

10. Perilous articles afford no immunity and a wise being is supposed to watch his own well-being while avoiding or acquiring such articles.

जत्थत्थी जे समारम्भा, जे वा जे साणुबन्धिणो।
ते वत्थु सुट्ठु जाणेज्जा, णेव सव्वविणिच्छये ॥११॥

११. जहाँ पर जो समारम्भ (हिंसादिक आस्रव) और जो सानुबन्ध हैं उस वस्तु का सम्यक् परिज्ञान करे। यह सम्यक् परिज्ञान ही सभी पदार्थों के निश्चय में सहायक होता है।

11. The Karma-generating indulgence and enterprise etc. should be morally wieghed and assessed. Such a circumspection alone helps a being in such matters.

जेसिं जहिं सुहुप्पत्ती, जे वा जे साणुगामिणो।
विणासी अविणासी वा, जाणेज्जा कालवेयवी ॥१२॥

१२. जिसके लिए जहाँ सुखोत्पादकता है और जो जिसके अनुगामी हैं, कालविद् उसके विनाशी और अविनाशी रूप को पहिचानें।

12. The pleasure-smacking indulgences etc. should be carefully examined on the moral scale.

सीसच्छेदे धुवो मच्चू, मूलच्छेदे हतो दुमो।
मूलं फलं च सव्वं च, जाणेज्जा सव्ववत्थुसु ॥१३॥

१३. मस्तक छेद से मृत्यु और जड़ के छेदन से वृक्ष का नाश निश्चित है। अतः विज्ञ समस्त पदार्थों में मूल और उसके फल का परिज्ञान करें।

13. A severe wound in head precedes a certain death and radical injury to a plant, its certain destruction. That enjoins upon a wise man a necessity for circumspection in this regard.

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ॥१४॥

१४. जो स्थान शरीर में मस्तक का है और वृक्ष के लिए जड़ का है वही स्थान समस्त मुनिधर्म के लिए ध्यान का है।

14. As head is vital to human body and root to a tree, so is meditation to a saint.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

गद्दभीयनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् दगभाल अथवा गर्दभ ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Daghhal, the seer, do pronounce.

[illegible] गद्दभीय, गर्दभालि नामक बावीसवाँ अध्ययन पूर्ण हुआ ।२२।

२३. तेवीसं रामपुत्तियज्झयणं

दुवे मरणा अस्सिं लोए एवमाहिज्जन्ति, तंजहा : सुहमतं चेव दुहमतं चेव। रा म पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइतं। एत्थं विण्णत्ति बेमि। इमस्स खलु ममाइस्स असमाहियलेसस्स गण्डपलिघाइयस्स। गण्डबन्धणपलियस्स गण्डबन्धणपडिघातं करेस्सामि। अलं पुरेमएणं। तम्हा गण्डबंधणपडिघातं करेत्ता णाणदंसणचरित्ताइं पडिसेविस्सामि। णाणेणं जाणिय दंसणेणं पासित्ता संजमेणं संजमिय तवेण अट्ठविहकम्म-रयमलं विधुणित विसोहिय अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तसंसा-रकन्तारं वीतिवतित्ता सिवमयलमरुयमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तियं सिद्धिगतिणामधिज्जं ठाणं संपत्ते अणागतद्धं सासतं कालं चिट्ठिस्सामि त्ति।

इस लोक में दो प्रकार के मरण कहे गये हैं। तद्यथा—१. सुख मृत्यु और २. दुःख मृत्यु। इसकी व्याख्या (प्रतिपादन) मैं यहाँ करूंगा।

ऐसा अर्हत् रामपुत्र ऋषि बोले—

मैं असमाधित—अशुभलेश्या वाला हूँ, गण्ड—राग-द्वेषमय दुःखमरण रूपी गाँठ (व्रण) से पीड़ित हूँ। दुःखमरण के ग्रन्थि बन्धन से जीण (शिथिल) हो रहा हूँ। इस ग्रन्थि का मैं नाश करूंगा, दुःखमरण का नाश करके रहूंगा। अतः दुःखमृत्यु रूपी गाँठ का नाश करके ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आसेवना करूंगा।

ज्ञान से जानकर, दर्शन से देखकर, संयम से संयमित होकर, तप से अष्ट-विध कर्मरज मैल को झड़का कर, आत्मा को शोधित कर, अनादि, अनन्त, दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिरूप संसार की अटवी को पार कर, शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अव्याबाध, पुनः जन्मरहित, सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त कर भविष्य में शाश्वत काल पर्यन्त मैं वहाँ स्थिति करूंगा।

Two kinds of death may end human life—a happy one or a miserable one.' This chapter will delineate the two, said Ramputra, the seer :

I am accursed with distractions and mundane traits. I suffer from the carbuncles of attachment-aversion. I am a sick being, prone to an unhappy doom. I resolve to avail of a remedy for this malaise. I will immunise myself from an unhappy doom. To shield myself from misery, I will practise righteous knowledge, vision and conduct.

I will cultivate righteous knowledge, witness truth, restrain myself with austerity, practise penances to chasten my soul from all Karmic smear, divert myself from the timeless mundane course and attain the highest pinnacle of birth-free, blissful, perennial existence, not to revert therefrom even once.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

रामपुत्तियज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण-त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् रामपुत्र ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Ramputra, the seer, do pronounce.

रामपुत्र नामक तेवीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।२३।

२४. चउवीसं हरिगिरिणामज्झयणं

सव्वमिणं पुरा भव्वं, इदाणिं पुण अभव्वं। हरिगिरिणा अरहता इसिणा बुइतं।

पहले यहां सब कुछ भव्य (भवितव्यतापेक्ष) था। अब सब कुछ अभव्य (भवितव्य रहित) है।

ऐसा अर्हत् हरिगिरि ऋषि बोले—

Previously, existence was prone to unpredictable occurrences. Now that uncertainty is no more, said Harigiri the seer :

चयन्ति खलु भो य णेरइया णेरतियत्ता तिरिक्खा तिरिक्खत्ता मणुस्सा मणुस्सत्ता देवा देवत्ता, अणुपरियट्टन्ति जीवा चाउरन्तं संसार-कन्तारं कम्माणुगामिणो। तधा वि मे जीवे इधलोके सुहुप्पायके, परलोके दुहुप्पादए अणिए अधुवे अणितिए अणिच्चे असासते सज्जति रज्जति गिज्झति मुज्झति अज्झोववज्जति विणिघातमावज्जति। इमं च णं पुणो सडण-पडण-विकिरण-विद्धंसणधम्मं अणेगजोगक्खेमस-मायुत्तं जीवस्सऽतारेलुकिं संसारणिव्वेढिं करोति, संसारणिव्वेढिं करेत्ता अणाइयं अनवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तसंसारसागरं अणुपरियट्टइ। तम्हाऽधुवं असासतमिणं संसारे सव्वजीवाणं संसतीकारणमिति णच्चा णाणदंसणचरित्ताणि सेविस्सामि, णाणदंसणचरित्ताणि सेवित्ता अणा-दीयं जाव कन्तारं वीतिवतित्ता सिवमचल जाव ठाणं अब्भुवगते चिट्ठिस्सामि।

भों! नारकी नारकत्व को, तिर्यञ्च योनिवाले तिर्यक् योनित्व को, मनुष्य मनुष्यत्व को और देव देवत्व को छोड़कर, कर्मानुगामी जीव चतुर्गतिरूप संसारवन में परिभ्रमण करते हैं। तथापि मेरी आत्मा इस लोक में सुख का उत्पादन करती है, परलोक में दुःख पैदा करती है। अनियत, चंचल, अव्यवस्थित, अनित्य और अशाश्वत इस लोक में यह (मेरी आत्मा) आसक्त होती है, अनुरक्त होती है, गृद्ध होती है, मोहित होती है, अत्यासक्त होती है और मरण प्राप्त करती है। यही पुनः संसार में सड़ती, गिरती, बिखरती, नष्ट आदि धर्मो को प्राप्त करती है। विविध योग-क्षेम और समत्व से रहित जीव के लिए यह संसार दुस्तरणीय है। वह संसार

के गाढ़-बन्धनों से बँधता है। संसार के गाढ़-बन्धनों से बन्धकर, अनादि अनन्त, दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिरूप संसार सागर में परिभ्रमण करता है। अतः चंचल और अशाश्वत इस संसार में सभी जीवों के लिए आसक्ति ही संसार-भ्रमण का कारण है। ऐसा जानकर मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उपासना करूँगा। ज्ञान दर्शन चारित्र की उपासना कर, अनादि यावत् संसारवन का अतिक्रमण कर, शिव, अचल, यावत् शाश्वत स्थान को प्राप्त कर मैं वहीं स्थिति करूँगा।

Different classes of beings, infernal ones, unevolved gross beings, animals, angels and human beings, tread their prescribed respective courses in the vast universe, perpetually, after budging from their original station. My self seeks happiness for itself in the instant incarnation to have a miserable aftermath hereafter. My self is snared and allured and tempted by this instable, transitory and chaotic world. Then it falls prey to it and meets its last doom. In a fresh spell of suffering it further encounters calamities of incarceration, disintegration and ruination. This abysm of life is too deep for human beings devoid of Yoga, tranquillity and equanimity. Man is inextricably bound to mundane existence. This bondage carries him like flotsam along the immeasurable oceanic expanse. That reveals how this rut of attachment is the cause of endlessly miserable but transitory course of life for individuals. Having realised this truth, I resolve to cultivate righteous knowledge, vision and conduct, and thereby surmount this fierce jungle called life, to attain the station par excellence, infallible and supremely accomplished ever and anon.

कन्तारे वारिमज्झे वा, दित्ते वा अग्गिसंभमे।
तमंसि वा जधा णेता, तधा धम्मो जिणाहितो ॥१॥

१. जैसे जंगल, जल, प्रकाश, अग्नि ज्वाला और अन्धकार में मार्गदर्शक आवश्यक है वैसे ही जिन प्रतिपादित धर्म का ज्ञान आवश्यक है।

1. As one requires guidance in a jungle, watery course, dazzling light, fire and darkness, so one requires knowledge of Jainism.

धारणी सुसहा चेव, गुरू भेसज्जमेव वा।
सद्धम्मो सव्वजीवाणं, णिच्चं लोए हितंकरो ॥२॥

२. सर्वंसहा पृथ्वी और प्रशस्त औषधियां इस लोक में प्राणीमात्र के लिए हितकर हैं। इसी प्रकार सद्धर्म भी इस लोक में समस्त प्राणियों के लिए सर्वदा हितकर है।

2. The all-tolerant terra firma and beneficial drugs are benign to all and sundry. So is the true religion to each of us.

सिग्घवट्टिसमाउत्ता, रधचक्के जहा अरा ।
फडन्ता वल्लिच्छेया वा, सुहदुक्खे सरीरिणो ॥३॥

३. जैसे रथचक्र में प्रयुक्त आरा पहिये की परिवर्तन गति को शीघ्रता प्रदान करता है। [वृक्ष के] फट जाने अथवा वक्र हो जाने पर लताओं का छेदन/नाश हो जाता है वैसे ही देहधारियों के सुख-दुःख भी गतिशील व स्फुटित होते हैं।

3. As the radial spokes of a wheel conduce to acceleration, just like the destruction of creepers when the tree is distorted. So does true religion to relieve individuals of pleasure-pain syndrome.

संसारे सव्वजीवाणं, गेही संपरियत्तते ।
उदुम्बकतरूणं वा, वसणुस्सवकारणं ॥४॥

४. समस्त जीव आसक्ति के कारण संसार में परिभ्रमण करते हैं। जैसे उदुम्वर वृक्षों का प्रसव-दोहद व्यसनोत्सव का कारण वनता है। (वैसे ही संसार परिभ्रमण का हेतु आसक्ति है।)

4. All beings get entangled in this turmoil called life due to attachment, as liquor brewed from plants leads to orgies and carousal.

वण्हि रविं ससंकं वा, सागरं सरियं तहा ।
इन्दज्झयं अणीयं च, सज्जं मेहं व चिन्तए ॥५॥

५. अग्नि, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, नदी, इन्द्रध्वज और सेना (के स्वरूप) को नूतन मेघ की तरह समझो।

5. Fire, sun, moon, ocean, river, divine regalia and martial honours are all as shortlived as a new cloud.

जोव्वणं रूपसंपत्तिं, सोभागं धणसंपदं ।
जीवितं वा वि जीवाणं, जलबुब्बुयसंणिभं ॥६॥

६. प्राणियों का जीवन, यौवन, रूप-सौन्दर्य, सौभाग्य, धन और सम्पदा जल बुद्बुद के समान (नश्वरशील) है।

6. Life, youth, beauty, prosperity, wealth and estate are no more than a bubble in water.

देविन्दा सुमहिड्ढीया, दाणविन्दा य विस्सुता।
णरिन्दा जे य विक्कन्ता, संखयं विवसा गता ॥७॥

७. महर्द्धिसम्पन्न देवेन्द्र, विख्यात दानवेन्द्र और पराक्रमशाली नरेन्द्र एक दिन विवश होकर चले गये।

7. Great divinities, marvellous demons and valorous princes who had an ignoble end are now no more to be seen.

सव्वत्थ णिरणुक्कोसा, णिव्विसेसप्पहारिणो।
सुत्तमत्तपमत्ताणं, एका जगतिऽणिच्चता ॥८॥

८. जगत में सुप्त, मत्त, और प्रमादी प्राणियों पर अनित्यता निर्दय होकर समान रूप से सर्वत्र प्रहार करती है।

8. The somnolescent, defiant and vainglorious individuals meet the same none-too-enviable fate at the hands of ruthless death.

देविन्दा दाणविन्दा य, णरिन्दा जे य विस्सुता।
पुण्णकम्मोदयब्भूतं, पीतिं पावन्ति पीवरं ॥९॥

९. देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्र जो प्रख्यात हैं वे पुण्यकर्म के उदय से उन्नति और प्रीति को प्राप्त करते हैं।

9. The worshipful divinities, demi-gods and princes enjoy their legendary fame so long as their happy destiny caused by virtuous deeds is in the ascent.

आऊ धणं बलं रूवं, सोभाग्गं सरलत्तणं।
णिरामयं च कन्तं च, दिस्सते विविहं जगे ॥१०॥

१० आयु, धन, बल, सौन्दर्य, सौभाग्य, सरलता, नीरोगता और मनोहारिता जगत् में विविध रूपों में दिखाई देती है।

10. We come across the cherished longevity, prosperity, physical charm, good-luck, straight-forwardness, health and magnetism in various forms.

सदेवोरगगन्धव्वे, सतिरिक्खे समाणुसे ।
णिब्भया णिव्विसेसा य, जगे वत्तेयऽणिच्चता ॥११॥

११. विश्व में देव, सर्प, गन्धर्व, तिर्यक् और मनुष्य सृष्टि में अनित्यता समान रूप से निर्भय होकर भ्रमण करती है ।

11. Gods, serpentine demi-gods, angels, beasts and men are all inevitably at the sheer mercy of transience.

दाणमाणोवयारेहिं, सामभेयक्किंयाहि य ।
ण सक्का संणिवारेउं, तेलोक्केणाविऽणिच्चता ॥१२॥

१२. दान, मान, उपचार, साम, भेद, और क्रिया आदि ही नहीं अपितु तीनों लोक की शक्तियां भी इस अनित्यता को रोकने में सक्षम नहीं है ।

12. This momentary nature of life defies all remedies, charity, ego, sundry efforts, craft and all imaginable endeavours by man or by gods.

उच्चं वा जति वा णीयं, देहिणं वा णमस्सितं ।
जागरन्तं पमत्तं वा, सव्वत्थानाऽभिलुप्पति ॥१३॥

१३. देहधारी चाहे उच्च हो या नीच हो, दूसरों से नमस्कृत हो, जागृत हो या प्रमत्त हो, अनित्यता सबका नाश करती है ।

13. Whoever is reincarnated, be he noble or mean, honoured, vigilant, or defiant is doomed to end in death.

"एवमेतं करिस्सामि, ततो एवं भविस्सति ।"
संकप्पो देहिणं जो य, ण तं कालो पडिच्छती ॥१४॥

१४. "मैं इस प्रकार करूँगा तो ऐसा हो जाएगा" मानव के मन में इस प्रकार के संकल्प चलते रहते हैं, किन्तु काल उसके संकल्पों को स्वीकार नहीं करता है ।

14. One keeps on calculating in one's own way but death explodes all such castles in the air.

जा जया सहजा जा वा, सव्वत्थेवाणुगामिणी ।
छाय व्व देहिणो गूढा, सव्वमन्नेतिऽणिच्चता ॥१५॥

१५. प्राणी कहीं भी जावे किन्तु अनित्यता छाया की भांति स्वाभाविक रूप से सर्वत्र उसके साथ रहती है। छाया पृथक् भी दृष्टिगत हो सकती है किन्तु अनित्यता इतनी प्रच्छन्न है कि कहीं भी दिखाई नहीं देती।

15. Wheresoever one may flee, death, like an inseparable shadow, chases him invariably. Shadow may be detected or ridden off. Not so the invisible death.

कम्मभावेऽणुवत्तन्ती, दीसन्ती य तधा तधा ।
देहिणं पकतिं चेव, लीणा वत्तेयऽणिच्चता ॥१६॥

१६. कर्म के सद्भाव में यह अनित्यता आत्मा से संलग्न रहती हुई विभिन्न रूपों में दिखाई देती है। इस अनित्यता ने शरीरधारी की प्रकृतियों को लीन कर रखा है।

16. By virtue of Karmas transitoriness remains screwed to soul, appearing variously. This transitoriness inheres in the very nature of a being.

जं कडं देहिणा जेणं, णाणावण्णे सुहासुहं ।
णाणऽवत्थन्तरोवेतं, सव्वमण्णेति तं तहा ॥१७॥

१७. प्राणी अनेक प्रकार के जो शुभाशुभ कर्म करता है उसी से वह अच्छा या बुरा बनता है। इसी को वह पूर्ण मान लेता है।

17. The individual performs good and evil deeds and reaps the harvest that shapes him accordingly. He deems these passing phases as the end product.

कन्ती जा वा वयोवत्था, जुज्जन्ते जेण कम्मुणा ।
णिव्वत्ती तारिसी तीसे, वायाए व पडिंसुका ॥१८॥

१८. जिस कर्म ने जिस प्रकार की क्रान्ति/परिवर्तन का योग होता है उसी प्रकार का सौन्दर्य, वय (तारुण्य) अवस्था का (भिन्न-भिन्न) निर्माण होता है। ऐसा (जिन) वाणी द्वारा अंगीकृत है।

18. Specific Karmas result in specific changes and award corresponding shape and looks to the bearer. This thesis is endorsed by Jainism.

ताहं कडोदयुब्भूया, णाणागोयविकप्पिया ।
भंगोदयऽणुवत्तन्ते, संसारे सव्वदेहिणं ॥१६॥

१६. पूर्वोक्त और नानाविध गोत्रों के विकल्प स्वकृत कर्मों के उदय में आने पर बनते हैं। समस्त प्राणी संसार में कर्मों के भंग/नाश और उदय के अनुसार ही चलते हैं।

19. One is born in corresponding families accordingly. All individuals rise and fall in accordance with the cross-section of their Karmic accumulation at a given point of time.

कम्ममूला जहा वल्ली, वल्लीमूलं जहा फलं ।
मोहमूलं तहा कम्मं, कम्ममूला अणिच्चया ॥२०॥

२०. जैसे वल्ली का मूल कन्द है, जैसे फल का मूल वल्ली है वैसे ही कर्म का मूल मोह है तथा अनित्यता का मूल कर्म है।

20. As a taproot sustains a plant and the latter, in its turn, a fruit so bewildering attachment generates Karma and the latter, in its turn, death.

बुज्झए बुज्झए चेव, हेउजुत्तं सुभासुभं ।
कन्दसंदाणसंबद्धं, वल्लीणं व फलाफलं ॥२१॥

२१. हेतुयुक्त शुभ और अशुभ कर्म का बोध/विवेक प्राप्त करें। जैसे कन्द से वल्ली और फलाफल अर्थात् अच्छे या बुरे फल अवलम्बित एवं नियन्त्रित—संबद्ध हैं।

21. As a tap-root upholds plant and fruit so do respective Karmas good and evil destiny. Hence one should vigilantly discern good deed from the evil one.

छिण्णादाणं सयं कम्मं, भुज्जए तं न वज्जए ।
छिन्नमूलं व वल्लीणं, पुव्वुप्पण्णं फलाफलं ॥२२॥

२२. स्वकृत कर्मों के आगमन पर उनका छेदन कर उनको भोगे। प्राप्त कर्मों का त्याग संभव नहीं है। लता का नाश होने पर फल नष्ट हो जाते हैं, किन्तु पूर्वोत्पन्न कर्मों के फलाफल का उपभोग करना ही पड़ता है।

22. The reward of one's own deeds should be stoically withstood to exhaust it. Accumulated Karmas can never be dispensed with. Fruits crumble, once the creeper bearing these withers. Not so with Karmas; one has got to suffer their outcome inevitably.

छिन्नमूला जहा वल्ली, सुक्कमूलो जहा डुमो ।
नट्ठमोहं तहा कम्मं, सिण्णं वा हयणायकं ॥२३॥

२३. जिसकी जड़ छिन्न हो चुकी है ऐसी लता और जिसकी जड़ सूख गई है ऐसा वृक्ष नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मोह का नाश होने पर कर्मों का नाश हो जाता है। जैसे सेनापति का नाश होते ही सेना भाग जाती है।

23. A climber and a tree sans roots wither away. So do Karmas once they are devoid of attachment. The phenomenon is like the fleeing forces once the commander is dead.

अप्पारोही जहा बीयं, धूमहीणो जहाऽनलो ।
छिन्नमूलं तहा कम्मं, नट्ठसण्णो व देसओ ॥२४॥

२४. विनष्ट (शक्तिहीन) बीज और धूम्ररहित अग्नि जैसे नष्ट हो जाते हैं वैसे ही कर्म का मूल मोह के नष्ट हो जाने पर समस्त कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। जैसे नष्ट संज्ञा वाला उपदेशक समाप्त हो जाता है।

24. As the poorly sown seed and the smokeless fire last not, so do Karmas exhaust once the sustaining attachment ceases to exist. It is like a swooning preacher's utterance.

जुज्जए कम्मुणा जेणं, वेसं धारेइ तारिसं ।
वित्तकन्तिसमत्थो वा, रंगमज्झे जहा नडो ॥२५॥

२५. जिस प्रकार के कर्मों से युक्त होगा उसी प्रकार का वह वेष, सम्पत्ति, सौन्दर्य और सामर्थ्य को धारण करेगा। जैसे रंगमण्डप में नट धारण करता है।

25. As an actor dons various garbs suitable to his role on the stage, so does an individual as dictated by his Karmas in respect of wealth, countenance and strength.

संसारसंतई चित्ता, देहिणं विविहोदया ।
सव्वे दुमालया चेव, सव्वपुप्फफलोदया ॥२६॥

२६. देहधारियों को संसार रूपी बीज की परम्परा विचित्र और विविध रूप में प्राप्त होती है। (बीजभेद से) जैसे समस्त वृक्ष पुष्पों और फलों से विविध प्रकार के प्राप्त होते हैं।

26. Individuals harvest their Karmic rewards in multifarious shapes in the world as do varying plants, myriad kinds of fruits and flowers.

पावं परस्स कुव्वन्तो, हसए मोहमोहिओ।
मच्छो गलं गसन्तो वा, विणिग्घायं न पस्सई ॥२७॥

२७. मोहग्रस्त जीव दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हँसता है। मछली (आटे की गोली) गले में उतारते समय नाशकारी कांटे को नहीं देखती है।

27. A selfish and sinful being seeks to harm another. He is like a fish swallowing the bait ignorant of the fatal hook.

परोवघायतल्लिच्छो, दप्पमोहबलुद्धुरो।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं न विन्दई ॥२८॥

२८. दूसरे की घात करने की इच्छा वाला व्यक्ति अहंकार और मोहमल्ल से उद्धत होने के कारण गुण और दोष से शून्य (विवेकहीन) हो जाता है। जैसे जर्जर वृद्ध सिंह निर्बल प्राणियों का वध करते समय विवेक शून्य हो जाता है।

28. A selfish, destructive individual is devoid of discretion in the vainglorious sway, like the fabulous senile tiger marauding weaklings.

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लिओ।
दित्तं पावइ उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणो ॥२९॥

२९. जैसे जल में रहा हुआ हाथी उत्तेजित हो जाता है वैसी ही मोहमल्ल से प्रेरित आत्मा वर्तमानिक भोगों में अत्यासक्त और उत्तेजित हो जाता है।

29. As the waterbound elephant loses patience, and is flabbergasted so does an individual engrossed in present pleasures.

स-वसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेएइ दुम्मई।
आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्कघाओ दुहट्टिओ ॥३०॥

३०. स्वकृत पूर्वपाप के वशीभूत होकर दुर्मति जीव दुःख का अनुभव करता है। वह गले में फंदा कसकर दुःख और विपदाओं की धारा में अपने आपको छोड़ देता है।

30. An unwise individual is heir to misery on account of his earlier sins. He strangulates his own self and embraces the train of miserable events.

चंचलं सुहमादाय, सत्ता मोहम्मि माणवा ।
आइच्चरस्सितत्ता वा, मच्छा झिज्जन्तपाणिया ॥३१॥

३१. चंचल सुख को प्राप्त कर मानव मोह में आसक्त हो जाते हैं किन्तु बाद में सूर्य की किरणों से तप्त जल के क्षय होने पर मछली की भांति तड़फते हैं।

31. Human beings abandon themselves in sheer orgies and then regret like a fish out of water evaporated in scorching sun.

अधुवं संसिया रज्जं, अवसा पावन्ति संखयं ।
छिज्जं व तरुमारूढा, फलत्थी व जहा नरा ॥३२॥

३२. अस्थिर राज्य में आश्रित व्यक्ति अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है। जैसे छेद/नाश होने योग्य वृक्ष पर बैठा हुआ फलाकांक्षी मानव।

32. One dependent for livelihood on a shaky kingdom is virtually doomed as a man waiting for fruits on a branch when the tree is nearing its felling.

मोहोदये सयं जन्तू, मोहन्तं चेव खिसई ।
छिण्णकण्णो जहा कोई, हसिज्ज छिन्ननासियं ॥३३॥

३३. प्राणी स्वयं मोहोदय से मोहित/ग्रस्त होने पर भी दूसरे की निन्दा-अवहेलना करता है। जैसे कटे कान वाला व्यक्ति कटी नाक वाले को देखकर हंसता है।

33. Individuals prone to moral confusion often indulge in backbiting as a noseless creature may deride one who is earless.

मोहोदई सयं जन्तू, मन्दमोहं तु खिसई ।
हेमभूसणधारि व्वा, जहाऽलक्खविभूसणं ॥३४॥

३४. स्वयं मोहोदयी प्राणी अन्य मन्दमोही प्राणी को देखकर उसका तिरस्कार करता है। जैसे सोने के आभूषण पहनने वाला लाख के आभूषण पहनने वाले को देखकर हंसता है।

34. A morally confused creature's derision of another similar one is like a poorly decked individual's contumely upon a better decked one.

मोही मोहीण मज्झम्मि, कीलए मोहमोहिओ।
गहीणं व गही मज्झे, जहत्थं गहमोहिओ ॥३५॥

३५. मोहमुग्ध प्राणी मोहग्रस्त होकर मोही प्राणियों के मध्य में क्रीड़ा करता है। जैसे ग्रहावेश से ग्रथिल व्यक्ति पागलों के मध्य में पागल चेष्टायें करता है।

35. A bewildered individual performs his antics amongst similar moral bankrupts. It is like a patient of dementia tremens performing horse-play amongst similar madcaps.

बन्धन्ता निज्जरन्ता य, कम्मं नऽण्णं ति देहिणो।
वारिग्गाह घडीउ व्व, घडिज्जन्तनिबन्धणा ॥३६॥

३६. प्राणी स्वयं कर्म बान्धता है और उनकी निर्जरा भी स्वयं ही करता है किन्तु इससे कर्म-परम्परा समाप्त नहीं हो जाती है। जैसे पानी की घड़ी भरती है, खाली होती है उसी प्रकार इसका क्रम चलता रहता है।

36. It is the individual who authors the Karmic fetters and it is again he who destroys these. However the series remains interminable like a pitcher filling and emptying alternately add infinitum.

बज्झए मुच्चए चेव, जीवो चित्तेण कम्मुणा।
बद्धो वा रज्जुपासेहिं, ईरियन्तो पओगसो ॥३७॥

३७. प्राणी स्वकीय विचित्र कर्मों से बद्ध और मुक्त होता है, जैसे रस्सी से बंधा हुआ व्यक्ति दूसरे के इशारे पर चलता है।

37. A fettered individual looks helpless at another's behest. So does an individual bound by his own past deeds.

कम्मस्स संतइं चित्तं, सम्मं नच्चा जिइंदिए।
कम्मसंताणमोक्खाय, समाहिमभिसंधए ॥३८॥

३८. जितेन्द्रिय कर्म-परम्परा के वैचित्र्य को सम्यक् प्रकार से जाने और कर्म सन्तति से मुक्त होने के लिए समाधि को प्राप्त करे ।

38. An ascetic should fathom the all-too-mysterious Karmic maze and should resort to meditation to free himself of it.

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
निच्चानिच्चं तु विण्णाय, संसारे सव्वदेहिणं ।।३९।।

३९. विश्व के समस्त देहधारियों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य तथा अनित्य रूप से जाने ।

39. All the individuals existent are shortlived in respect of substance, space, time and existence.

निच्चलं कयमारोग्ग, थाणं तेलोक्कसक्कयं ।
सव्वण्णुमग्गाणुगया, जीवा पावन्ति उत्तमं ।।४०।।

४०. सर्वज्ञ प्रदर्शित मार्ग के अनुगामी जीव त्रैलोक्य से सत्कृत, आरोग्यकारी, निश्चल और प्रशस्त स्थान को प्राप्त करते हैं ।

40. Those who follow the preaching of the omniscient beings attain the summum bonum and sit supreme over the cosmos in bliss.

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

हरिगिरिणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् हरिगिरि ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an espirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Harigiri, the seer do pronounce.

हरिगिरि नामक चौतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३४।

२५. पणवीसं अम्बडज्झयणं

[१.] तए णं अम्बडे परिव्वायए जोगंधरायणं एवं वयासी: "मणे मे विरई भो देवाणुप्पिओ, गब्भवासाहि, कहं न तुमं बम्भयारि ?" तए णं जोगंधरायणे अम्बडं परिव्वायगं एवं वयासी : आरिया एहि या एहि ता आयाणाहि। जे खलु हारिता पावेहिं कम्मेहिं, अविप्पमुक्का ते खलु, गब्भवासाहि सज्जन्ति। ते सयमेव पाणे अतिवातेन्ति अण्णे वि पाणे अतिवातावेन्ति अण्णे वि पाणे अतिवातावेन्ते वा सातिज्जन्ति समणुजाणन्ति; ते सयमेव मुसं भासन्ति....सातिज्जन्ति समणुजाणन्ति; अविरता अप्पडिहतापच्चक्खा-तपावकम्मा मणुजा अदत्तं आदियन्ति....सातिज्जन्ति समणुजाणन्ति; ते सयमेव अब्बम्भपरिग्गहं गिण्हन्ति मीसियं भणियव्वं जाव समणुजाणन्ति। एवामेव ते अस्संजता अविरता अप्पडिहतापच्चक्खा-तपावकम्मा सकिरिया असंवुता एकन्तदण्डा एकन्तबाला बहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता इतो चुता दुग्गतिगामिणो भवन्ति। एहि हारिता आयाणाहिं।

१. पश्चात् अम्बड परिव्राजक ने योगन्धरायण से इस प्रकार कहा—भो देवानुप्रिय! मेरे मन में गर्भावास से विरक्ति है। हे ब्रह्मचारी! तुम्हें गर्भावास (अथवा गर्भावास—मैथुन से विरक्ति क्यों नहीं है ?

तत्पश्चात् योगन्धरायण ने अंबड परिव्राजक से इस प्रकार कहा—आर्य! आओ, आओ—इस तथ्य को समझो। पाप कर्मो से पराभूत और बद्ध पुरुष निश्चय से गर्भावास में उत्पन्न होते हैं। वे स्वयं प्राणियों की हिंसा करते हैं और दूसरों के प्राणों की हिसा करवाते है। जो दूसरे प्राणियों का वध करते है, वध के लिए दूसरों को प्रेरित करते हैं तथा उसका अनुमोदन करते हैं। वे स्वयं मृषा/झूठ बोलते हैं, मृषा के लिए दूसरों को प्रेरित करते हैं, मृषा का अनुमोदन करते हैं। जो मानव अविरत हैं, जो पाप कर्मो की परिणति को रोकने के लिए प्रत्याख्यान नहीं करते हैं वे अदत्तादान/चोरी का भी सेवन करते हैं, दूसरों को चोरी के लिए प्रेरित करते हैं और उसका अनुमोदन करते हैं। जो स्वयं अब्रह्मचर्य और परिग्रह का सेवन करते हैं। यहां मैथुन और परिग्रह का मिश्रित संयुक्त वक्तव्य है। यावत् वे काम-वासना और परिग्रह के लिए दूसरों को प्रेरणा देते हैं और उसका अनुमोदन करते हैं। इस प्रकार वे असंयत, अविरत, प्रत्याख्यान रहित, पापकर्म करने में सक्रिय, असंवृत,

पूर्णत: दण्ड पाने योग्य और पूर्णत: अज्ञानशील प्राणी अनेक प्रकार के निकृष्ट और कलुषित पापकर्मों का उपार्जन करते हैं और यहां से मरण प्राप्त कर दुर्गतिगामी होते हैं। यही आत्मा की पराजय है, समझो।

1. Ambad, the homeless nomad, addressed himself to Yaugandharayan thus :

How be it that you are not averse to foetal existence while I am bent upon avoiding it, O continent being ?

He further added : Let's endeavour to understand the issue. Sins drive man wombward invariably after fettering him. Such beings cause mass killings themselves and abet others. Such beings indulge in bloody deeds, abet others for avarice and endorse such deeds. They perjure, abet others and second such falsehood. They rise the high tide of ceaseless actions and never attempt to counter it. They commit burglary, abet others to do it and support such misdeeds. They commit felonies of all sorts, including incontinence and acquisition, prompt others to indulge in these and lend moral support to such acts. Such fatuous, unrestrained beings incessantly commit sins, multiply deeds, and immodestly attract retribution. They pile up sin on sins and are hurled into purgatory hereafter. Such is a soul defeated.

[२.] जे खलु, आरिया, पावेहिं कम्मेहिं विप्पमुक्का ते खलु गब्भवासाहि णो सज्जन्ति। ते णो सयमेव पाणे अतिवातिन्ति एवं तधेव विपरीतं जाव अकिरिया संवुडा एकन्तपण्डिता ववगतरागदोसा तिगुत्तिगुत्ता तिदण्डोवरता णीसल्ला आयरक्खी ववगयचउक्कसाया चउविकहविवज्जिता पंचमहव्वया तिगुत्ता पंचिंदियसंवुडा छज्जीवणिकायसुट्ठुणिरता सत्तभयविप्पमुक्का अट्ठमयट्ठाणजढा णववम्भचेरजुत्ता दससमाहिट्ठाणसंपयुत्ता बहुं पावं कम्मं कलिकलुसं खवइत्ता इतो चुया सोग्गतिगामिणो भवति।

२. जो आर्य पापकर्म से विमुक्त हैं वे निश्चय ही गर्भावास में उत्पन्न नहीं होते हैं। वे स्वयं दूसरे प्राणियों का वध नहीं करते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त वर्णन से विपरीत उनका जीवन होता है। यावत् वे पापक्रिया रहित, संवृत्त, पूर्णत: पण्डित, राग-द्वेषरहित, मनोवाक्कायगुप्ति से रक्षित, मनोदण्ड वचनदण्ड

कायदण्ड से रहित, माया-निदान-मिथ्यादर्शन शल्य से रहित, आत्मरक्षी, चार-कषाय—क्रोध मान माया लोभ रहित, चार विकथा—राज, स्त्री, देश, भक्त से रहित, पांच महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह से युक्त, तीनों गुप्तियों से गुप्त, पांचों इंद्रियों से सुसंवृत्त, षड्जीवनिकाय—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस के सम्यक् प्रकार से रक्षक, सात भयों—इहलोक, परलोक, आदान, अकस्मात्, आजीविका, अपयश, और मृत्यु भय से विमुक्त, आठ मदस्थानों—जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, ज्ञान और सत्ता मद से रहित, नवविध ब्रह्मचर्य के पालक एवं दस प्रकार की समाधि से संयुक्त होते हैं और अनेक प्रकार के निकृष्ट तथा कलुषित पाप कर्मों का क्षय करते हैं। वे यहां से च्युत/मरण प्राप्त कर सद्गतिगामी होते हैं।

2. Those beings, who are free of sins are spared of foetal experience. They abstain from all killing. Their mode of life is just the reverse of what has been delineated above. They are ever sinfree, restrained, profoundly accomplished, and free from attraction-aversion. Their thinking, speech and actions are restrained and least offensive. They are protected from the sin of wrong perspective. They guard their self cautiously. The four sins of wrath, vanity, attachment and avarice touch them not. They are unencumbered with empire, female, abode and follower. They follow the five-fold observance of non-violence, truth, non-stealing, continence and non-acquisition. Their five senses are well under control. They afford full protection to all living beings, earth, water, fire, air and vegetation. They have least fear of world, heavens, loss of livelihood, infamy and death. They have no vanity of caste, family, strength, looks, wealth, penance, knowledge and status. They observe nine varieties of continence and ten kinds of meditation. They are ridded of all sins and they glide into higher realms hereafter.

[३.] ते णं, भगवं, सुत्तमग्गाणुसारी खीणकसाया दन्तेन्दिया सरीरसाधारणऽट्ठा जोगसंधाणताए णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमुप्पायणासुद्धं इतराइतरेहिं कुलेहिं परकडं परणिट्ठितं विगतिगालं विगतधूमं पिण्डं सेज्जं उवधिं च गवेसमाणा संगतविणयोवगारसालिणीओ कलमधुररिभितभासिणीओ संगतगतहसितभणितसुन्दरथणजहणपडिरूवाओ इत्थियाओ पासित्ता णो मणसा वि पाउब्भावं गच्छन्ति।

३. अतः हे भगवन् ! सूत्र-प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने वाले वे मुमुक्षु प्राणी क्षीण-कषायी और जितेन्द्रिय होते हैं। वे शरीरधारण और योग-साधन के लिए नवकोटिविशुद्ध, दस दोषों से रहित, उद्गम और उत्पादन के दोषों से मुक्त, विभिन्न कुलों में दूसरे के द्वारा बनाया हुआ और दूसरे के लिए निष्पादित, अग्नि और धूमरहित पिण्ड/भोजन, शय्या और उपधि की अन्वेषणा करते हैं। गवेषणा करते हुए समुचित विनयोपचार में निपुण, मनोहर और मधुर स्वर से सम्भाषण करने वाली, हास्य विनोद करने में चतुर, सुन्दर स्तन और जंघाओं से सुशोभित, अनुपम सौन्दर्यधारिणी नारियों को देखकर भी उनके हृदय में वासना का अंकुर भी उत्पन्न नहीं होता है।

3. Such aspirants O Lord, tread the scripture-enunciated path. They are free of moral lapses and are masters of the senses. They are fully chaste and abstain from lapses of creation and enterprise. They are content with food obtained as alms from different households, not specifically cooked for them on smokeless fire and bed that might be as and when available. Femme fatalle who are accomplished and courteous endowed with melodious and titillating voice, with tempting bust and charming brows attract them not, nor tempt them.

[४.] से कधमेतं ? विगतरागता सरागस्स वि य णं अविक्खहत-मोहस्स। तत्थ तत्थ इतराइतरेसु कुलेसु परकडं जाव पडिरूवाइं पासित्ता णो मणसा वि पाउब्भावो भवति।

४. यह क्षीणकषायता और जितेन्द्रियता कैसे सम्भव है ? यह राग-रहितता मोहविजेता में पूर्णतः होती है और अंशतः रागमुक्त आत्मा में भी होती है। यहाँ-वहाँ विभिन्न कुलों में दूसरे के द्वारा निर्मित यावत् निरुपम सौन्दर्य-धारिणी नारियों को देखकर भी उन रागमुक्त प्राणियों के मन में वासना का उद्भव नहीं होता है।

4. How does one attain such pureheartedness and abstinence ? This freedom of attachment is found absolutely present in one who has smothered all attachment and partly present in disattached souls. The casually meeting paragons of beauty of various families never provoke libido in them.

[५.] तं कहमिति ?

मूलघाते हतो रुक्खो, पुप्फघाते हतं फलं।
छिण्णाए मुद्धसूईए, कतो तालस्स रोहणं ? ॥१॥

५. यह किस प्रकार सम्भव है ?

१. मूल का नाश करने पर वृक्ष नष्ट हो जाता है। पुष्प का नाश करने पर फल नष्ट हो जाते हैं। ताड़ वृक्ष के मूर्द्धन्य—अग्रभाग का सूची से छेदन करने पर उसकी वृद्धि कैसे हो सकती है ?

5. How does one accomplish it ?

1. Nip the root and the tree is no more. Pluck the flower and the fruit is gone. Once the apical meristem of the palm tree is punctured how can the stem grow ?

[६.] से कधमेतं ? हत्थिमहारुक्खणिदरिसणं तेल्लापाउधम्मं किंपागफलणिदरिसणं। से जधा णामते साकडिए अक्खमक्खेज्जा 'एस मे णो भजिस्सति भारं च मे वहिस्सति', एवामेवोवमाए समणे णिग्गन्थे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे णो अतिक्कमेति : वेदणा वेयावच्चे तं चेव। से जधा णामते जतुकारए इंगालेसु अगणिकायं णिसिरेज्जा 'एस मे अगणिकाए णो विज्भाहिति जतुं च तावेस्सामि', एवामेवोवमाए समणे णिग्गन्थे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे णो अतिक्कमेति : वेदणा वेयावच्चे तं चेव। से जधा णामते उसुकारए तुसेहिं अगणिकायं णिसिरेज्जा 'एस मे अगणिकाए णो विज्भाहिति उसुं च तावेस्सामि', एवामेवोवमाए समणे णिग्गन्थे सेसं तं चेव ॥

६. यह शुद्ध पिण्ड—आहार किस प्रकार सम्भव है ? जिस प्रकार हाथी बड़े-बड़े वृक्षों को गिरा देता है उसी प्रकार वासना योग-साधना को उखाड़ फैंकती है। अतः मुमुक्षु तैलपात्रधारक की भांति अप्रमत्त रहे और भौतिक सुखों को किम्पाकफल के समान विषमय समझे।

जिस प्रकार सारथि रथ की धुरा के लिए कहता है कि 'यदि यह धुरा नहीं टूटेगी तो यह रथ मेरा भार भी वहन कर सकेगा।' इसी रूपक से श्रमण का आहार उपमित है। श्रमण/निर्गन्थ छह स्थानों—कारणों से आहार करते हैं तो वे मुनिधर्म का अतिक्रमण नहीं करते हैं। छः कारण निम्न हैं—वेदना, वैयावृत्य, ईर्यासमिति, संयम, प्राणनिर्वाह और धर्मचिन्तन।

जैसे एक लाक्षाकार कोयलों में आग जलाता है और सोचता है कि 'इस आग के बुझने के पहले ही में लाक्षा (लाख) को तपा लूंगा।' इसी उपमा/रूपक के समान ही श्रमण निर्गन्थ छह कारणों से आहार को ग्रहण करते हैं तो वे मुनिधर्म का अतिक्रमण नहीं करते हैं। छह कारण वेदना वैयावृत्य आदि हैं।

जैसे इक्षुकार तुस में आग जलाकर विचार करता है कि 'इस आग के बुझने के पहले ही इक्षुरस को गर्म कर लूंगा।' इस उपमा के समान श्रमण निर्ग्रन्थ छह कारणों से आहार को ग्रहण करते हुए श्रमणधर्म का उल्लंघन नहीं करते हैं। शेष पूर्ववत् है। अर्थात् छह कारण वेदना, वैयावृत्य आदि हैं।

6. How can one sustain the body with the barest food ? As a mammoth elephant can pull down gigantic trees, so does libido all Yogic practices and accomplishments. Hence an aspirant ought to tread cautiously like one carrying a bowl full of oil and vigilantly shun all pleasures as we do a poisonous fruit. What an axle is to a chariot without which the charioteer can no more be carried, a prescribed diet is to an ascetic. Ascetics commit no transgression if they accept meals merely for avoiding pangs of starvation, for practising austerity, survival and contemplation. As a lacquer processor burns charcoals just enough to melt his ware, so an ascetic takes food just enough for survival and thereby no transgression is committed. As a sugarcane-juice-maker burns just enough chaff to heat the juice, so does an ascetic accept meals for six reasons mentioned above. It entails no violation of his ethics.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

अंबडज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अम्बड परिव्राजक) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment,. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Ambad the nomad, pronounce.

अम्बड नामक पच्चीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२५।

२६. छव्वीसं मातंगज्झयणं

कतरे धम्मे पण्णत्ते ? सव्वाउसो सुणेध मे ।
किणा बम्भणवण्णाभा, युद्धं सिक्खन्ति माहणा ।।१।।

१. कितने प्रकार के धर्म प्रतिपादित किये गये हैं ? हे समस्त आयुष्मानो ! वह सब मेरे से सुनो । ब्राह्मण वर्ण की आभा वाले अर्थात् ब्राह्मण जैसे दिखाई देने वाले 'मा हन्' (हिंसा मत करो) माहण (श्रावक) होकर भी युद्ध की शिक्षा क्यों ग्रहण करते हैं ?

1. Let me tell you of the myriad kinds of religions propounded by people. Literal meaning of Brahmin is to commit no violence. Why then do Brahmins live with all the paraphernalia of Brahminhood and learn martial arts ?

रायाणो वणिया ? जागे, माहणा सत्थजीविणो ।
अन्धेण जुगेणद्धे विपल्लत्थे उत्तराधरे ।।२।।

२. क्षत्रिय और वणिक् यदि यज्ञ यागादि करते हैं और माहण/ब्राह्मण शस्त्रजीवी होते हैं (तो यह उनकी वृत्ति के विपरीत होगा ।) जैसे विपरीत दिशाओं से आए हुए अन्ध युगल आपस में राजपथ पर ही टकरा जाते हैं ।

2. Kshatriyas and trader class perform religious rites and Brahmins live as warriors. It is like blind wrestlers clashing along the highway. It is like going against one's grain.

आरूढो रायरहं अडणीए युद्धमारभे ।
सधामाइं पिणिद्धन्ति, विवेता बम्भपालणा ।।३।।

३. कतिपय ब्राह्मण राजरथ पर आरूढ़ होकर मार्ग में युद्ध आरम्भ करते हैं, किन्तु ब्रह्म–ब्रह्मवृत्ति, ब्रह्मकर्म अथवा सत्यानुष्ठान के पालक विवेकपूर्वक अपने घरों को अर्थात् हिंसात्मक वृत्ति के द्वार को बन्द कर लेते हैं ।

3. Certain Brahmins ride chariots and fight along the highway. However, they choose to snap close their doors to spiritual contemplation suitable for Brahmins.

ण माहणे धणुरहे, सत्थपाणी ण माहणे ।
ण माहणे मुसं बूया, चोज्जं कुज्जा ण माहणे ।।४।।

४. रथ और धनुषधारी माहण/ब्राह्मण नहीं है। शस्त्रधारी भी ब्राह्मण नहीं है। ब्राह्मण मृषा वाणी न बोले और न चौर्यकर्म ही करे।

4. Warrior and regally attired Brahmins are not true Brahmins. Brahmins should abstain from falsehood and theft.

मेहुणं तु ण गच्छेज्जा, णेव गेण्हे परिग्गहं ।
धम्मंगेहिं णिजुत्तेहिं, झाणज्झयणपरायणो ॥५॥

५. ब्राह्मण मैथुन/अब्रह्मचर्य का सेवन न करे और परिग्रह को भी स्वीकार न करे। धर्म के विविध अंगों में संलग्न होकर ध्यान और अध्ययन/स्वाध्याय में परायण बने।

5. A Brahmin should abstain from sexual indulgence nor should he amass wealth. He should practise austerities and such aspects of religious conduct and devote to studies.

सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं, सच्चप्पेही स माहणे ।
सीलंगेहिं णिउत्तेहिं, सीलप्पेही स माहणे ॥६॥

६. जो समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है और सत्यद्रष्टा है वही माहण है। जो शील-ब्रह्मचर्य के विविध अंगों के पालन में सचेष्ट है और शीलप्रेक्षी है वही माहण है।

6. One who restrains one's senses and is a seer of truth alone is Brahmin. One who vigilantly observes ethical conduct and continence in their fulness and is morally-oriented alone is Brahmin.

छज्जीवकायहितए, सव्वसत्तदयावरे ।
स माहणे त्ति वत्तव्वे, आता जस्स विसुज्झती ॥७॥

७. जो छह जीवनिकाय—पृथ्वी, अप्, तेजस् वायु, वनस्पति और त्रस का हितकारी/रक्षक है और समस्त प्राणियों पर दया-कारुण्यभाव रखता है तथा जिसकी आत्मा विशुद्ध है उसे ही माहण कहना चाहिए।

7. One who protects earth, water, fire, air, vegetation and living beings and spontaneously feels sympathy and compassion for every living being, one whose soul is chaste, alone is Brahmin.

दिव्वं सो किसिं किसेज्जा, णेवप्पिणेज्जा । मा तं गे णं अरहता इसिणा बुइतं ।

वह माहण दिव्य खेती करे । उस दिव्य कृषि को छोड़े नहीं । इस प्रकार अर्हत् मातंग ऋषि बोले—

Such a Brahmin should constantly grow the crop of divinity, said Matanga, the seer.

आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअणंगलं ।
भाणं फालो निसित्तो य, संवरो य बीयं दढं ॥८॥

८. आत्मा क्षेत्र है । तप बीज है । संयम हल है । ध्यान तीक्ष्ण फाल है और संवर सुदृढ़ एवं स्थिर बीज है ।

8. Soul is the field, penances the seed, austerity the plough, meditation the sharp end of the blade and restraint the latent energy of the seed.

अकूडत्तं च कूडेसु, विणए णियमणे ठिते ।
तितिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा ॥९॥

९. जो मायावियों में छल-प्रपंच रहित है और जो नियमपूर्वक विनम्र भाव से रहता है । सहनशीलता जिसकी हलीसा है, दया और गुप्ति जिसकी लगाम (नाथ) है ।

9. One who is innocent amongst the living beings, who is modest, tolerance is whose car and compassion and self-control whose rein (*is a true Brahmin*).

सम्मत्तं गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा ।
धितिजोत्तसुसंबद्धा, सव्वण्णुवयणो रया ॥१०॥

१०. सम्यक्त्व रूप गोत्थणव—जुआ है । समिति रूप शमिला—युगकीलक (लकड़ी की कील) है । धैर्य रूप जोत (वह रस्सी जिससे बैल को हल में जोता जाता है) से सुसम्बद्ध और सर्वज्ञवाणी में अनुरक्त है ।

10. Equanimity is his yoke (for the bullocks). Imperturbability is his harness rod, patience is the steadfast harness and he is devoted to the gospel of the enlightened.

पंचेव इंदियाणि तु, खन्ता दन्ता य णिज्जिता ।
माहणेसु तु ते गोणा, गंभीरं कसते किसिं ॥११॥

११. क्षान्त और दान्त जिसके बैल हैं। ऐसा माहण पांचों इन्द्रियों को जीत कर गम्भीर दिव्य कृषि/खेती करता है।

11. Peace and charity are his bullocks. Such a Brahmin surmounts his five senses and raises the divine crop.

तवो बीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं परं।
ववसातो धणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥१२॥

१२. इस दिव्य कृषि का तप ही अवन्ध्य—निष्फल न जाने वाला बीज है और अहिंसा ही श्रेष्ठ कूल/किनारा है। अहिंसा का व्यवसाय/आचरण ही उसका धन है और अहिंसा में जुते हुए क्षान्त-दान्त बैल जोड़ी ही उसका संग्रह/संचय है।

12. Penance is the unfailing seed of this cultivation and non-violence the bank of the great river. Non-violence in conduct is his wealth and the pair of bullocks of charity and equanimity his acquisition.

धिती खलंब-सुहिक्का, सद्धा मेढी य णिच्चला।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंवुडं ॥१३॥

१३. धैर्यरूप अवलम्बन खलिहान का हिक्का है। निश्चल श्रद्धा रूप मेढ़ी है। उस क्षेत्र की पवित्रभावना रूप बाड़ है और उसका ईर्यासमिति रूप द्वार संगोपित है।

13. Perseverance is the wall of his barn. Unbudging faith is his attic. Piety is his barrier guarding the field and he keeps his door of equanimity closely guarded.

कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा।
णिज्जरा तु लवामीसा, इति दुक्खाण णिक्खति ॥१४॥

१४. कषायों का मर्दन ही उसके धान्य का मर्दन है। उसकी क्षमा ही कीर्तिवाद है। निर्जरा ही उस खेती का काटना है। इस प्रकार वह दुःखों से रहित होता है।

14. Smothering the desires is akin to thrashing the grain. His catholicity is his fame. Purgation of Karmas is his harvesting. Thus he gets rid of all woes.

एतं किसिं कसित्ताणं, सव्वसत्तदयावहं।
माहणे खत्तिए वेस्से, सुद्दे वापि विसुज्झती ॥१५॥

१५. प्राणिमात्र पर दया–कारुण्यभावधारक जो इस प्रकार की कृषि—खेती करता है वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो तब भी विशुद्ध होता है।

15 A truly charitable and catholic outlook on the entire world is the divine agriculture. Such a one, be he Brahmin, Kshatriya, Vaishya or Shudra, is truly pious.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी।

मायंगिज्जज्झयणं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् मातंग ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I Matanga, the seer, do pronounce.

मातंग नामक छब्बीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२६।

२७. सत्तावीसं वारत्तयनामज्झयणं

साधु-सुचरितं अव्वाहता समणसंपया वा र त्त ए णं अरहता इसिणा बुइतं ।

साधु का श्रेष्ठ आचरण—शोभन चारित्र ही असंगति रहित अव्याहत गति है। अत: श्रमणों का सहवास करना चाहिए। अथवा शोभन चारित्र ही श्रमण का ऐश्वर्य है।

ऐसा अर्हत् वारत्तक ऋषि बोले—

It is the saints whose conduct is noble, graceful and truly consistent. Grace of conduct is their exclusive wealth. Hence one should seek the company of saints.

Added Varattak, the seer :

न चिरं जणे संवसे मुणी, संवासेण सिणेहु वद्धती ।
भिक्खुस्स अणिच्चचारिणो, अत्तट्ठे कम्मा दुहायती ॥१॥

१. मुनि संसारी प्राणियों के मध्य में अधिक न रहे अथवा गृहस्थजनों से अधिक सम्पर्क न रखे। क्योंकि, अधिक परिचय से स्नेह/ममताभाव की वृद्धि होती है; जोकि अनित्यचारी—सांसारिक पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करने वाले श्रमण की आत्मा के लिये कर्म का रूप लेकर दु:खों को उत्पन्न करता है।

1. A saint should avoid, in large measure, contact with worldly beings and householders. Familiarity is prone to breed attachment which will bind as a Karma and breed woes for the saint who indeed, ever dwells on the transitorinses of life.

पयहित्तू सिणेहबन्धणं, झाणज्झयणपरायणे मुणी ।
णिद्धत्तेण सया वि चेतसा, णेव्वाणाय मतिं तु संदधे ॥२॥

२. मुनि स्नेहबन्धन को छोड़कर ध्यान और अध्ययन/स्वाध्याय में तल्लीन रहे और चित्त के विकारमल को धोकर अपनी मति को निर्वाणमार्ग में लगावे।

2. A saint should discard sentiment and dedicate himself to meditation and study. He should purge and sublimate mind and seek the path of deliverance.

जे भिक्खु सखेयमागते, वयणं कण्णसुहं परस्स बूया ।
सेऽणुप्पियभासए हु मुद्धे, ग्रातट्ठे णियमा तु हायती ।।३।।

३. जो श्रमण मित्रता के वशीभूत होकर दूसरे (गृहस्थ) से कर्णप्रिय मीठी वाणी बोलता है और वह गृहस्थ उस मधुरभाषी मुनि पर मुग्ध/मोहित हो जाता है। किन्तु, उसकी यह मधुरभाषिता उसके ग्रात्महित का ग्रधिकता से नाश करती है।

3. An ascetic who is endeared by the relationship of an affectionate householder establishes friendship with the latter and a mutuality is seen to subsist which shall prove disastrous to the spiritual interests of the former.

जे लक्खणसुमिणपहेलियाउ ग्रक्खाईयइ य कुतूहलाग्रो ।
भद्दाणाइं णरे पउंजए, सामण्णस्स महन्तरं खु से ।।४।।

४. जो श्रमण गृहस्थ का कौतूहल, लक्षण, स्वप्न ग्रौर प्रहेलिकादि से मनोरंजन करता है ग्रौर उससे रंजित होकर मनुष्य (गृहस्थ) दान ग्रादि का प्रयोग करता है। उसकी यह प्रवृत्ति वस्तुतः श्रमणधर्म से बहुत दूर है, अर्थात् पूर्णतया विपरीत है।

4. A saint, who, in his wanderings tickles the curiousity of a householder through prediction, dream analysis etc. and receives alms as a reward from him, falls from the high status of an ascetic.

जे चेलकउवणयणेसु वा वि, ग्रावाहविवाहवधूवरेसु य ।
जुंजेइ जुज्झेसु य पत्थिवाणं, सामण्णस्स महन्तरं खु से ।।५।।

५. जो मुनि शिष्यों/भक्तों के चूडोपनयनादि संस्कारों में तथा वर-वधू के वैवाहिक प्रसंगों में सम्मिलित होता है ग्रथवा ग्रपने सान्निध्य में संस्कारादि करवाता है ग्रौर राजाग्रों के साथ युद्ध में भी भाग लेता है। किन्तु, मुनि की इन समस्त

क्रियाओं और श्रमण धर्म के बीच बहुत बड़ा अंतर है। अर्थात् उसकी यह प्रवृत्ति वस्तुतः श्रमणधर्म के पूर्णतया विपरीत है।

5. A saint who participates and conducts celebration of birth, sacred thread ceremony, weddings and the like and accompanies Princes in war-operations has little attribute of a true saint.

जे जीवणहेतु पूयणट्ठा, किंची इहलोकसुहं पउंजे।
अट्ठिविसएसु पयाहिणे से, सामण्णस्स महन्तरं खु से ॥६॥

६. जो मुनि जीवन-यापन, स्वयं की पूजा-मान्यता और ऐहलौकिक किंचित् सुखों के लिये पूर्वोक्त कार्य करता है, तो वह इन्द्रियादि विषयों का अर्थी-अभिलाषी बनकर प्रदक्षिणा कर रहा है अथवा वह अर्थ-धन और विषय-वासनादि के पीछे घूम रहा है। उसकी यह प्रवृत्ति वस्तुतः श्रमणधर्म के पूर्णतया विपरीत है।

6. A saint who performs such deeds for earning his livelihood, personal honours and resultant pleasures, is no better than a self-seeking mundane creature, greedy and sense-oriented. Such code ill-behoves a saint.

ववगयकुसले संछिण्णसोते, पेज्जेण दोसेण य विप्पमुक्को।
पियमप्पियसहे अकिंचणे य, आतट्ठं ण जहेज्ज धम्मजीवी ॥७॥

७. जो श्रमण, लक्षण, स्वप्न, प्रहेलिकादि शास्त्रकौशल के प्रयोग से रहित हो गया है, जिसने स्रोत-भवपरम्परा के प्रवाह का छेदन/नाश कर दिया है और जो प्रेम तथा द्वेष से विमुक्त हो गया है ऐसा धर्मजीवी अकिंचन बनकर प्रिय और अप्रिय को सहन करे और आत्मलक्ष्य का त्याग न करे।

7. One who has given a good-bye to predictions, dream-analysis, quiz and scholastic subtleties, and has plugged the ingress of mundane effects and who has shed attachment-aversion should thrive on religion and stay unnoticed and insignificant. He should forbear the pleasant and the unpleasant and keep a steadfast eye on the spiritual motto.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणर्वि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी।

वारत्तयनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् वारत्तक ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, austinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Varattak, the seer, do pronounce.

वारत्तक नामक सत्ताईसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२७।

२८. अट्ठावीसं अज्झयणं

छिण्णसोते भिसं सव्वे, कामे कुणह सव्वसो ।
कामा रोगा मणुस्साणं, कामा दुग्गतिवड्ढणा ॥१॥

१. मुमुक्षु समस्त काम-वासनाओं के प्रवाह का पूर्णरूपेण छेदन कर दे । क्योंकि, मानव के लिये समस्त काम-वासनाएँ रोग हैं और दुर्गति को बढ़ाने वाली हैं ।

1. An aspirant should forever discard the ingress of desires. All desires are ailments and conduce to wretched destiny.

णासेवेज्जा मुणि गेही, एकन्तमणुपस्सतो ।
कामे कामेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गतिं ॥२॥

२. परमार्थतत्त्व का पर्यालोचन करने वाला मुनि कामासक्ति की आसेवन न करे । काम-वासना की कामना करने वाला प्राणी वासना का उपभोग न करने पर भी दुर्गति को प्राप्त करता है ।

2. Self-less saint who dwells on the absolute should shun all desire. One who cherishes desire without actually attaining and indulging these also meets a poor destiny.

जे लुब्भन्ति कामेसु, तिविहं हवति तुच्छ से ।
अज्झोववण्णा कामेसु, वहवे जीवा किलिस्सन्ति ॥३॥

३. जो कामों में लुब्ध—लोलुप होते हैं वे तीन प्रकार—मन, वाणी, शरीर से सत्त्वहीन होते हैं अथवा कामी व्यक्ति की दृष्टि में वासना के सामने तीनों लोक तुच्छ हैं । वासनाओं में अत्यासक्त बहुत से जीव दुःख को प्राप्त करते हैं ।

3. Those who become libido-addicted are debilitated mentally, lingually and physically. A lascivious creature can barter the Universe for his object of desire. Lecherous creatures meet an ignoble end.

सल्लं कामा, विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
बहुसाधारणा कामा, कामा संसारवड्ढणा ॥४॥

४ काम शल्य है, काम विष है, काम आशीविष सर्प है, काम प्रचण्ड कामना है और काम संसार को बढ़ाने वाला है ।

4. Desire is an ailment. It is a poison. It is like a fatal serpent. Desire is like an unquenchable fire. It adds to mundaneness.

पत्थन्ति भावओ कामे, जे जीवा मोहमोहिया ।
दुग्गमे भयसंसारे, ते धुवं दुक्खभागिणो ॥५॥

५. जो मोहग्रस्त जीव हृदय से काम-वासना की अभिलाषा करते हैं वे इस दुर्गम और भयावह संसार में निश्चय ही दुःख के भागी होते हैं ।

5. Confounded beings who are monomaniacs after libido are predestined to immense misery in this fearsome world.

कामसल्लमणुद्धित्ता, जन्तवो काममुच्छिया ।
जरामरणकन्तारे, परियत्तन्तवुक्कमं ॥६॥

६. काममूर्च्छित प्राणी जब तक कामरूपी शल्य का नाश नहीं कर देते हैं तब तक वे जन्म, जरा और मृत्यु की अटवी में सतत परिभ्रमण करते रहते हैं ।

6. Libidinous individuals incessantly wander in their orbit of birth, age and death so long as they venture not to rid themselves of the burning desire.

सदेवमाणुसा कामा, मए पत्ता सहस्ससो ।
ण याहं कामभोगेसु, तित्तपुव्वो कयाइ वि ॥७॥

७. देव और मानव के ये कामभोग मैंने हजारों वार प्राप्त किये हैं । अतः पूर्व में छोड़े हुए उन कामभोगों के पथ में मैं कदापि नहीं जाऊँगा ।

7. I have enjoyed a thousand times wanton pleasures in the past, divine and human. I shall no more be ensnared by these, since I have long back ridded myself of such indulgences.

तित्ति कामेसु णासज्ज, पत्तपुव्वं अणन्तसो ।
दुक्खं बहुविहाकारं, कक्कसं परमासुभं ॥८॥

८. पूर्व में अनन्त बार प्राप्त होने पर भी इन काम-भोगों से कभी तृप्ति नहीं हुई है । अपितु, इन कामभोगों से विविध प्रकार के कर्कश और अत्यन्त अशुभ दुःख ही प्राप्त हुए हैं ।

8. A million rounds of such indulgences never satiated me. In fact they bred myriad woes of the least desirable kind,

कामाण मग्गणं दुक्खं, तित्ती कामेसु दुल्लभा ।
पिज्जुज्जोगो परं दुक्खं, तण्हक्खय परं सुहं ॥९॥

९. काम का अन्वेषण दुःखकारी है। काम की तृप्ति दुर्लभ है। इसका वियोग भी अत्यन्त दुःखप्रद है। वस्तुतः तृष्णा का क्षय ही परम सुख है।

9. Exploration of desire is painful. Its satiation is a day-dream. Its unfulfilment is again painful. True happiness indeed lies in desirelessness.

कामभोगाभिभूतप्पा, वित्थिण्णा वि णराहिवा ।
फीतिं कित्ति इमं भोच्चा, दोग्गतिं विवसा गया ॥१०॥

१०. कामभोगों से अभिभूत और तप्त राजागण भी विपुल राज्य और निर्मलकीर्ति को प्राप्त करके भी अन्त में विवश होकर दुर्गति को प्राप्त हुए।

10. Libidinous mighty princes with immense resources at the command ultimately met a compulsive doom.

काममोहितचित्तेणं, विहाराहारकंखिणा ।
दुग्गमे भयसंसारे, परीतं केसभागिणा ॥११॥

११. कामग्रस्त चित्तवाला (स्वच्छन्द) आहार-विहार का आकांक्षी होता है और इस दुर्गम एवं भयावह संसार में चारों ओर से क्लेश प्राप्त करता है।

11. A sensual character with insatiable itch ever seeks indulgence and falls a victim to the multiple woes of this infernal maze called life.

अप्पवक्कतावराहोऽयं, जीवाणं भवसागरो ।
सेओ जरग्गवाणं वा, अवसाणम्मि दुत्तरो ॥१२॥

१२. प्राणी आत्मकृत (स्वकृत) अपराधों—पापों से भवसागर की वृद्धि करते हैं। वे अपराध वृद्ध बैल की भांति अवसान के समय दुस्तरणीय होते हैं।

12. We add to our mundane travail by multiplying sins, and peccadillos. Such misdeeds pose an unenviable catastrophe at the end as in case of a defeated old ox.

अप्पक्कतावराहेहिं, जीवा पावन्ति वेदणं ।
अप्पक्कतेहि सल्लेहिं, सल्लकारी व वेदणं ॥१३॥

१३. प्राणी आत्मकृत अपराधों से ही वेदना को प्राप्त करते हैं और आत्मकृत शल्यों से ही शल्यकारी वेदना को प्राप्त करते हैं।

13. It is his own sins and misdeeds that generate woe for him and anguish of all kind.

जीवो अप्पोवघाताय, पडते मोहमोहितो ।
बन्धमोग्गरमाले वा,णच्चन्तो बहुवारिओ ॥१४॥

१४. मोहग्रस्त जीव स्वकृत कर्मों से ही अपनी आत्मा (आत्मा के स्वाभाविक गुणों) का नाश और पतन करता है। वासना रूप मुद्गरों से वन्धे हुए के समान अनेक बार (संसार में) नाचता रहा है।

14. A morally confounded being eclipses the spontaneous glory of his own soul and thereby suffers a fall. He is as if sandwiched between the crushing clubs which drive him repeatedly to reincarnations sans respite.

असब्भावं पवत्तेन्ति, दीणं भासन्ति वीकवं ।
कामग्गहाभिभूतप्पा, जीवितं पयहन्ति य ॥१५॥

१५. कामग्रह से अभिभूत प्राणी असद्भाव की प्रवर्तना करते हैं अथवा विवेकशून्य होकर व्यवहार करते हैं, विकलतापूर्ण दीन वाणी वोलते हैं। वे अपने जीवन और मार्ग का नाश करते हैं अथवा अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं।

15. Lecherous individuals multiply falsehood, behave wildly and often resort to entreáties. They lambast their career and their life. It is well nigh a suicide.

हिंसादाणं पवत्तेन्ति, कामसो केति माणवा ।
वित्तं णाणं सविण्णाणं, केयी णेन्ति हि संखयं ॥१६॥

१६. कई मानव काम के वशीभूत होकर हिंसा और चोरी करते हैं, वे अपनी सम्पत्ति, ज्ञान, विज्ञान आदि सव का नाश करते हैं।

16. Certain stupid individuals libidinously resort to killing and robbery. They are deprived of their property, attainments and wisdom.

सदेवोरगगन्धव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं ।
कामपंजरसंवद्धं, किस्सते विविहं जगं ॥१७॥

१७. देव, सर्प, गन्धर्व, पशु-पक्षी और मानव सभी काम के पिंजरे में बंध कर जगत् में विविध प्रकार के क्लेशों को प्राप्त करते हैं ।

17. Gods, serpent-gods, angels animals and men—all are slaves of desire and thus earn woes of all kinds.

कामग्गहविणिम्मुक्का, धण्णा धीरा जितिन्दिया ।
वितरन्ति मेइणिं रम्मं, सुद्धप्पा सुद्धवादिणो ॥१८॥

१८. जो धीर और जितेन्द्रिय मानव काम-रूपी पिशाच से उन्मुक्त हो गये हैं वे धन्य हैं । ऐसी शुद्धवादी निष्कलंक आत्माएं रमणीय मेदिनी को पार कर जाती हैं अर्थात् भव-समुद्र को पार कर जाती हैं ।

18. The mighty beings who have mastered their senses and freed themselves of the demon of desire are salts of earth. Glory be to them. Such pious beings surmount the ordinarily insurmountable oceanic world in a jiffy.

जे गिद्धे कामभोगेसु, पावाइं कुरुते णरे ।
से संसरन्ति संसारं, चाउरन्तं महब्भयं ॥१९॥

१९. जो मनुष्य काम-भोगों में अत्यासक्त होकर पाप करते हैं वे चतुर्गतिरूप महाभयंकर संसार में भटकते हैं, परिभ्रमण करते रहते हैं ।

19. Indulgent beings have only one destiny—that of interminally plodding on the odyssey of mundane sufferings.

जहा निस्साविणिं नावं, जातिअन्धो दुरूहिया ।
इच्छते पारमागन्तुं, अन्तरे च्चिय सीदति ॥२०॥

अ द्द ए ण अरहता इसिणा बुइतं

२०. जैसे जन्मान्ध व्यक्ति निस्राविणी—छिद्ररहित नौका में चढ़कर, (नौका को चलाकर) पार जाने की इच्छा करता है किन्तु वह बीच में ही कष्ट पाता है ।

ऐसा अर्हत् आर्द्रक ऋषि बोले—

20. One may compare them to the enterprise of a sightless attempting to cross over an ocean in a punctured boat.

Ardrak the seer, further said—

काले काले य मेहावी, पंडिए य खणे खणे ।
कालातो कंचणस्सेव, उद्धरे मलमप्पणो ॥२१॥

२१. मेधावी एवं पण्डित प्रतिसमय तथा प्रतिक्षण स्वर्ण की भांति अपनी आत्मा का कालिमा और मल से उद्धार करे अर्थात् मलिनता को दूर करे ।

21. The wise and the learned should keep on burnishing his golden self, thus discarding all eclipsing soil and dirt.

अंजणस्स खयं दिस्स, वम्मीयस्स य संचयं ।
मधुस्स य समाहारं, उज्जमो संजमे वरो ॥२२॥

२२. अंजन-(काजल) का क्षय, वल्मीक-(दीमक) का संचय और मधु का समाहार—संग्रह (का भी क्षय) देखकर संयम मार्ग में उद्यम का वरण करे अर्थात् उद्यमशील बने ।

22. The inevitable erosion of mascara in the eye, ant-hill and honey in the bee-hive should make us wise and we should perseverantly tread the noble path.

उच्चादीयं विकप्पं तु, भावणाए विभावए ।
ण हेमं दन्तकट्ठं तु, चक्कवट्टी वि खादए ॥२३॥

२३. ऊँच-नीच आदि के विकल्प मानसिक भावनाओं पर आधारित हैं । चक्रवर्ती भी स्वर्ण का दतौन (दन्त काष्ठ) नहीं खाता (करता) है ।

23. The concepts of superiority and inferiority are purely mental creations. Even an emperor does not use a golden tooth-brush.

खणथोवमुहुत्तमन्तरं, सुविहित, पाऊणमप्पकालियं ।
तस्स वि विपुले फलागमे, किं पुण जे सिद्धि परक्कमे ? ॥२४॥

२४. हे सुविहित पुरुष ! जो क्षण, स्तोक, मुहूर्तमात्र में अल्पकालिक आन्तरिक शुभक्रिया करता है, तो वह अल्प शुभ क्रिया भी विपुल फल प्रदान करती है । जो सिद्धि—परमपद मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करते हैं, उनकी असीम फल प्राप्ति का तो कहना ही क्या है ?

24. Be it known O wise, a moment's auspicious mental practice be-speaks of accumulation of immense virtue, what to say of resolute spiritual enterprise aiming at deliverance.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी ।

अट्ठइज्जज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् आर्द्रक ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Ardrak, the seer, do pronounce.

आर्द्रक नामक अट्ठाईसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।२८।

२९. एगूणतीसं वद्धमाणनामज्झयणं

सवन्ति सव्वतो सोता, किं ण सोतो णिवारणं ? ।
पुट्ठे मुणी आइक्खे ; कहं सोतो पिहिज्जति ? ॥१॥

व द्ध मा णे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१. सभी ओर के स्रोत–प्रवाह बह रहे हैं। क्या उन स्रोतों के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता ? एवं किस प्रकार इन स्रोतों के प्रवाह को रोका जा सकता है ? इस प्रकार पूछने पर मुनि बोले।

ऐसा अर्हत् **वर्द्धमान** ऋषि बोले—

1. There is a Karmic ingression from all directions. Can't this inflow be clamped ? What is the means of doing so ?

To this query Lord Vardhman, the seer, responded thus—

पंच जागरओ सुत्ता, पंच सुत्तस्स जागरा ।
पंचहिं रयमादियति, पंचहिं च रयं ठए ॥२॥

२. जागृत–अप्रमत्त मुनि की पांचों इन्द्रियां सुप्त हैं और अजागृत–प्रमत्त मुनि की पांचों इन्द्रियां सक्रिय हैं। सुप्त मुनि पांचों इन्द्रियों की सक्रियता से कर्म-रज को ग्रहण करता है और जागृत मुनि इन्हीं इन्द्रियों के माध्यम से कर्मरज का निवारण करता है।

2. The five senses of a vigilant and tranquil saint are dormant and those of a morally indolent and physically aroused saint active. A non-vigilant saint engages his senses to Karmic ingestion while a vigilant saint harnesses these senses to the purgation of Karmas.

सद्दं सोतमुवादाय, मणुण्णं वा वि पावगं ।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥३॥

३. श्रवणेन्द्रिय के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्दों के प्रवाह को प्राप्त कर मनोज्ञ शब्दों से प्रसन्न न हो और अमनोज्ञ–कटु शब्दों से क्रोधित न हो।

3. One should be abjectly inert to words heard through the ears. Pleasant words should arouse no delight nor unpleasant ones annoyance.

मणुण्णम्मि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य ।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥४॥

४. मधुर शब्दों में रंजित नहीं होता है और अप्रिय–कठोर शब्दों पर द्वेष नहीं करता। इस प्रकार माध्यस्थभाव में जागृत–अप्रमत्त रहता हुआ कर्म के प्रवाह को रोक सकता है।

4. One who remains unruffled and equanimous at the pleasant words as well as the bitter ones, smothers Karmic flow.

रूवं चक्खुमुवादाय, मणुण्णं वा वि पावगं ।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥५॥

५. नेत्र के द्वारा सुन्दर या असुन्दर रूप को ग्रहण कर, सुन्दरता पर अनुरक्त न हो और असुन्दरता पर द्वेष न करे।

5. Similarly should our eyes be indifferent to graceful looks as well as the ugly ones.

मणुण्णम्मि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य ।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥६॥

६. सुन्दर रूप पर अनुरक्त नहीं होता और असुन्दर रूप पर द्वेष नहीं करता। इस प्रकार तटस्थ वृत्ति में जागृत रहकर कर्म के स्रोत को रोक सकता है।

6. Unenticed by visual temptations and unrepulsed by abhorent looks, one can stop the Karmic ingress.

गन्धं घाणमुवादाय, मणुण्णं वा वि पावगं ।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥७॥

७. नासिका के द्वारा सुगन्ध या दुर्गन्ध को ग्रहण कर, सुगन्ध में आसक्त न हो और दुर्गन्ध में घृणा–द्वेष न करे।

7. Let the nostrils barely sense the perfumes as well as abominable odours, indifferently, neither relishing the one nor abhoring the other.

मणुण्णम्मि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य ।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥८॥

८. मनोहारी गन्ध पर आसक्त नहीं होता और दुर्गन्ध पर घृणा नहीं करता, इस प्रकार अविरोधी भाव–समचित्त में जागृत रह कर कर्म के स्रोत को रोक सकता है।

8. Incense provokes him not, nor odour repeals. Such a one retains his composure ever and purges Karmas by preventing their inflow.

रसं जिब्भमुवादाय, मणुण्णं वा वि पावगं।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥९॥

९. जिह्वा के द्वारा मधुर रस या अमधुर रस के पदार्थ को ग्रहण कर, मधुर पदार्थों में लोलुप न हो और कड़वे पदार्थों में थू-थू (द्वेष) न करे।

9. Such a one gulps down delicious juices as well as bitter ones with no urge to greedily sip the delectable nor spit out the bitter one.

मणुण्णम्मि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥१०॥

१०. मधुर रस पर लोलुप नहीं होता और कटु रस पर द्वेष नहीं करता, इस प्रकार समान-भाव में जागृत रहकर, कर्म के स्रोत को रोक सकता है।

10. Being always composed at the delectable viand as well as the nauseating one, one can stop the Karmic inflow.

फासं तयमुवादाय, मणुण्णं वा वि पावगं।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥११॥

११. त्वचा के द्वारा कोमल या कठोर स्पर्श को प्राप्त कर, कोमल स्पर्श में आसक्त न हो और कठोर स्पर्श में द्वेष न करे।

11. Let the tactile sense touch the smooth as well as the rough objects, indifferently neither relishing one nor abhoring another.

मणुण्णमि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥१२॥

१२. कोमल स्पर्श में लम्पट नहीं होता और कठोर स्पर्श पर द्वेष नहीं करता, इस प्रकार औदासीन्य वृत्ति में जागृत रहकर कर्म के स्रोत को रोक सकता है।

12. Such a one is not tempted by the tender touches nor repulsed by the harsh ones and stays vigilant and equanimous to stop the Karmic ingress.

दुद्दन्ता इंदिया पंच, संसाराय सरीरिणं ।
ते चेव णियमिया सम्मं, णेव्वाणाय भवन्ति हि ॥१३॥

१३. देहधारियों की दुर्दमनीय वनी हुई ये पांचों इन्द्रियां संसार का हेतु वनती हैं और ये ही इन्द्रियां सम्यक् प्रकार से नियन्त्रित होने पर निर्वाण का हेतु वनती हैं ।

13. These reinless senses generate the world for the individual. Once restrained, these very senses serve as tools for deliverance.

दुद्दन्तेहिंदिएहऽप्पा, दुप्पहं हीरए बला ।
दुद्दन्तेहिं तुरंगेहिं, सारही वा महापहे ॥१४॥

१४. दुर्दान्त वनी हुई इन्द्रियां आत्मा को वलपूर्वक दुष्पथ (कुमार्ग) पर ले जाती हैं । जैसे दुर्दान्त घोड़े सारथि को राजमार्ग से हटाकर बीहड़ पथ में ले जाते हैं ।

14. Unrestrained senses drive the soul along downward infernal trends as the wild stallions drag the chariot off the highway to wilderness.

इन्दिएहिं सुदन्तेहिं, ण संचरति गोयरं ।
विधेयेहिं तुरंगेहिं, सारहिव्वा व संजए ॥१५॥

१५. नियन्त्रित की हुई इन्द्रियाँ सुपथ में संचरण करती हैं । जैसे संयत/शिक्षित अश्व सारथि को प्रशस्त मार्ग पर ले जाते हैं ।

15. Regulated senses are prone to move towards the creditable path like trained steeds that always stick to the highway.

पुव्वं मणं जिणित्ताणं, वारे विसयगोयरं ।
विधेयं गयमारूढो, सूरो वा गहितायुधो ॥१६॥

१६. पहले मन पर विजय प्राप्त करे, फिर विवेक-रूपी हाथी पर आरूढ़ होकर, शस्त्रधारी शूरवीर के समान इन्द्रियों को विषय-वासना की ओर जाने से रोके ।

16. Initially, mind should be conquered. Then one should ride and command the elephant of wisdom like an armed warrior. One should vigilantly drive senses off the object of passion.

जित्ता मणं कसाए या, जो सम्मं कुरुते तवं ।
संदिप्पते स सुद्धप्पा, अग्गी वा हविसाऽऽहुते ।।१७।।

१७. मन और कषायों पर जो विजय प्राप्त कर, सम्यक् प्रकार से तप करता है वह शुद्धात्मा हविष (होम के योग्य पदार्थों) से आहुत अग्नि के समान देदीप्यमान होता है ।

17. One who succeeds in conquering the mind and the passions and does penances, shines refulgent like the flame of an altar with rich offerings.

सम्मत्तणिरतं धीरं, दन्तकोहं जितिन्दियं ।
देवा वि तं णमंसन्ति, मोक्खे चेव परायणं ।।१८।।

१८. सम्यक् ज्ञान-दर्शन में निरत, धीर, क्रोधजयी, जितेन्द्रिय और मोक्ष-मार्ग में सावधान (साधक) को देवगण भी नमस्कार करते हैं ।

18. One vigilantly engaged in righteous vision and conduct patiently and without temper or passions is worshipped even by gods.

सव्वत्थ विरये दन्ते, सव्ववारीहिं वारिए ।
सव्वदुक्खप्पहीणे य, सिद्धे भवति णीरये ।।१९।।

१९. समस्त पदार्थों से विरत, दान्त मुमुक्षु सर्वत्र विचरणशील इन्द्रियों को नियन्त्रित कर समस्त दुःखों से रहित होता है और कर्मरज से रहित होकर सिद्ध होता है ।

19. Indifferent to all material objects, a restrained aspirant keeps hold over his senses and is shorn of all woes. He frees himself of all Karmas and ultimately attains the s u m m u m b o n u m.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ वद्धमाणनामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **वर्द्धमान ऋषि**) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, abstinance enlightenment, emancipation, piety and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Vardhman, the seer, do pronounce.

वर्द्धमान नामक उनतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२६।

३०. तीसं वाउणामज्झयणं

अधासच्चमिणं सव्वं

वा यु णा सच्चसंजुत्तेणं अरहता इसिणा बुइतं ।

यह समस्त (विश्व) सत्य है । अर्थात् विराट विश्व में जैसा है वह वैसा ही सत्य है ।

ऐसा सत्यसंयुक्त अर्हत् वायु ऋषि बोले—

The world is what it appears, said truthful Vayu, the seer :

इध जं कीरते कम्मं, तं परतोवभुज्जइ ।
मूलसेकेसु रुक्खेसु, फलं साहासु दिस्सति ॥१॥

१. जो कर्म यहाँ किये जाते हैं उनको परलोक में भोगना पड़ता है। वृक्षों की जड़ का सिंचन करने पर उसकी शाखाओं में फल दिखाई देता है ।

1. What you do here revisits you in the next incarnation in the form of your destiny. If a tree is watered in its roots fruits are bound to appear.

जारिसं वुप्पते बीयं, तारिसं भुज्जए फलं ।
णाणासंठाणसंबद्धं, णाणासण्णाभिसण्णितं ॥२॥

२. जिस प्रकार का बीज बोता है उसी प्रकार का फल भोगता (उत्पन्न होता) है। जो कि विविध आकारों (संस्थानों, आकृतियों) में होता है और बहुविध संज्ञाओं से कहा जाता है ।

2. As you sow so shall you reap. Myriads are the kinds of destinies thus emerging.

जारिसं किज्जते कम्मं, तारिसं भुज्जते फलं ।
णाणापयोगणिव्वत्तं, दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥३॥

३. जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है। विविध प्रकार से साधनों–व्यापारों से कर्मों की रचना होती है । ये कर्म सुख और दुःख रूप होते हैं ।

3. Destinies are in accordance with the Karmas one performs. These Karmas are infinite in variety. They hold the germs of happiness or misery in them.

कल्लाणा लभति कल्लाणं, पावं पावा तु पावति ।
हिंसं लभति हन्तारं, जइत्ता य पराजयं ।।४।।

४. कल्याणकारी कामों से कल्याण प्राप्त करता है, पापकारी कृत्यों से पाप प्राप्त करता है, हिंसक कृत्यों से हिंसा प्राप्त करता है और जेता बनकर भी पराजय प्राप्त करता है ।

4. Benign Karmas are beneficent. Malevolent Karmas are sinful and woe-awarding. Violent deeds generate violence and the triumphant one might as well be termed as defeated.

सूदणं सूदइत्ताणं, णिन्दित्ता वि य णिन्दणं ।
अक्कोसइत्ता अक्कोसं, णत्थि कम्मं णिरत्थकं ।।५।।

५. दुःख देने वाले को दुःख भोगना पड़ेगा । निन्दक को निन्दित होना पड़ेगा । आक्रोश करने वाले को आक्रोश भोगना पड़ेगा । क्योंकि, कर्म निरर्थक नहीं होते हैं ।

5. One who is a sadist reaps miseries willy nilly. One who maligns others will be slandered in due course Char others in wrath and so shall you be charred. No Karma is fruitless.

मण्णन्ति भद्दका भद्दका इ, मधुरं मधुरं ति माणति ।
कडुयं कडुयं भणियं ति, फरुसं फरुसं ति माणति ।।६।।

६. प्राणी भद्रकार्यों को भद्र—कुशलकारी मानते हैं, मधुर को मधुर मानते हैं, कडुवे को कडुवा कहते हैं और कठोर को कठोर मानते हैं ।

6. Individuals deem suspicious deeds as suspicious, pleasant ones as pleasant, bitter ones as bitter and severe ones as severe.

कल्लाणं ति भणन्तस्स, कल्लाणा एपडिस्सुया ।
पावकं ति भणन्तस्स, पावया एपडिस्सुया ।।७।।

७. कल्याण बोलने वाला कल्याण की ही प्रतिध्वनि सुनता है और पाप बोलने वाला पाप की ही प्रतिध्वनि सुनता है ।

7. One whose utterances are auspicious shall hear similar echoes and one who rains curse shall be retributed accordingly.

पडिस्सुयासरिसं कम्मं, णच्चा भिक्खू सुभासुभं ।
तं कम्मं न सेवेज्जा, जेणं भवति णारए ।।८।।

८. भिक्षु शुभाशुभ कर्मों को प्रतिश्रुति–प्रतिध्वनि के समान ही समझे । जिससे नारक होता है अर्थात् नरक गति मिलती है उन कर्मों का आचरण न करे ।

8. A monk should deem benefic and malefic deeds like the sound and its echo. He should abstain from deeds that are infernal in character.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ वाउणामं तीसइममज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (सत्यसंयुक्त अर्हत् वायु ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, truthful Vayu, the seer, do pronounce.

वायु नामक तीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३०।

३१. एगतीसं पासिज्जनामज्झयणं

[१.] केऽयं लोए ? [२.] कइविहे लोए ? [३.] कस्स वा लोए ? [४.] के वा लोयभावे ? [५.] केण वा अट्ठेण लोए पवुच्चई ? [६.] का गती ? [७.] कस्स वा गती ? [८.] के वा गतिभावे ? [९.] केण वा अट्ठेण गती पवुच्चति ? पासे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१ लोक क्या है ? (२) कितने प्रकार का लोक है ? (३) किस का लोक है ? (४) लोकभाव क्या है ? और (५) किस अर्थ में लोक कहा जाता है ? (६) गति क्या है ? (७) किसकी गति होती है ? (८) गतिभाव क्या है ? और (९) किस अर्थ में गति कही जाती है ?

ऐसा अर्हत् पार्श्व ऋषि बोले—

1. What is the world ? 2. How many such planes of existence are there ? 3. To whom the world belongs ? 4. What does one mean by the world ? 5. What is the purport behind it ? 6. What is the destiny ? 7. Who meets this destiny ? 8. What does one mean by destiny ? 9. What is the purport behind destiny ?

Said enlightened seer Parshwa :

[१.] जीवा चेव अजीवा चेव ।

१. लोक जीव और अजीव रूप है ।

1. The world contains the animate and the inanimate.

[२.] चउव्विहे लोए वियाहिते : दव्वतो लोए, खेत्तओ लोए, कालओ लोए, भावओ लोए ।

२. लोक चार प्रकार का कहा गया है—१. द्रव्यलोक, २. क्षेत्रलोक, ३. काल-लोक और ४. भावलोक ।

2. There are four worlds or planes of existence (i) Dravyalok, (ii) Kshetralok, (iii) Kal-lok, and (iv) Bhavalok.

[३.] अत्तभावे लोए सामित्तं पडुच्च जीवाणं लोए, निव्वत्ति पडुच्च जीवाणं चेव अजीवाणं चेव ।

३. लोक आत्म-भाव में है। स्वामित्व की अपेक्षा से यह जीवों का लोक है और निर्माण/रचना की अपेक्षा से यह लोक जीवों और अजीवों का भी है।

3. World inheres in self-hood. In the perspective of commandeering position the world belongs to animate beings but in the perspective of its material constitution, it belongs to, both the animate and the inanimate.

[४.] अणादीए अणिहणे पारिणामिए लोकभावे ।

४. लोक का भाव अनादि, अनन्त तथा पारिणामिक है।

4. Existence (Lok Bhawa) is perennial with no beginning and no end and is consequential in nature.

[५.] लोकतीति लोको ।

5. आलोकित/प्रकाशमान होने के कारण इसे लोक कहते हैं।

5. As it is endowed with light, it is named as Lok (Alok=light)

[६.] जीवाण य पुग्गलाण य गतीति आहिता ।

६. जीवों और पुद्गलों का गमन ही गति कही गई है।

6. Destiny of the animate and the inanimate is called Gati.

[७] जीवाणं चेव पुग्गलाणं चेव गती दव्वतो गती, खेत्तओ गती, कालओ गती, भावओ गती ।

७. जीवों और पुद्गलों की गति चार प्रकार की कही गई है— १. द्रव्यगति २. क्षेत्रगति, ३. कालगति और ४. भावगति।

7. This destiny of both is fourfold—

1. Drava gati (Dravya=Substance)
2. Kshetra gati (Kshetra=Space)
3. Kal gati (Kal=time)
4. Bhava gati (Bhava=existence)

[८] अणादीए अणिधणे गतिभावे ।

८. गति का भाव अनादि और अनन्त है ।

8. Destiny exists infinitely and perennially.

[९] गम्मतीति गती ।

९. गमन किया जाता है, अतः इसे गति कहते हैं ।

9. There is mobility and hence it is called gati.

[अ.] उड्ढगामी जीवा, अहेगामी पोग्गला ।

अ. ऊर्ध्वगामी (विकासोन्मुख) जीव होते हैं और अधोगामी पुद्गल होते हैं ।

A. The animate beings evolve and escalate and the inanimate ones descend in scale.

[ब.] कम्मप्पभवा जीवा, परिणामप्पभवा पोग्गला ।

ब. कर्म-प्रसूत जीव होते हैं और परिणाम-प्रसूत पुद्गल होते हैं ।

B. The animate are deed-generated while the inanimate are consequence-generated.

[स.] कम्मं पप्प फलविवाको जीवाणं, परिणामं पप्प फलविवाको पोग्गलाणं ।

स. जीवों की गति कर्म से प्राप्त फल-विपाक से होती है और पुद्गलों की गति परिणाम से प्राप्त फल-विपाक से होती है ।

C. The animate owe their destiny to the brewing catharsis of Karmas while the inanimate owe it to such a process of consequences.

[द] णेचिमा पया कयाई अव्वावाहसुहमेसिया कसं कसावइत्ता ।

द. कोई भी कषाय अथवा हिंसा करके अव्याबाध सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है ।

D. One resorting to sin and violence can never win lasting happiness.

[इ] जीवा दुविहं वेदणं वेदेन्ति पाणातीवात-[...] वेरमणेणं जाव मिच्छादंसणवेरमणेणं। किच्चा जीवा, सातणं वेयणं वेदेन्ति। जस्सट्ठाए बिहेति, समुच्छिज्जिस्सति अट्ठा समुच्छिदिठस्सति। णिदि्ठत-करणिज्जे सन्ते संसारमग्गा मडाइ णियण्ठे णिरुद्धपवंचे वोच्छिण्णसंसारे वोच्छिण्णसंसारवेदणिज्जे पहीणसंसारे पहीणसंसारवेयणिज्जे णो पुणरवि इत्थत्तं हव्वमागच्छति।

इ. जीव दो प्रकार की वेदना अनुभव करते हैं। प्राणातिपात—हिंसा से निवृत्ति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होकर जीव साता (सुख) वेदन का अनुभव करते हैं। किन्तु जिनसे (हिंसादि कृत्यों से) जीव भय खाता है वे ही उसे प्राप्त होते हैं और नाशकारक बनते हैं। अर्थरूप से वहां विद्यमान रहते हैं। जिसने अपना कर्त्तव्य मार्ग निश्चित् कर लिया है, जो संसार मार्ग में निर्जीव/अचित्त पदार्थों का आहार करता है, जिसने प्रपंचजाल के द्वार को बन्द कर दिया है, ऐसा भिक्षु संसार का छेदन करता है। संसार-प्रसूत वेदना का छेदन करता है, संसार (भव-भ्रमण) का नाश करता है, भव-भ्रमणजन्य वेदना का नाश करता है और भविष्य में पुन: इस संसार में नहीं आता है।

E. The animate suffer twofold woe—that which lasts till moral repercussion of violence lasts and that generated by wrong perspective or illusion. Happiness results when both kinds of deeds are fully purged. The cruel deeds that scare the individual ultimately draw him towards themselves to end in his ruination. These deeds haunt him ever. But a monk who has determined his pious course and thrives on vegetable and has bidden goodbye tothe crooked ways, triumphantly achieves his goal. He has no pain to suffer, no reincarnation to bear, no calamity of living to undergo.

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

पासिज्जनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुन: इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् पार्श्व ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Parshwa, the seer, do pronounce.

पार्श्व नामक इकतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३१।

× × × ×

गतिवागरणगंथाओ पभिति जाव सामित्तं इमं अज्झयणं ताव इमो बीओ पाढो दिस्सति, तंजहा :

गतिव्याकरण ग्रन्थ के आरम्भ में यह अध्ययन विद्यमान है। वहाँ इस अध्ययन का दूसरा पाठ भी प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है :—

This discourse is found in the begining of the book 'Gati-vyakaran' as well. Also available in this book is another version of the same text, which is as follows :

[६.] जीवा चेव गमणपरिणता पोग्गला चेव गमणपरिणता। दुविधा गती : पयोगगती य वीससागती य।

६. जीव गतिशील है और पुद्गल भी गतिशील है। गति दो प्रकार की है :—१. प्रयोगगति और २. विस्रसागति।

6. The animate things have destiny, the inanimate things too have destiny. The destiny is of two types, applied and natural.

[७.] जीवाणं चेव पोग्गलाणं चेव।

७. ये दोनों—प्रयोग गति और विस्रसा गति जीव और पुद्गल दोनों की होती है।

7. Both animate and inanimate things are capable of following both these destinies.

[८.] उदइयपारिणामिए गतिभावे।

८. औदयिक और पारिणामिक गति का भाव है।

8. Spontaneous and resultant are the two forms of destiny.

[६.] गम्ममाणा इति गती ।

६. गमनशील होने से इसे गति कहते हैं ।

9. There is mobility and hence it is called destiny (Gati).

[अ.] उड्ढंगामी जीवा, अधगामी पोग्गला ।

(अ) ऊर्ध्वगामी (विकासोन्मुख) जीव होते हैं और अधोगामी पुद्गल होते हैं ।

A. Animate things evolve and inanimate things degress.

[ब.-स.] पावकम्मकडे णं जीवाणं परिणामे, पावकम्मकडे णं पुग्गलाणं ।

ब–स. पापकर्मशील जीव परिणाम (मानसिकभाव) से गति करता है । पापकर्मशील जीव पुद्गलों की गति में भी प्रेरक होता है ।

B & C. Indulgence in evil deeds results in movement towards) destiny. Evil doer also pushes inanimate things.

[द] ण कयाति पया अदुक्खं पकासीति ।

द. इसका वशवर्ती कदापि अदु:ख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करेगा ।

D. He who is under the influence of destiny can never attain Moksha or void of sorrow.

[इ] अत्तकडा जीवा, किच्चा किच्चा वेदेन्ति, तंजहा : पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेणं ।

इ. आत्मा स्वयं पुनः-पुनः कर्मों को करके उसका वेदन करती है, अर्थात् स्वकृत कर्मों को भोगती है । वे कर्म इस प्रकार हैं—प्राणातिपात यावत् परिग्रह ।

E. Indulging repeatedly in the activity the animate thing continues to suffer the consequences. The activities range from killing to hoarding.

एस खलु असंबुद्धे असंवुडकम्मन्ते चाउज्जामे णियण्ठे अट्ठविहं कम्मगण्ठि पगरेति, से य चउहिं ठाणेहिं विवागमागच्छति, तंजहा : णेरइएहिं तिरिक्खजोणिएहिं मणुस्सेहिं देवेहिं । अत्तकडा जीवा, णो परकडा, किच्चा किच्चा वेदिन्ति, तंजहा : पाणातिवातवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं । एस खलु संबुद्धे संवुड-कम्मन्ते चाउज्जामे णियण्ठे अट्ठविहं कम्मगण्ठि णो पकरेति, से य चउहिं ठाणेहिं णो विपाकमागच्छति, तंजहा : णेरइएहिं तिरिक्खजोणिएहिं मणुस्सेहिं देवेहिं । लोए ण कताइ णासी ण कताइ ण भवति ण कताइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे । से जहा नामते पंच अत्थिकाया ण कयाति णासी जाव णिच्चा एवामेव लोकेऽवि ण कयाति णासी जाव णिच्चे ।

वह असम्बुद्ध—ज्ञानरहित, कर्म के द्वारों को न रोकने वाला तथा चातुर्याम धर्म (अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह) से रहित निर्ग्रन्थ आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थि को बांधता है। वे ही कर्म चार प्रकार से विपाक (फलरूप) में आते हैं। वे हैं—१. नरक योनि, २. तिर्यक् योनि ३. मनुष्य योनि और ४. देवयोनि ।

The ignorant, unvigilant towards Karma and devoid of the four dimensional discipline (non-violence, truth, non-theft, and non-possessiveness), is drawn into the eight types of bondages. These Karmas precipitate in four directions which are; hellish, animal, human and devine.

जीव (स्वाधीन रूप से) पुनः-पुनः स्वकृत शुभाशुभ कर्मों को करके उन कर्मों के फल को भोगता है, किन्तु परकृत अर्थात् दूसरे के द्वारा किये गये कर्मों के फल को नहीं भोगता है। वे कर्म हैं :—प्राणातिपात विरति यावत् परिग्रह विरति ।

Indulging repeatedly in activity, the animate thing continues to suffer the consequences of his own deeds, but he does not suffer the consequences of otherds deeds. The activities range from refraining from violence to refraining from possessiveness.

वह सम्बुद्ध—सम्यक् ज्ञानवान्, कर्मागमन के द्वारों को वन्द कर देने वाला तथा चातुर्याम धर्म का पालक श्रमण आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि को नहीं बांधता है। इसे ये ही कर्म चार प्रकार से विपाक रूप में नहीं प्राप्त होते हैं। वे हैं:—नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव ।

The wise (having right knowledge), vigilant towards Karma and observer of the four dimensional discipline, is not drawn into the eight types of bondages. For him the Karmas do not precipitate in four directions; which are : hellish. animal, human, and devine.

यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है। यह लोक कभी नहीं है, ऐसा भी नहीं है। यह लोक कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है।

It is not that the world was never there; nor is it that the world is not there; nor is it that the world will not be.

यह लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। क्योंकि, यह लोक ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है और नित्य अवस्थित है। जैसे पंचास्तिकाय कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है। यावत् नित्य है। इसी प्रकार लोक भी कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, यावत् नित्य अवस्थित है।

The world was, is and will be there. The world is constant, incessant, eternal, durable and perpetual. As the five fundamentals are never non-existant so is the world never non-existant.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् पार्श्व ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment. emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Parshva the seer, do pronounce.

पार्श्व नामक एगतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३१।

३२. बत्तीसं पिंगज्झयणं

दिव्वं भो किसिं किसेज्जा, णो अप्पिणेज्जा। पिं गे ण माहण-परिव्वायएणं अरहता इसिणा बुइतं।

भो मुमुक्षु ! दिव्य कृषि (खेती) कर। दिव्य कृषि का त्याग मत कर।

ऐसा अर्हत् माहण परिव्राजक पिंग ऋषि बोले—

O Aspirant, please sow the divine crop. Never avert from the divine, said Brahmin Ping, the enlightened seer :

कतो छेत्तं, कतो बीयं, कतो ते जुगणंगलं ?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णाम ते किसी ? ॥१॥

१. हे आर्य ! तुम्हारा क्षेत्र—खेत कहाँ है ? बीज कहाँ है ? हल कहाँ है ? तुम्हारे बैल भी नहीं देख रहा हूँ। फिर तुम्हारी किस प्रकार की खेती है ?

1· Where does lie your field, O Arya ? What be thy seed ? I find no bullocks with you. How do you till land then ?

आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुगणंगलं।
अहिंसा समिती जोज्जा, एसा धम्मन्तरा किसी ॥२॥

२. आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, संयम हल है और अहिंसा एवं समिति रूप बैल जोड़ी है। यह धर्मगर्भा/आध्यात्मिक खेती है।

2. Soul is the field, penances the seed, self-restraint the plough and non-violence and equanimity constitute the pair of bullocks. This way lies the spiritual agriculture.

एसा किसी सोभतरा, अलुद्धस्स वियाहिता।
एसा बहुसई होइ, परलोकसुहावहा ॥३॥

३. यह खेती अतीव शुभ—कल्याणकारी है। इस खेती का निष्पादन निर्लोभी ही कर सकता है। यह खेती पवित्रतम है और परलोक में सुख प्रदान करने वाली है।

3. This variety of agriculture is highly auspicious. Only a non-avaricious being can succeed in it and none else. This is the holy agriculture and it yields lasting happiness hereafter.

एयं किसिं कसित्ताणं, सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से, सुद्दे वावि य सिज्झती ।।४।।

४. प्राणिमात्र पर कारुण्यभावधारक जो इस प्रकार की खेती करता है वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो तब भी विशुद्ध स्थिति को प्राप्त करता है ।

4. An individual compassionate to each living being cultivates spiritually, be he Brahmin, Kshatriya, Vaishya or Shudra and he thus attains highest piety.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

पिंगज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुन: इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् माहण परिव्राजक पिंग ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Brahmin Ping, the nomadic seer) do pronounce.

पिंग नामक बत्तीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३२।

३३. तेत्तीसं अरुणनामज्झयणं

दोहिं ठाणेहिं बालं जाणेज्जा, दोहिं ठाणेहिं पण्डितं जाणेज्जा :

सम्मामिच्छापओतेणं, कम्मुणा भासणेण य ।

दो स्थानों–कारणों से मानव का बाल (अज्ञानी) रूप जाना जाता है और दो कारणों से मानव का पण्डितरूप जाना जाता है । (शक्ति का) सम्यक् प्रयोग और मिथ्या प्रयोग तथा कर्म–कर्त्तव्य और वाणी (भाषण) से ।

It is apt or inopportune use of power and similar use or abuse of speech, that distinguish the wise from the foolish.

दुभासियाए भासाए, दुक्कडेण य कम्मुणा ।
बालमेतं वियाणेज्जा, कज्जाकज्जविणिच्छए ।।१।।

१. अशिष्ट वाणी, दुष्कृत्य कर्म तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विनिश्चय (विवेक शून्यता) के माध्यम से मानव को बाल–अज्ञानी जानो ।

1. One, prone to indecent speech and wrong and indiscreet action, is termed an ignorant man.

सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा ।
पण्डितं तं वियाणेज्जा, धम्माधम्मविणिच्छये ।।२।।

२. सम्यभाषा, सुकृत कर्म तथा धर्म-अधर्म के विनिश्चय द्वारा मानव को पण्डित समझो ।

2. Courteous language, appropriate action and spiritual wisdom are marks of wise man.

दुभासियाए भासाए, दुक्कडेण य कम्मुणा ।
जोगक्खेमं वहन्तं तु, उसुवायो व सिंचति ।।३।।

३. जो असभ्य भाषा और निन्दनीय कर्मों के द्वारा योगक्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त का रक्षण) को धारण करना चाहता है, तो वह (बाल) मानो ईख का वायु से सिंचन करता है ।

3. One who resorts to indecorous utterance and unworthy action to fulfil his purpose and protect his interests is like a cultivator who nurtures sugarcane crop with wind instead of water.

सुभासियाए भासाये, सुकडेण य कम्मुणा ।
पज्जण्णे कालवासी वा, जसं तु अभिगच्छति ॥४॥

४. शिष्टवाणी और प्रशस्त कर्म से वह (पण्डित) समय पर बरसने वाले मेघ के समान यश को प्राप्त करता है ।

4. Decency of speech and noble deeds yield one immense fame.

णेव बालेहि संसग्गि, णेव बालेहि संथवं ।
धम्माधम्मं च बालेहिं, णेव कुज्जा कदायि वि ॥५॥

५. बाल/अज्ञानियों के साथ कदापि संसर्ग न करें और न उनसे घनिष्ट सम्पर्क ही रखें । उनके साथ कदापि धर्माधर्म तत्त्वों का विचार-विमर्श भी न करें ।

5. Little concourse be had with the immature and unwise folk. They hardly deserve to be consulted in respect of religious and spiritual matters.

इहेवाकित्ति पावेहिं, पेच्चा गच्छेइ दोग्गतिं ।
तम्हा बालेहि संसग्गि, णेव कुज्जा कदायि वि ॥६॥

६. अज्ञानियों के सम्पर्क से इस लोक में अपकीर्ति मिलती है और परलोक में दुर्गति प्राप्त होती है । अतः बाल-अज्ञानियों के साथ कदापि संसर्ग न करें ।

6. A traffic with such folk attracts infamy and evil destiny hereafter. They should be scrupulously shunned.

साहूहि संगमं कुज्जा, साहूहिं चेव संथवं ।
धम्माधम्मं च साहूहि, सदा कुव्वेज्ज पण्डिए ॥७॥

७. पण्डित–प्रज्ञाशील पुरुष साधुजनों–ज्ञानीपुरुषों के साथ सर्वदा संसर्ग करें और उनसे घनिष्ठ सम्पर्क रखें तथा उनके साथ सर्वदा तत्त्वविचारणा करें ।

7. Wise and learned beings should seek the proximity of saints and profoundly learned persons and engage in conference with them.

इहेव कित्ति पाउणति पेच्चा गच्छइ सोग्गतिं ।
तम्हा साधूहि संसग्गि, सदा कुव्विज्ज पण्डिए ॥८॥

८. ज्ञानीजनों के सम्पर्क से इस लोक में कीर्ति प्राप्त होती है और परलोक में सद्गति प्राप्त होती है। अतः बुद्धिमान् सर्वदा साधुजनों से सम्पर्क करें।

8. Contact with the wise procures commendation and a happy destiny. Hence the farsighted should always keep such company.

खइणं पमाणं वत्तं च, देज्जा अज्जति जो धणं।
सद्धम्मवक्कदाणं तु, अक्खयं अमतं मतं ॥९॥

९. धन-सम्पत्ति के अर्जन तथा दान कर्त्ता को काल संदेश देता है कि यह सम्पत्ति मर्यादित समय तक रहने वाली और अन्त में नाश होने वाली है। जबकि सद्धर्ममय वाणी का अंश दान भी अक्षय और अमृतमय होता है।

9. Giving away wealth and property in charity is less worthy than uttering virtuous and pious words, for the wealth and its effects are transitory while the spiritually pregnant utterances are truly lasting in virtue.

पुण्णं तित्थमुवागम्म, पेच्चा भोज्जाहि तं फलं।
सद्धम्मवारिदाणेणं, खिप्पं सुज्झति माणसं ॥१०॥

१०. पुण्यतीर्थ को प्राप्त कर और उससे प्राप्त हितकारी फलों का परलोक में उपभोग करोगे। (उस फल की प्रसवभूमि) मानस/हृदय सद्धर्म रूपी जल दान (सिंचन) से शीघ्र शुद्ध-पवित्र होता है।

10. The outcome of such utterances is attainment of virtuous and holy regions hereafter. Such utterances sublimate our mind and heart.

सब्भाववक्कविवसं, सावज्जारम्भकारकं।
दुम्मित्तं तं विजाणेज्जा, उभयो लोगविणासणं ॥११॥

११. अपने वक्र-विपरीत स्वभाव से विवश होकर सावद्यारम्भ-आस्रवजन्य पाप कर्म करने वाले को दुर्मित्र समझना चाहिए। ऐसे दुर्मित्रों के संसर्ग से दोनों (इह-पर) लोक बिगड़ जाते हैं।

11. Those who enhance their Karmic field, compelled by their very nature and thus add to their sins, should be taken to be enemies. Such a company is bound to ruin our present and the existence to be.

सम्मत्तणिरयं धीरं, सावज्जारम्भवज्जकं।
तं मित्तं सुट्ठु सेवेज्जा, उभयो लोकसुहावहं ॥१२॥

१२. सम्यक्त्वनिरत और आस्रवजन्यपापकर्मों के वर्जक को मित्र समझना चाहिये। उस मित्र की भली प्रकार से सेवा करनी चाहिये। ऐसे मित्रों का सम्पर्क या उपासना दोनों लोक में सुखकारी होती है।

12. One, ever equanimous and least prone to sinful acts, should be deemed as a friend. We should serve such a one with devotion. Seeking company of such beings and serving them is ever benefic, now or later.

संसग्गितो पसूयन्ति, दोसा वा जइ वा गुणा।
वाततो मारुतस्सेव, ते ते गन्धा सुहावहा ॥१३॥

१३. संसर्ग से ही दोष और गुण पैदा होते हैं। वायु जिस ओर से बहती है उस ओर की सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध ग्रहण कर लेती है।

13. Virtue and vice emanate from corresponding contact, as fragrance or malodour flow with the wind that carries either.

संपुण्णवाहिणीओ वि, आवन्ना लवणोदधिं।
पप्पा खिप्पं तु सव्वा वि, पावन्ति लवणत्तणं ॥१४॥

१४. समस्त नदियाँ आश्रय प्राप्त करने के लिये वेग से लवण समुद्र में आकर मिलती हैं। उसमें मिलते ही उन नदियों का मधुर जल भी खारा बन जाता है।

14. All the rivers rush towards the salty ocean in their urge to seek refuge. This confluence results in the subsequent bitterness of previously sweet stream.

समस्सिता गिरिं मेरुं, णाणावण्णा वि पक्खिणो।
सव्वे हेमप्पभा होन्ति, तस्स सेलस्स सो गुणो ॥१५॥

१५. नानावर्ण वाले पक्षी जब सुमेरु पर्वत पर पहुँच कर उसका आश्रय लेते हैं तो वे सभी स्वर्ण की आभा से युक्त हो जाते हैं। यह उस सुमेरु पर्वत का गुण है।

15. Birds of diverse kind borrow a golden hue when they reach the summit of the fabled golden Sumeru Mountain. This virtue is conferred by the proximity of the great Mountain.

कल्लाणमित्तसंसग्गि, संजश्रो मिहिलाहिवो ।
फीतं महितलं भोच्चा, तंमूलाकं दिवं गतो ॥१६॥

१६. कल्याण मित्र अथवा कल्याणकारी मित्र के सम्पर्क से मिथिलाधिपति संजय विस्तृत राज्य को भोगकर, उगते सूर्य की आभा के समान दिव्यलोक को प्राप्त हुआ ।

16. It was favourable company of friends that enabled Sanjay, the mighty King of Mithila, to enjoy his vast empire and attain divine planes of existence hereafter.

अ रु णे ण म हा सा ल पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइतं ।

ऐसा अर्हत् महाशाल-पुत्र अरुण ऋषि बोले—

Mahashal's son, enlightened Arun, the seer, further added :

सम्मत्तं च अहिंसं च, सम्मं णच्चा जितिन्दिए ।
कल्लाणमित्तसंसग्गि, सदा कुव्वेज्ज पण्डिए ॥१७॥

१७. जितेन्द्रिय और प्रज्ञाशील मुमुक्षु सम्यक्त्व और अहिंसा का सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर सर्वदा कल्याणकारी मित्र का संसर्ग करें ।

17. An austere and wise aspirant should master equanimity and non-violence and stay in the company of the noble ones.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

अरुणिज्जनामज्झयणं तेत्तीसइमं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् महाशालपुत्र अरुण ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinance and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Mahashal's son Arun, the seer) do pronounce.

अरुण नामक तेतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३३।

३४. चउतीसं इषिगिरिज्झयणं

पंचहिं ठाणेहिं पण्डिते बालेणं परीसहोवसग्गे उदीरिज्जमाणे सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा :

प्रज्ञाशील मानव अज्ञानियों द्वारा पांच प्रकार से उदीर्ण/प्रेरित किये जाने वाले परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्य भावों से रहित होकर सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

A wise man should stoically suffer provocation and iniquities inflicted by the unwise. He should never be depressed or cowed down at such a treatment.

[१.] बाले खलु पण्डितं परोक्खं फरुसं वदेज्जा। तं पण्डिते बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले परोक्खं फरुसं वदति, णो पच्चक्खं। मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिन्तो ण विज्जति।' तं पण्डिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा।

(१) यदि कोई बाल/मूर्ख प्राणी प्रज्ञाशील को परोक्ष में (पीठ पीछे) कठोर वचन कहता है तो पण्डित पुरुष विचार करे कि 'यह अज्ञानी परोक्ष में कठोर वचन कह रहा है अर्थात् निन्दा कर रहा है, किन्तु मेरे सन्मुख कुछ नहीं कह रहा है। अज्ञानी मूर्ख-प्रकृति के होते हैं। इनको किंचित् भी ज्ञान का अनुभव नहीं है।' अतः ज्ञानवान मूर्खों की निन्दा या कठोर वचनों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, शान्ति रखे और उन पर विजय प्राप्त करे।

1. If a fool back-bites in respect of wise man the latter should be thankful that at least the former has spared him the humiliation of slighting him in his face. Fools are short-sighted. They have scanty wisdom. Hence it is but proper that the wise stand their nuisance without getting perturbed, patiently and stoically.

[२.] बाले खलु पण्डितं पच्चक्खमेव फरुसं वदेज्जा। तं पण्डिए बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले पच्चक्खं फरुसं वदति, णो दण्डेण लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा बाले कवालेण वा अभिहणति तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति उद्दवेति। मुक्खसभावा हु बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति।' तं पण्डिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

(२) यदि अज्ञानी ज्ञानशील को प्रत्यक्ष में ही कठोर वचन कहता है तो प्रज्ञावान् मन में विचार करे कि, 'देखो ! यह बाल/मूर्ख मेरे सामने ही मुझको कठोर वचन कह रहा है, किन्तु यह किसी डंडे से, लाठी से, पत्थर से, मुष्टि से या छोटे कपाल (घड़े का टुकड़ा, ठीकरी) आदि से मारता नहीं है, तर्जना नहीं करता है, पीटता नहीं है, परिताड़ना नहीं करता है, सन्ताप (परिताप) नहीं देता है और न उपद्रव करता है। अज्ञानी मूर्ख-स्वभाव के होते हैं। इनको किंचित् भी ज्ञान या अनुभव नहीं होता है।' अतः ज्ञानशील मूर्खों की कठोरवाणी को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्यभाव रहित होकर सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

2. If a fool casts aspersions in the immediate presence of a wise man the latter should still rationalise it as a lesser evil since the fool at least abstained from beating him with stick, stone and abuses. Fools pride in their folly. They never realise what is true and proper. That's why it is incumbent upon a wise man to brace himself for bearing such bruises reticently.

[3.] बाले य पण्डितं दण्डेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा कवालेण वा अभिहणेज्जा.. उद्दवेज्जा, तं पण्डिए बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले दण्डेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा कवालेण वा अभिहणति तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति उद्दवेति, अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णयरं सरीरजायं अच्छिन्दइ वा विच्छिन्दइ वा। मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बाले-हिंतो ण विज्जति।' तं पण्डिए सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

(३) यदि अज्ञानी व्यक्ति प्रज्ञाशील को डंडे से, लाठी से, पत्थर से, मुष्टि से, घड़े के टुकड़े आदि से मारता है, यावत् उपद्रव करता है तो वह पण्डित हृदय में पर्यालोचन करे कि 'देखो, यह अज्ञानी मुझे दण्ड से, लाठी से, पत्थर से, मुष्टि से, घड़े के टुकड़े से मारता है, तर्जना करता है, पीटता है, परितापना करता है, सन्ताप देता है और उपद्रव करता है, किन्तु यह किसी शस्त्र से मेरे शरीर के किसी अवयव का छेदन नहीं कर रहा है और न भेदन कर रहा है। अज्ञानी मूर्ख-स्वभाव के होते हैं, इनको किंचित् भी ज्ञान या अनुभव नहीं होता है।' अतः पण्डित पुरुष इन उपद्रवों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य पूर्वक सहन करे, दैन्यभाव रहित होकर सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

3. If a stupid man chooses to beat and torture the wise man with stone, stick etc. and pillory him like a ruffian, the latter should accept such a maltreatment with grace since he could have done worse and very well amputated or pierced his limbs as well. Fools will remain what they are, inconsiderate and indiscreet. A wise man should bear their mischief stoically without a demur.

[४.] बाले य पण्डियं अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णतरं सरीरजायं अच्छिन्देज्ज वा विच्छिन्देज्ज वा, तं पण्डिए बहु मण्णेज्जा–'दिट्ठा मे एस बाले अण्णतरेणं सत्थजातेणं अच्छिन्दति वा विच्छिन्दति वा, णो जीवितातो ववरोवेति। मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति।' तं पण्डिए सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

(४) यदि अज्ञानी व्यक्ति पण्डित पुरुष के शरीरस्थ किसी अंग का किसी शस्त्रादि से छेदन करता है, भेदन करता है तो वह पण्डित पुरुष आलोचन करे कि– 'देखो, यह अज्ञानी किसी शस्त्र विशेष से मेरे शरीर के किसी अवयव का छेदन अथवा भेदन कर रहा है, किन्तु मेरे प्राणों का नाश नहीं कर रहा है। ये अज्ञानी मूर्ख-स्वभाव के होते हैं। इन्हें किंचित् भी ज्ञान या अनुभव नहीं होता है।' अत: पण्डित पुरुष इस छेदन-भेदन को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य पूर्वक सहन करे, तितिक्षा–प्रसन्नता से सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

4. If the fool resorts to piercing the wise man's body or inflicting grievous injuries, the latter should still stand this affliction patiently with the consolation that at least he has chosen to spare the life of the hapless victim. Fools are replicas of indiscretion. They are unsympathetic and heartless. There is no go but to stand their inflictions with forbearance.

[५.] बाले पण्डितं जीवियाओ ववरोवेज्जा, तं पण्डिते बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले जीविताओ ववरोवेति, णो धम्माओ भंसेति। मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति'। तं पण्डिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

इ सि गि रि णा माहणपरिव्वायएणं अरहता बुइतं।

(५) यदि बाल–अज्ञानी पुरुष प्रज्ञावान् पुरुष के प्राणों का नाश करता है तो वह पण्डित ज्ञानवान् अधिक गम्भीरता से विचार करे कि—'देखो, यह अज्ञानी मेरे प्राणों का नाश कर रहा है, किन्तु मेरे धर्म को भ्रंश/भ्रष्ट अथवा नष्ट नहीं कर रहा है। अज्ञानी मूर्ख-स्वभाव वाले होते हैं, इन्हें किंचित् भी ज्ञान या अनुभव नहीं

होता है। अतः ज्ञानी पुरुष इस जीव-नाश को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य पूर्वक क्षमा करे, प्रसन्नता से सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

ऐसा अर्हत् माहणपरिव्राजक ऋषिगिरि बोले—

5. If the fool deigns to commit the wise man to death, the latter should console himself that the former has made this onslaught on the latter's physical body only, sparing his spiritual accomplishment and Dharma inviolate. Fools always pride upon their fatuity and the wise should tolerantly countenance it with catholicity and in good cheer.

Such was the preaching of Brahmin nomadic seer, Rishigiri :

जेण केणइ उवाएणं, पण्डिओ मोइज्ज अप्पकं ।
बालेणुदीरिता दोसा, तं पि तस्स हितं भवे ।।१।।

१. पण्डित पुरुष हर प्रकार के प्रयत्नों से अपनी आत्मा को मुक्त (प्रसन्न) रखे। अज्ञानियों के द्वारा किये गये द्वेषादि भी उसकी आत्मा के लिये हितकारी होते हैं।

1. A wise man should always retain his spiritual composure. Ill-will of the unwise is in a way beneficial for his self.

अपडिन्नभावाओ, उत्तरं तु ण विज्जती ।
सइं कुव्वइ वेसे णो, अपडिण्णे इह माहणे ।।२।।

२. जो अप्रतिज्ञ—राग-द्वेपरहित अथवा प्रतिहिंसा रहित भावों का धारक उत्तर—प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता है और स्वयं द्वेप नहीं करता है, वही अप्रतिज्ञ होता है और वही माहण होता है।

2. One free from resolve, attachment-aversion and retaliation, never responds to vicious provocation. He is free from ill-will and is a true Brahmin.

किं कज्जते उ दीणस्स, णऽण्णत्थ देहकंखणं ।
कालस्स कंखणं वा वि, णऽण्णत्तं वा वि हायती ।।३।।

३. दीन (साधारण) व्यक्ति देह की आकांक्षा के अतिरिक्त कुछ करता है? नहीं। वह दीन कभी-कभी मृत्यु की अभिलाषा करता है। इस प्रकार के चिन्तन से वह अपने आत्मस्वभाव का नाश करता है।

3. Does a common being aspire for anything except physical well-being ? He does not. However, such a being may sometimes desire death also. These are the means to ruin one's spirituality.

णच्चाण आतुरं लोकं, णाणावाहीहि पीलितं ।
णिम्ममे णिरहंकारे, भवे भिक्खू जितिन्दिए ।।४।।

४. लोक को नानाविध रोगों से रोगग्रस्त और पीड़ित देखकर भिक्षु श्रमण ममत्व और अहंकार रहित होकर जितेन्द्रिय बने ।

4. Being aware of the myriad ailments and miseries in the world, the monk should free himself of ego and pride and stay restrained.

पंचमहव्वयजुत्ते, अकसाए जितिन्दिए ।
से हु दन्ते सुहं सुयतो, णिरुवसग्गे य जीवति ।।५।।

५. पांच महाव्रतों से युक्त, कषाय रहित, जितेन्द्रिय और दमनशील श्रमण सुख से सोता है और उपसर्ग/उपद्रव रहित जीवन यापन करता है ।

5. Steadfast in the five great vows, free from vice and attachment, restrained and austere, the monk is ever content and passes a truly quiet and undisturbed life.

जे ण लुब्भति कामेहिं, छिण्णसोते अणासवे ।
सव्वदुक्खपहीणो उ, सिद्धे भवति णीरए ।।६।।

६. जो कामवासनाओं में लुब्ध नहीं होता है, जिसने कर्मस्रोत को छिन्न (नाश) कर दिया है और जो आस्रव रहित है वह समस्त दुःखों से मुक्त होकर, कर्मरज रहित होकर सिद्ध होता है ।

6. One not given to libidinous temptations, shielded from Karmic ingress, is everfree from all woes and protected from Karmic smear, attains the ultimate.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इसिगिरिणामज्झयणं चउतीसइमं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् माहण परिव्राजक ऋषिगिरि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirent to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Brahmin nomad Rishigiri, the seer) do pronounce.

ऋषिगिरि नामक चौंतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३४।

३५. पणतीसं अद्दालइज्जज्झयणं

चउहिं ठाणेहिं खलु भो जीवा कुप्पन्ता मज्जन्ता गूहन्ता लुब्भन्ता वज्जं समादियन्ति, वज्जं समादिइत्ता चाउरन्तसंसारकन्तारे पुणो पुणो अत्ताणं परिविद्धंसन्ति, तंजहा : कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं। तेसिं च णं अहं परिघातहेउं अकुप्पन्ते अमज्जन्ते अगूहन्ते अलुब्भन्ते तिगुत्ते तिदण्डविरते णिस्सल्ले अगारवे चउविकहविवज्जिए पंचसमिते पंचेन्दिय-संवुडे सरीरसाधारणट्ठा जोगसंधणट्ठा णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविप्प-मुक्कं उग्गमुप्पायणासुद्धं तत्थ तत्थ इतराइतरकुलेहिं परकडं परणिट्ठितं विगतिगालं विगतधूमं सत्यातीतं सत्थपरिणतं पिण्डं सेज्जं उवहिं च एसे भावेमि त्ति अ द्दा ल ए णं अरहता इसिणा बुइतं।

भो ! जीव चार प्रकार से कुपित होकर, मानी होकर, मायावी होकर और लोभी होकर हिंसादि पापकर्म को ग्रहण करता है। पापकर्मो को ग्रहण कर चतुर्गतिरूप संसार-वन में पुन:-पुन: अपने आत्मगुणों का विध्वंस करता है। वे हैं— क्रोध,मान, माया और लोभ। अब मैं इन चारों कषायों का प्रतिघात—नाश करने हेतु क्रोध नहीं करता, मान नहीं करता, छद्म/छलप्रपंच नहीं करता और लोभ नहीं करता। तीन गुप्तियों से रक्षित, मनो-वाक्-काय त्रिदण्ड से रहित, शल्य-रहित, महत्व अथवा अभिलापा से रहित, चार विकथाओं से रहित, पांच समितियों से युक्त, पांचों इन्द्रियों से संवृत होकर, शरीर-धारण और योगसाधन के लिए नव-कोटि विशुद्ध, दस दोषों से रहित, उद्गम और उत्पादन के दोषों से मुक्त, यहाँ-वहाँ विभिन्न कुलों में दूसरे के द्वारा बनाया हुआ और दूसरे के लिए निष्पादित, अग्नि और धूम्ररहित, शस्त्ररहित और शस्त्रपरिणत पिण्ड—भोजन, शय्या और उपधि ग्रहण करता हूँ।

ऐसा अर्हत् अद्दालक (उद्दालक) ऋषि बोले—

Be it known that the individual lapses into violence and sin, tempted by wrath, vanity, illusion and greed. Being soiled by sinful deeds, he loses his spirituality, owing to the fourfold worldly vices—wrath, vanity, illusion and avarice. To remedy these four vices I avoid these evils of anger, ego, illusion and avarice. I am fully protected from vice in my mind, speech and body. I am free from sin, ego and aspiration. I fully restrain myself and guard my five senses. For survival I beg pure meals not exclusively cooked for me and casually achieved, I similarly seek my bed, said Uddalak, the seer ;

अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए ।
कोवं किच्चा महावाणं, अप्पा विन्धइ अप्पकं ॥१॥

१. अज्ञानग्रस्त विमूढ़ात्मा केवल वर्तमान को देखता है और क्रोध को महावाण बनाकर, उससे अपनी आत्मा को बींध डालता है ।

1. A confused being attends to his present only and pierces his own soul by means of the arrow of wrath.

मण्णे वाणेण विद्धे तु, भवमेक्कं विणिज्जति ।
कोधवाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ॥२॥

२. वाण से बींध जाने पर मात्र एक भव विगड़ता है, किन्तु क्रोध रूपी वाण से विद्ध होने पर भव-सन्तति/भव-परम्परा ही विगड़ जाती है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

2. If one were pierced with an arrow, it would spoil his mundane existence only but by wrath one's very perennial career is menaced.

अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए ।
माणं किच्चा महावाणं, अप्पा विधइ अप्पकं ॥३॥

३. अज्ञानग्रस्त विमूढ़ात्मा केवल वर्तमान को देखता है और मान को महावाण बनाकर, उससे अपनी आत्मा को बींध डालता है ।

3. A confused being cares for the immediate present only while the arrow of vanity pierces his own soul.

मण्णे वाणेण विद्धे तु, भवमेकं विणिज्जति ।
माणवाणे विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ॥४॥

४. वाण से बींध जाने पर एक भव विगड़ता है किन्तु मान रूपी वाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा ही विगड़ जाती है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

4. An arrow can merely spoil this incarnation but vanity would ruin his perennial career.

अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए ।
मायं किच्चा महावाणं, अप्पा विधइ अप्पकं ॥५॥

५. अज्ञानग्रस्त विमूढात्मा केवल वर्तमान को देखता है और माया को महाबाण बनाकर, उससे अपनी आत्मा को बींध डालता है।

5. A confused being cares for the present only and pierces his soul with arrow of illusion.

मण्णे बाणेण विद्धे तु, भवमेकं विणिज्जति।
मायाबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ॥६॥

६. बाण से बींध जाने पर एक भव बिगड़ता है किन्तु मायारूपी बाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा ही बिगड़ जाती है। ऐसा मैं मानता हूँ।

6. An arrow can merely ruin one incarnation while illusion endangers the very perennial career of his.

अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए।
लोभं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधइ अप्पकं ॥७॥

७. अज्ञानग्रस्त विमूढात्मा केवल वर्तमान को देखता है और लोभ को महाबाण बनाकर, उससे अपनी आत्मा को बींध डालता है।

7. A confused being cares for the present only and pierces his soul with avarice.

मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति।
लोभबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ॥८॥

८. बाण से बींध जाने पर मात्र एक भव बिगड़ता है किन्तु लोभरूपी बाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा ही बिगड़ जाती हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

8. An arrow can merely spoil one incarnation while avarice imperils the very perennial career of his.

तम्हा तेसिं विणासाय, सम्ममागम्म संमतिं।
अप्पं परं च जाणित्ता, चरेऽविसयगोयरं ॥९॥

९. अतएव क्रोधादि चारों कषायों का विनाश करने के लिए विशद बुद्धि से सम्यक्दर्शन/सत्य तत्त्व को प्राप्त करे और स्व तथा पर का ज्ञान प्राप्त कर विषय-वासना रहित पथ पर विचरण करे।

9. That warrants attaining the ultimate truth by true perspective and conquering the four evils. One should discern the self from the non-self and free oneself from desire.

जेसु जायन्ते कोधाती, कम्मबन्धा महाभया ।
ते वत्थू सव्वभावेणं, सव्वहा परिवज्जए ॥१०॥

१०. जिन पदार्थों से कर्म-बन्धन के हेतु महाभयकारी क्रोधादि उत्पन्न होते हैं उन समस्त पदार्थों का समस्त प्रकार के भावों से सर्वथा परित्याग करे ।

10. The things that generate the terrible wrath and other Karmic bondages should be scrupulously eliminated by all means.

सत्थं सल्लं विसं जन्तं, मज्जं वालं दुभासणं ।
वज्जेन्तो तं णिमेत्तेणं, दोसेणं ण वि लुप्पति ॥११॥

११. शस्त्र, शल्य, विष, यन्त्र, मदिरा, सर्प और कटुवाणी का त्याग करने वाला तन्निमित्त से होने वाले दोषों से लिप्त नहीं होता है ।

11. One who abandons arms, sin, poison, instruments or gadgets, liquor, serpent and unpleasant address is spared of sins emanating therefrom.

आतं परं च जाणेज्जा, सव्वभावेण सव्वधा ।
आयट्ठं च परट्ठं च, पियं जाणे तहेव य ॥१२॥

१२. स्व और पर का सर्वभाव से सर्वथा परिज्ञान करे तथा इसी प्रकार स्व-अर्थ और परार्थ का सर्वभाव से सर्वथा हितकारी ज्ञान प्राप्त करे ।

12. One should distinguish the self from the non-self and arrive at the truly beneficial wisdom emanating therefrom by realising their true implication.

सए गेहे पलित्तम्मि, किं धावसि परातकं ?
सयं गेहं णिरित्ताणं, ततो गच्छे परातकं ॥१३॥

१३. स्वयं का घर (आत्मगृह) जल रहा है ऐसी दशा में दूसरे के घर की ओर क्यों दौड़ते हो ? स्वयं के घर की आग बुझाने के बाद दूसरे घर की ओर जाओ ।

13. While your own house is on fire why dost thou run to thy neighbour's ? First put out your own fire before you venture elsewhere.

आतट्ठे जागरो होहि, मा परट्ठाहिधारए ।
आतट्ठो हावए तस्स, जो परट्ठाहिधारए ।।१४।।

१४. आत्मार्थ–स्वकीय आत्म-साधन के लिये जागरूक रहो । पर–परवस्तु का साधन करने का प्रयत्न न करो । जो (स्वयं की साधना छोड़कर) पर की साधना के लिये उद्यत रहता है वह अपनी साधना भी खो बैठता है ।

14. Be watchful and cultivate spiritualism for your own benefit. Be little bothered about the material world. One who neglects one's own interest for the sake of alien interest is often denied true attainments.

जइ परो पडिसेवेज्ज, पावियं पडिसेवणं ।
तुज्झ मोणं करेन्तस्स, के अट्ठे परिहायति ? ।।१५।।

१५. यदि दूसरा कोई पाप आचरण की प्रतिसेवना कर रहा है उस समय तू यदि मौन धारण करता है तो तेरे साधन की क्या हानि होगी ?

15. If another indulges in sin, what ails thee to utter aught in this regard ? Wiser shall it be to keep mum at the moment.

आतट्ठो णिज्जरायन्तो, परट्ठो कम्मबन्धणं ।
अत्ता समाहिकरणं, अप्पणो य परस्स य ।।१६।।

१६. आत्मार्थ का साधन (स्व की ओर दृष्टि) निर्जरा का हेतु है और पदार्थ (पर की ओर दृष्टि) का साधन कर्मबन्धन का हेतु है । आत्मा ही स्व और पर के लिये समाधिकारक है ।

16. Attending to your own spiritual interest frees you from Karmas while watching avidly the material interests will generate Karmic bondage. It is the self that can discern it from the non-self.

अण्णातयम्मि अट्टालकम्मि किं जग्गिएण वीरस्स ? ।
णियगम्मि जग्गियव्वं, इमो हु बहुचोरतो गामो ।।१७।।

१७. अज्ञात अट्टालिका (महल) में अन्य वीर पुरुष के जागते रहने से क्या होगा ? स्वयं को जागृत रहना होगा । क्योंकि यह ग्राम चोरों से भरा हुआ है ।

17. If a valiant person keeps a vigil in another palace, what shall it yield him ? Keep your own vigil. The place is rampant with robbers.

जग्गाही, मा सुवाही, मा, ते धम्मचरणे पमत्तस्स ।
काहिन्ति बहुं चोरा, संजमजोगे हिडाकम्मं ॥१८॥

१८. जागते रहो । सोओ मत । धर्माचरण में प्रमाद मत करो । अन्यथा विषय कषायादि अनेक चोर तुम्हारे संयम और योग का हरण करने में चूक नहीं करेंगे ।

18. Be alert. Be not indolent. Indolence in spiritual practice is fatal. Otherwise the robbers of desire and sin shall rob you of your Yoga and restraint, positively.

पंचिन्दियाइं सण्णा, दण्डा सल्लाइं गारवा तिण्णि ।
बावीसं च परीसह, चोरा चत्तारि य कसाया ॥१९॥

१९. पांच इन्द्रियां, संज्ञा (मन की मूल अभिलाषायें), त्रिदण्ड, शल्य, तीनों गारव (गर्व, गारव), बावीस परीषह और चारों कषाय ये सभी चोर हैं ।

19. The five senses, leading urges, sin, ego and evils are all robbers.

जागरह णरा निच्चं, मा भे धम्मचरणे पमत्ताणं ।
काहिन्ति बहू चोरा, दोग्गतिगमणे हिडाकम्मं ॥२०॥

२०. मानवो ! सर्वदा जागते रहो । धर्माचरण में प्रमाद मत करो । अन्यथा ये वासना-कषायादि विविध चोर तुम्हारे सत्कर्मो का हरण कर, दुर्गतिदायक कर्मों की ओर तुम्हें प्रेरित कर देंगे ।

20. Be alert. Never muffle up religious practices. Else sin and desire shall deprive you of your benefic deeds and lead you to a tragic destiny.

अण्णायकम्मि अट्टालकम्मि जग्गन्त सोयणिज्जो सि ।
णाहिसि वणितो सन्तो, ओसहमुल्लं अविन्दन्तो ॥२१॥

२१. अज्ञात अट्टालिका (प्रासाद) में जागते हुए भी तेरी दशा शोचनीय है । जैसे (दीन-हीन व्यक्ति) व्रण (घाव) हो जाने पर भी औषध के मूल्य को

जानकारी न होने से औषधि प्राप्त नहीं कर पाता है। (इसी प्रकार मानव जागृति का महत्व समझे बिना परमार्थ तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता)।

21. You guard this enigmatic palace and still your plight is miserable, as a wounded being has no option but to suffer his malady for the want of remedial knowledge. (Ignorance of spiritual consciousness deprives one of the supreme knowledge).

जागरह णरा णिच्चं, जागरमाणस्स जागरति सुत्तं।
जे सुवति ण से सुहिते, जागरमाणे सुही होति ।।२२।।

२२. हे मानवो! प्रतिक्षण जाग्रत रहो। सर्वदा जाग्रत रहने वाला निद्राशील भी जाग्रत है। जो सोता रहता है वह सुखी नहीं होता और जो जागता है वह सुखी होता है।

22. Be vigilant, O man. One inwardly alert is still conscious while asleep. Indolent is never happy while the vigilant is ever happy.

जागरन्तं मुणिं वीरं, दोसा वज्जेन्ति दूरओ।
जलन्तं जातवेयं वा, चक्खुसा दाहभीरुणो ।।२३।।

२३. जागरणशील वीर श्रमण से दोष [स्वतः ही] दूर चले/भाग जाते हैं, जैसे दाहभीरु (आग से डरने वाला) जलती हुई आग को आँखों से देखते ही दूर भाग जाता है।

23. A vigilant and brave being repels all evils as fire repels a pyrophobic.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी।

पणतीसं अद्दालइज्जज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् अद्दालक/उद्दालक ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Uddalak, the seer, do pronounce.

अद्दालक नामक पैंतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३५।

३६. छत्तीसं तारायणिज्जज्झयणं

उप्पतता उप्पतता उप्पयन्तं पि तेण वोच्छामि । किं सन्तं वोच्छामि ? ण सन्तं वोच्छामि 'कुक्कुसया !' वित्तेण ता रा य णे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

उग्र क्रोध से उत्तप्त और उबलते हुए व्यक्ति से मैं मधुर वाणी से बोलूंगा । क्या तुम्हारा (क्रोध) शमन हो गया ? ऐसा मैं कहूंगा । उस अशान्त पुरुष से मैं कहूंगा कि, यह क्रोध तुप के समान निःसार है, अर्थात् यह क्रोधाचरण तुम्हारे योग्य नहीं है ।

ऐसा आत्मवैभव सम्पन्न अर्हत् तारायण ऋषि बोले—

I will respond composedly and tranquilly to an irate. I shall question him, "Has your wrath been pacified ?" I shall try to convince him that his anger is insubstantial and unworthy of him, said Tarayan, the accomplished seer :

पत्तस्स मम य अन्नेसिं, मुक्को कोवो दुहावहो ।
तम्हा खलु उप्पतन्तं सहसा कोवं निगिण्हितव्वं ।

ऐसा, कोप-पात्र के प्रति किया गया, कोप (क्रोध) मेरे और उसके लिये दुःखप्रद होता है । अर्थात् यह क्रोध दोनों के लिये दुःखदायक है । अतः क्रोध के अकस्मात् उत्पन्न होते ही उसका (पूर्णतया) दमन करना चाहिए ।

Wrath is as injurious to the subject as to the object. That's why anger should be trampled the moment it raises its head.

कोवो अग्गी तमो मच्चू, विसं वाधी अरी रयो ।
जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो ॥१॥

१. कोप अग्नि है, अन्धकार है, मृत्यु है, विप है, व्याधि है, शत्रु है, रज है, जरा है, हानि है, भय है, शोक है, मोह है, शल्य है और पराजय है ।

1. Wrath is fire. It is umbra. It is death, hemlock, severe malady. It is foe. It is dirt and death, bankruptcy, fear, confusion, sin and defeat.

वण्हिणो णो बलं छित्तं, कोहग्गिस्स परं बलं ।
अप्पा गती तु वण्हिस्स, कोवग्गिस्सऽमिता गती ॥२॥

२. अग्नि का बल कम मत समझो अर्थात् अग्नि बलशाली है, परन्तु क्रोधाग्नि उससे भी अधिक महाबलशाली है। अग्नि की गति अल्प है अर्थात् सीमित है और कोपाग्नि की गति अमर्यादित है।

2. Fire is no mean force. But the fire of wrath is far fiercer. Fire has a limited range but wrath is a tremendously more potent menace.

सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहि।
सव्वोदहिजलेणावि, कोवग्गी दुण्णिवारओ ।।३।।

३. बाहर की जलती हुई आग को पानी से बुझाना शक्य है, किन्तु कोपाग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी बुझाना दुर्निवार–नितान्त असम्भव है।

3. Physical fire can be put out with water but wrath cares tuppence for all the oceans, put together.

एक्कं भवं दहे वण्ही, दड्ढस्सऽवि सुहं भवे।
इमं परं च कोवग्गी, णिस्संकं दहते भवं ।।४।।

४. अग्नि केवल एक भव में (शरीर को) जलाती है और जला हुआ व्यक्ति स्वस्थ भी हो जाता है, किन्तु क्रोधाग्नि तो इस भव और पर भव में निःशंक होकर जलाती रहती है।

4. Fire can burn one's body only and one may still survive. Not so the wrath. It destroys this incarnation and the one that is to be.

अग्गिणा तु इहं दड्ढा, सन्तिमिच्छन्ति माणवा।
कोहग्गिणा तु दड्ढाणं, दुक्खं सन्ति पुणो वि हि ।।५।।

५. आग से जलने वाला मानव यहाँ तो (उपचार से) शान्ति की कामना करता है, किन्तु क्रोधाग्नि से जलने वाला मानव पुनः-पुनः दुःख को प्राप्त करता है।

5. A burnt being yearns for cure, while one burning with anger suffers recurrent misery sans end.

सक्का तमो णिवारेतुं, मणिणा जोतिणा वि वा।
कोवतमो तु दुज्जेयो, संसारे सव्वदेहिणं ।।६।।

६. मणि और ज्योति (प्रकाश) के द्वारा अन्धकार का निवारण किया जा सकता है, किन्तु क्रोध रूपी अन्धकार संसार के समस्त प्राणियों के लिये दुर्जेय है।

6. A gem and a lamp can brighten the encircling gloom but wrath in its gloom is insurmountable to all beings of the world.

सत्तं बुद्धी मती मेधा, गम्भीरं सरलत्तणं।
कोहग्गहऽभिभूयस्स, सव्वं भवति णिप्पभं ॥७॥

७. क्रोध रूपी ग्रह से अभिभूत मानव के सत्व, बुद्धि, मति, मेधा, गाम्भीर्य, सरलता (आदि) समस्त (गुण) निष्प्रभ हो जाते हैं।

7. Essential virtue, wisdom, foresight, sobriety, simplicity and all the excellences of one are depotentised, when one is eclipsed by wrath.

गंभीरमेरुसारे वि, पुव्वं होऊण संजमे।
कोवुग्गमरयोधूते, असारत्तमतिच्छति ॥८॥

८. पहले संयम में सुमेरु के समान गम्भीर और स्थिर रहा हो, किन्तु क्रोधोत्पत्ति की धूलिमात्र से वह उस संयम को पूर्णतया निःसार कर देता है।

8. Even if he were as profound in restraint as golden mountain Sumeru, prior to the wrathful spell, all this is nullified once the anger is triggered.

महाविसे वऽही दित्ते, चरेऽदत्तंकुरोदये।
छिट्ठे छिट्ठे स रूसन्ते, णिव्विसत्तमुपागते ॥९॥

९. जिस प्रकार महाविषधर सांप दर्पान्वित होकर क्रूर-वनस्पति विशेष को डसता है जिससे भविष्य में वह अंकुरित नहीं हो पाती। किन्तु, (उसको डसने पर उसे कुछ भी स्वाद प्राप्त नहीं होता उससे) वह रुष्ट होकर रुक-रुक कर उसको डसते हुए अपने विष को समाप्त कर देता है।

9. It is like a ferocious serpent that stings repeatedly, for no benefit to himself, till he ejaculates whole of his venom and the plant, thus stung, withers to death.

एवं तवोबलत्थे वि, णिच्चं कोहपरायणे।
अचिरेणऽवि कालेणं, तवोरित्तत्तमिच्छति ॥१०॥

१०. उसी प्रकार तपोवलशाली भी सर्वदा क्रोधपरायण होकर थोड़े से समय में ही अपने तपोवल को भी पूर्णतः समाप्त कर देता है ।

10. If a profound ascetic would lapse into wrath, he is likely to be shorn of the virtue of his penances in a short while.

गम्भीरोवि तवोरासी, जीवाणं दुक्खसंचितो ।
अवक्खेविणं दवग्गी वा, कोवग्गी दहते खणा ॥११॥

११. विविध दुःखों/कष्टों से उपार्जित गम्भीर तपोराशि को क्रोधाग्नि क्षणमात्र में भस्म कर डालती है । जैसे प्रज्वलित आग उसमें डाले हुए पदार्थों को तत्काल भस्म कर देती है ।

11. Great virtue acquired by prolonged penances is ruined by a momentary angry outburst, as everything is burnt in a jiffy by flame.

कोहेण अप्पं डहती परं च
अत्थं च धम्मं च तहेव कामं ।
तिव्वं च वेरं पि करेन्ति कोधा
अधरं गति वा वि उविन्ति कोहा ॥१२॥

१२. क्रोध स्वयं को भी जलाता है और दूसरों को भी जलाता है । क्रोध अर्थ, धर्म और काम को भी जला देता है । तीव्र क्रोध वैर-विरोध भी करा देता है तथा क्रोध नीच गति को भी प्राप्त कराता है ।

12. Anger reduces the subject as well as object both to ashes. It razes the three achievements of Dharma, Artha and Kama (spiritualism, wealth and fulfilment of desires).

Angry fulmination breeds severe enmity and brings about the meanest doom.

कोहाविद्धा ण याणन्ति, मातरं पितरं गुरुं ।
अधिक्खिवन्ति साधू य, रायाणो देवयाणि य ॥१३॥

१३. क्रोधाविष्ट माता, पिता और गुरु को भी नहीं जानता-समझता और साधु, राजा तथा देवताओं का भी अपमान कर देता है ।

13. A man in anger little cares for parents and mentors and may slight in such a fit the saint, the prince and the gods, indiscriminately.

कोवमूलं णियच्छन्ति, धणहाणिं बन्धणाणि य ।
पियविप्पओगे य बहू, जम्माइं मरणाणि य ।।१४।।

१४. क्रोध धनहानि और बन्धनों का मूल है। प्रियजनों का वियोग एवं जन्म-मरणों का मूल भी यही है ।

14. Anger is the root cause of adversity and bondage. It causes bereavement and reincarnations also.

जेणाभिभूतो जहती तु धम्मं
विद्धंसती जेण कतं च पुण्णं ।
स तिव्वजोती परमप्पमादो,
कोधो, महाराज, णिरुज्झियव्वो ।।१५।।

१५. जिससे (क्रोध से) अभिभूत होकर मानव धर्म को छोड़ देता है और स्वकृत पुण्यों का विध्वंस कर देता है ऐसा वह तीव्र ज्वाला युक्त सर्वोच्च प्रमाद रूप क्रोध भूपति निग्रह योग्य है । अथवा महाराज ! यह क्रोध निग्रह करने योग्य है ।

15. Listen to me O Prince, such a foe as anger deprives man of his very sense of humanity and renders him empty of all virtue. Hence it must be smothered then and there.

हट्ठं करेतीह णिरुज्झमाणो
भासं करेतीह विमुच्चमाणो ।
हट्ठं च भासं च समिक्ख पण्णे
कोवं णिरुम्भेज्ज सदा जितप्पा ।।१६।।

१६. जो निग्रह (निरोध) किये जाने पर हृष्ट करता है और छोड़े जाने पर भस्मीभूत करता है। अतः प्रज्ञावान जितात्मा क्रोधाग्नि की हृष्टता और भस्मशीलता की समीक्षा कर, क्रोध का सर्वदा निग्रह करे ।

16. It lends you strength if you can contain it and destroys you once you leave it unbridled. Pray, exercise your own discretion whether to contain it or leave it unbridled.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी ।

छत्तीसं तारायणिज्जमज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुन: इस संसार में नहीं आता है ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

ऐसा मैं (आध्यात्मिक लक्ष्मी सम्पन्न अर्हत् तारायण ऋषि) कहता हूँ ।

Thus, I spiritual pastmaster, Tarayan, the seer, do pronounce.

तारायण नामक छत्तीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३६।

३७. सत्तीसं सिरिगिरिज्जज्झयणं

[१.] सव्वमिणं पुरा उदगमासि त्ति सि रि गि रि णा माहणपरिव्वायगेण अरहता इसिणा बुइयं।

एत्थ अण्डे संतत्ते, एत्थ लोए संभूते, एत्थं सासासे, इयं णे वरुण-विहाणे।

[२.] उभयो-कालं उभयो-संभं खीरं णवणीयं मधु समिधासमाहारं खारं संखं च पिण्डेत्ता अग्गिहोत्तकुण्डं पडिजागरेमाणे विहरिस्सामीति तम्हा एयं सव्वंति बेमि।

[३.] णवि माया, ण कदाति णासि ण कदाति ण भवति ण कदाति ण भविस्सति य।

यहाँ पहले सब जलमय (जल तत्त्व) था।

ऐसा माहण परिव्राजक अर्हत् श्रीगिरि ऋषि बोले—

१. वहाँ अण्डा आया, संतप्त हुआ अर्थात् फूटा। उससे वहां लोक उत्पन्न हुआ। वह श्वसित हुई अर्थात् सृष्टि उत्पन्न हुई। यह वरुण देव का विधान नहीं है। अर्थात् किसी का कथन है कि यह सृष्टि वरुण (जल का देवता) द्वारा निर्मित नहीं है।

२. उभय काल और उभय सन्ध्या को क्षीर (दूध), नवनीत (मक्खन), मधु (शहद) और समिधा को एकत्रित कर, क्षार और शंख को मिलाकर, अग्निहत्रो कुण्ड को प्रतिक्षण जाग्रत करता हुआ मैं रहूंगा। इसीलिये यह सब मैं कहता हूँ।

३. यह विश्व माया नहीं है। कभी नहीं था ऐसा नहीं है। कभी नहीं है, ऐसा भी नहीं है और कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है। अर्थात् यह विश्व शाश्वत है, अनादि अनन्त है।

First it was all deluge, said Brahmin nomad Shrigiri, the seer :

1. The cosmic egg emerged which after its incubation burst forth. Its respiration was the emergence of cosmos. It is so believed that the cosmos was not created by Lord Varun (Mercury).

2. At dawn and at dusk, I shall offer milk, butter, honey and herbs with alkalies and conch shell to the altar fire. That I hereby avow.

3. The world is not an illusion. There was no point of time when the world was non-existent. Nor is it non-existent now, nor shall be so in future. The world is perennial-verily beginningless and endless.

पडुप्पण्णमिणं सोच्चा

सूरसहगतो गच्छे : जत्थेव सूरिये ।

अत्थमेज्जा खेत्तंसि वा णिण्णंसि वा तत्थेव णं पादुप्पभायाए रयणीये जाव तेजसा जलन्ते एवं खलु मे कप्पति पातीणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा पुरतो जुगमेत्तं पेहमाणे अहारीयमेव रीतित्तए ।

प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमानिक इस सत्य तथ्य को सुनकर (मुमुक्षु) सूर्य के साथ गमन करे। जहां सूर्य अस्त हो जाय उस समय खेत हो या ऊंची नीची भूमि हो (श्रमण) वहीं रुक जावे। रात्रि के व्यतीत हो जाने पर, तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण किसी भी दिशा में युगमात्र (चार हाथ परिमाण की) भूमि को देखते हुए (श्रमण को) यथारीति से चलना—विचरण करना कल्पता है।

Let the aspirant realise this metaphysical truth and let him follow the solar motion. The moment the sun sets, he should halt there, be it a field or a plateau. As soon as the sun rises after the nocturnal spell, he should rebegin his ambulation in any of the four directions, east, west, north or south, barely seeing a yard of space ahead.

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

सिरिगिरिज्जणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्णत्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment Such a being is freed of the chain of reincarnations.

ऐसा मैं (माहण परिव्राजक अर्हत् श्रीगिरि ऋषि) कहता हूँ।

Thus I, Brahmin, nomad Shrigiri, the seer, do pronounce.

श्रीगिरि नामक सैंतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३७।

३८. अट्ठतीसं साइपुत्तिज्जज्झयणं

जं सुहेण सुहं लद्धं, अच्चन्तसुखमेव तं ।
जं सुखेण दुहं लद्धं, मा मे तेण समागमो ।।१।।

सा ति पु त्ते ण बु द्धे ण अरहता बुइतं ।

१. जिस सुख से सुख प्राप्त होता है वही आत्यन्तिक सुख है, किन्तु जिस सुख मे दुःख की प्राप्ति हो ऐसे सुख से मेरा समागम न हो ।

ऐसा अर्हत् सातिपुत्र बुद्ध ऋषि वोले—

1. The true happiness is that which yields unmixed bliss. May I never come accross a happiness that results in anguish, said Satiputra Buddha, the seer.

मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं ।
मणुण्णंसि अगारंसि, झाति भिक्खू समाहिए ।।२।।

२. मनोज्ञ भोजन कर, मनोज्ञ शय्यासन का उपभोग कर और सुन्दर आवास (घर) में रहकर भिक्षु समाधि (सुख) पूर्वक ध्यान करता है ।

2. A monk meditates blissfully after consuming delectable dishes and sleeping over luxurious beds in comfortable mansions.

अमणुण्णं भोयणं भोच्चा, अमणुण्णं सयणासणं ।
अमणुण्णंसि गेहंसि, दुक्खं भिक्खू झियायती ।।३।।

३. अरुचिकर भोजन कर, अमनोज्ञ शय्यासन का उपभोग कर और असुन्दर आवास स्थान में रह कर भिक्षु दुःखपूर्वक ध्यान करता है ।

3. Another monk meditates in pain after consuming nauseating meals and sleeping over uncomfortable beds in wretched houses.

एवं अणेगवण्णागं, तं परिच्चज्ज पण्डिते ।
णण्णत्थ लुब्भई पण्णे, एयं बुद्धाण सासणं ।।४।।

४. इस प्रकार के अनेक वर्णक (प्रकरण) प्राप्त होते हैं अथवा अनेक गुणात्मक पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनका पण्डित त्याग करे। प्राज्ञ अन्यत्र लुब्ध न हो। यही बुद्ध (ज्ञानी) की शिक्षा है।

4. We come across such diametrically opposite narrations. The wise should avoid such qualitative extremes. The discreet should never be tempted by these. This is the prime teaching of Buddha.

णाणावण्णेसु सद्देसु, सोयपत्तेसु बुद्धिमं ।
गेहिं वायपदोसं वा, सम्मं वज्जेज्ज पण्डिए ।।५।।

एवं रूवेसु गन्धेसु रसेसु फासेसु अप्पप्पणाभिलावेणं

५. कर्णेन्द्रिय प्राप्त नानाविध वर्णो (शब्दों) में आसक्ति-भाव और वाणीदोष को प्रज्ञावान सम्यक् प्रकार से छोड़े। अर्थात् अनासक्त भाव से रहे।

इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य पदार्थो में बुद्धिमान आसक्ति-भाव न रखे।

5. The wise should carefully shun temptations arising out of provocative utterances and verbal monstrosities. Similarly the stimuli that ravish visual, lingual, olfactory and tactile senses be shunned.

पंच जागरओ सुत्ता, अप्पदुक्खस्स कारणा ।
तस्सेव तु विणासाय, पण्णे वट्टिज्ज संतयं ।।६।।

६. अप्रमत्त भिक्षु की पांचों इन्द्रियाँ सुप्त होते हुए भी अल्प दुःख का कारण बनती हैं अतः प्रज्ञावान उनके विनाश के लिये सतत प्रयत्न करे।

6. The five senses of a chaste monk are dormant and still may cause some degree of discomfort to him. Hence a total vigilance is warranted on the part of such a monk.

वाहिक्खयाय दुक्खं वा, सुहं वा णाणदेसियं ।
मोहक्खयाय एमेव, दुहं वा जइ वा सुहं ।।७।।

७. व्याधि का नाश करने के लिए जो भी दुःख या सुखरूप अर्थात् कड़वी या मीठी औषधियां होती हैं वे (वैद्य के) ज्ञान से उपदिष्ट हैं। इसी प्रकार मोह का क्षय करने के लिए जो कठोर (दुःखदायी) या सरल (सुखदायी) साधना पथ है वह भी सद्गुरु के द्वारा उपदिष्ट है।

7. Accumulated knowledge has prescribed the sweet or bitter herbs that can heal diseased body. Similarly, the great Master preaches the sweet or painful practices that remedy attachment.

ण दुक्खं ण सुहं वा वि, जहा-हेतु तिगिच्छति ।
तिगिच्छिए सुजुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥८॥

८. जिस हेतु (व्याधि) को लेकर चिकित्सा की जाती है वहाँ न दुःख है और न सुख है, किन्तु चिकित्सा में संलग्न रोगी को दुःख अथवा सुख हो सकता है ।

8. No pleasure and pain inhere in the malady itself. However the patient undergoing treatment may be experiencing pleasure or pain.

मोहक्खए उ जुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ।
मोहक्खए जहा-हेऊ, न दुक्खं न वि वा सुहं ॥९॥

९. मोह का क्षय करने में प्रवृत्त व्यक्ति को दुःख और सुख हो सकते हैं, किन्तु जिस हेतु (अन्तरंग व्याधि का नाश कर, मुक्ति प्राप्त करने के लिए) मोह का क्षय करता है वहाँ न (भौतिक) दुःख है और न (भौतिक) सुख है, अर्थात् मोह का क्षय कर आनन्दमयी आत्मिक स्थिति को प्राप्त करता है ।

9. The individual undergoing the treatment to be cured of attachment may experience pain or pleasure. However, the purpose of curing the disease of attachment is neutral so far as pleasure and pain sensations are concerned.

तुच्छे जणम्मि संवेगो, निव्वेदो उत्तमे जणे ।
अत्थितादीणभावाणं, विसेसो उवदेसणं ॥१०॥

१०. सामान्यजनों में संवेग (नरकादिजन्य दुःखों को देखकर मन में भय) होता है, उत्तम जनों में निर्वेद (विषयों के प्रति अनासक्ति भाव) होता है और अर्थिजनों में दीनभाव होता है, अथवा संवेग और निर्वेद (आत्मविद्या रहित होने से) ये दोनों दीनभाव है । अतः इनको विशेष रूप से (आत्मविद्या का) उपदेश दिया गया है ।

10. The ordinary folk are prone to emotive sway. Superior beings are indifferent to such urges. Selfish beings are meanly prone to emotive sway. Hence the latter have specially been tackled by preachers.

सामण्णे गीतणीमाणा, विसेसे मम्मवेधिणी ।
सव्वण्णुभासिया वाणी, णाणावत्थोदयन्तरे ॥११॥

११. सर्वज्ञभाषित वाणी नानाविध अवस्था और उदय के भेद से सामान्य-जनों में संगीतमय होने से हृदयग्राही होती है और उत्तमजनों में मर्मवेधिनी होती है। अथवा सर्वज्ञ की देशना नाना अवस्था और उदय के भेद से सामान्य और विशेष दो प्रकार की होती है। सामान्य संगीतमय होने से वस्तुतत्त्व का स्पर्शमात्र करती है और विशेष मर्मवेधक होने से वस्तुतत्त्व का पूर्णरूपेण दर्शन कराती है।

11. The preaching of the enlighted is pleasant and melodiously welcome to the common folk but it truly comes home to the superior beings. Thus the effect of such a preaching may prove barely superficial or truly profound depending on the different qualities of the listener.

सव्वसत्तदयो वेसो, णारम्भो ण परिग्गहो ।
सत्तं तवं दयं चेव, भासन्ति जिणसत्तमा ॥१२॥

१२. जिन श्रेष्ठ (जिनेश्वर) समस्त प्राणियों का उदय, वेष (मुनिवेष), अनारम्भ, अपरिग्रह, सत्य या सद्भाव, तप और दया का उपदेश देते हैं।

12. The great Jain saints in the garb of monks preach non-entrepreneurship, non-acquisition, truth, sincerity, austerity and compassion to all.

दन्तिन्दियस्स वीरस्स, किं रण्णेणऽस्समेण वा ? ।
जत्थ जत्थेव मोदेज्जा, तं रण्णं सो य अस्समो ॥१३॥

१३. दमितेन्द्रिय (इन्द्रियों का दमन करने वाले) वीर पुरुष के लिए अरण्य (जंगल) और आश्रम की क्या आवश्यकता है ? जहां-जहां 'मोदेज्जा' आंतरिक प्रसन्नता है अथवा मोह का अन्त/क्षय है वही उसके लिए जंगल है और वही उसके लिए आश्रम है ।

13. An austere being is truly brave. He cares naught for wilderness and hermitage. Wherever he experiences bliss and non-attachment is the wilderness and the hermitage to him.

किमु दन्तस्स रण्णेणं, दन्तस्स वा किमस्समे ? ।
णातिक्कन्तस्स भेसज्जं, ण वा सत्थस्सऽभेज्जता ॥१४॥

१४. जितेन्द्रिय के लिए जंगल क्या ? और दमनशील के लिए आश्रम क्या ? अर्थात् उसके लिए दोनों समान हैं। रोग मुक्त के लिए अथवा मर्यादाओं से पार के लिए कोई औषध नहीं है और शस्त्र के लिए अभेद्यता नहीं है।

14. What is a wilderness to an austere ? What is a hermitage to an ascetic ? What remedy is needed for the health ? What shield is needed to protect oneself from weapons ?

सुभावभावितप्पाणो, सुण्णं रण्णं वणंपि वा।
सव्वमेतं हि झाणाय, सल्लचित्ते व सल्लिणो ॥१५॥

१५. स्वभाव से भावित आत्मा के लिए शून्य वन और सघन बस्ती (ग्राम) दोनों समान हैं। उसके लिए ये सभी ध्यान की कारणभूत होती हैं और सशल्य-हृदयधारी के लिए ये सभी शल्यकारी होती हैं अर्थात् आर्त्तध्यान का निमित्त बनती हैं।

15. To a genuinely-endowed ascetic the dense towns are akin to wilderness. To such a one all circumstances conduce to self-absorption while to mundane beings they conduce to intenser materialism and distraction.

दुहरूवा दुरन्तस्स, णाणावत्था वसुंधरा।
कम्मादाणाय सव्वंपि, कामचित्ते व कामिणो ॥१६॥

१६. नाना रूप में स्थित वसुन्धरा दुष्टाशय वाले के लिए दुःख रूप और कर्मादान का साधन है। जैसे कामी व्यक्ति के लिए समस्त पदार्थ कामोत्पादक होते हैं।

16. The multifaceted mother-earth has abundance of misery and Karmic involvement for the selfish materialist as any and every article can provoke libido in a lascivious man's heart.

सम्मत्तं च दयं चेव, णिण्णिदाणो य जो दमो।
तवो जोगो य सव्वो वि, सव्वकम्मक्खयंकरो ॥१७॥

१७. सम्यक्त्व, दया, निदान रहित संयम, तप और (शुभ) योग ये समस्त गुण उसके समस्त प्रकार के कर्मों का क्षय करते हैं।

17. Equanimity, compassion, absolute austerity, penances and Yoga are the qualities that eradicate Karmas.

सत्थकं वा वि आरम्भं, जाणेज्जा य णिरत्थकं ।
पडिहत्थिं स जोएन्तो, तडं घातेति वारणो ।।१८।।

१८. आरम्भ सार्थक भी होता है और निरर्थक भी होता है, ऐसा समझो। प्रतिद्वन्द्वी हस्ति को देखकर हाथी तट को भी तोड़ देता है।

18. An initiative may be meaningful or infructuous. On detecting another elephant as adversary, an elephant can demolish the river bank to no purpose in a fit of rage.

जस्स कज्जस्स जो जोग्गो, साहेतुं जेण पच्चलो ।
कज्जं वज्जेति तं सव्वं, कामी वा णग्गमुण्डणं ।।१९।।

१९. जो जिस कार्य के योग्य है वह उसी कार्य को करे। जिस कार्य में जिसका विश्वास नहीं है वह उस कार्य को छोड़ देता है। जैसे कामी पुरुष नग्नत्व और मुण्डनत्व को छोड़ देता है अर्थात् संयम मार्ग का त्याग कर देता है।

19. One should choose a vocation, that one has a knack for. A libidinous individual has little inclination to monkhood as a man averse to a vocation never seeks it.

जाणेज्जा सरणं धीरो, ण कोडिं एति दुग्गतो ।
ण सीहं दप्पियं छेयं, णेभं भोज्जाहि जम्बुओ ।।२०।।

२०. धैर्यशील महापुरुष की शरण लेनी चाहिए, ऐसा समझो। धीर के जैसी शरणागत की रक्षा दुर्ग से युक्त पर्वत शिखर भी नहीं कर सकता। दृप्त सिंह और कुशल—निपुण हस्ति शृगाल का भोज्य नहीं हो सकता।

20. Pray, seek refuge in a great soul. A mountainous fortress is a poor protection compared to a valorous protector. A brave lion and an astute elephant are never a jackal's prey.

वेसपच्चाणसंबद्धे, संबद्धं वारए सदा ।
णाणा—अरति—पायोग्गं, णालं धारेतु बुद्धिमं ।।२१।।

२१. वेष-प्रच्छादन—रजोहरणादि मुनि-वेष से युक्त और परमार्थतत्त्व से सम्बद्ध श्रमण मुनिभाव के विरुद्ध आस्रव एवं मिथ्यात्वजन्य क्रियाओं से असम्बद्ध रहे अथवा तत्त्वविरुद्धगामी पुरुषों से सम्पर्क न रखे। बुद्धिमान श्रमण के लिए अरति-प्रयोजक वस्त्रादि का धारण करना अथवा अरति-प्रयोजक—मानसिक

शान्ति भंग करने वालों का सम्पर्क न रखना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसके लिए संयम की साधना ही अपेक्षित है।

21. One initiated in a monk's garb should veer of any prescribed act. He should beware of characters who are not like-minded. To a monk donning non-provocative austere garb and similar mental frame is not enough. He should cultivate restraint constantly.

बम्भचारी जति कुद्धो, वज्जेज्ज मोहदीवणं ।

ण मूढस्स तु वाहस्स, मिगे अप्पेति सायकं ।।२२।।

२२. ब्रह्मचारी यदि किसी कारण से क्रोधित हो भी जाय तब भी वह मोह को उद्दीप्त करने वाले पदार्थों से दूर ही रहे अर्थात् मोह को उद्दीप्त न होने दे। जैसे मूर्ख शिकारी के बाण मृग का वेध नहीं कर सकते। (वैसे ही मूढमुनि ज्ञानवान नहीं हो सकता।)

22. If a continent being be once irascible, he should keep off existing objects. A clumsy hunter's arrows never hit a deer. (Similarly, a stupid monk never acquires wisdom).

पन्नाणं चेव रूवं व, णिच्छयम्मि विभावए ।

किमत्थं गायते वाहो, तुण्हिक्का वावि पक्खिता ।।२३।।

२३. मुनि वेष और रूप का निश्चय से विचार करे। शिकारी के गायन को सुनकर पक्षीगण किसलिए चुप हो गये हैं? अर्थात् पक्षीगण वेष और लिंग से उसकी हिंसात्मक भावना को समझ कर चुप हो जाते हैं।

23. A monk should contemplate the garb prescribed for him. What silences the birds, once a hunter begins to sing a song to attract him? Obviously, they can unravel his motives by his looks and deeds.

कज्जणिव्वत्तिपाओग्गं, आदेयं कज्जकारणं ।

मोक्खनिव्वत्तिपाओग्गं, विण्णेयं तं विसेसओ ।।२४।।

२४. कार्य की निष्पत्ति के लिए उचित कार्य-कारण अपेक्षित हैं। मोक्ष-निर्वृत्ति की रचना (प्राप्ति) के लिए वे ही उचित कार्य-कारण विशेष रूप से अपेक्षित हैं।

24. Proper cause alone results in corresponding effect. Deliverance warrants suitable series of action culminating into emancipation.

परिवारे चेव वेसे य, भावितं तु विभावए ।
परिवारेऽवि गम्भीरे, ण राया णीलजम्बुओ ।।२५।।

२५. स्वभाव से भावित आत्मा ही परिवार और मुनिवेष में रहते हुए विशुद्ध दशा प्राप्त कर सकती है। अर्थात् आत्मवंचना न करे। विशाल परिवार से परिवृत होने पर भी वंचक होने के कारण नीलजाम्बूक—रंगा सियार राजा नहीं हो सका।

25. A genuinely inspired soul alone can sublimate himself, whether he is surrounded by his kins or is practising as a monk. Insincerita would evidently be fatal, in either case. In the fable of jackal Nilajambuk's belonging to a large family could not promote him to the chiefdom owing to his contradictory character.

अत्थादाइं जणं जाणे, णाणाचित्ताणुभासकं ।
अत्थादाईण वीसंगो, पासन्तस्सऽत्थसंततो ।।२६।।

२६. अर्थादायी—अर्थग्राही अर्थात् धनलोलुप व्यक्ति को विविध प्रकार से मन को आकर्षित करने वाली मधुर भाषा बोलने वाला (मीठा बोला) समझो। अथवा अधिक मधुरभाषी को अर्थलोलुप व्यक्ति समझना चाहिये। उसकी अर्थ-ग्रहण करने की सन्तति/परम्परा को देखकर उस धनलोलुप व्यक्ति से दूर ही रहना चाहिये।

26. The avaricious resorts to wily tactics in his persuasive specious speech. Honey-tongued individuals are patently greedy. We should be wary of such glib beings as they are thorough-going materialists and self-seekers.

डम्भकप्पं कत्तिसमं, णिच्छयम्मि विभावए ।
णिक्खिलामोस कारित्तु, उवचारम्मि परिच्छती ।।२७।।

२७. दम्भपूर्ण आचरण को निश्चयपूर्वक सिंह-चर्म से आच्छादित शृगाल के समान समझना चाहिए। पूर्णरूप से असत्याचरण करने वाले की उपचार से परीक्षा होती है।

27. A crafty conduct embodies a jackal in a tiger-hide. Crooks are detected by experience only.

सब्भावे दुब्बलं जाणे, णाणावण्णाणुभासकं ।
पुप्फादाणे सुणंदा वा, पवकारघरं गता ॥२८॥

२८. मानव स्वभाव से दुर्बल है। वह अनेक वर्णों–रूपों आदि का आभास देता है। पुष्पग्रहण करने के लिए सुनन्दा प्लवकार (नाव बनाने वाले) के घर गई।

28. Man is fallible by nature. He can adopt a thousand guises. The legend of Sunanda who approached the boatmaker for flowers illustrates this axiom.

दव्वे खेत्ते य काले य, सव्वभावे य सव्वधा ।
सव्वेसिं लिंगजीवाणं, भावाणं तु विहावए ॥२९॥

२९. द्रव्य, क्षेत्र, काल और सभी प्रकार के भावों में तथा समस्त लिंगों–वेषों में रहे समस्त जीवों की भावना को सर्वदा समझना चाहिए।

29. We should be able to realise the truth behind different garbs in substance, time, place and feeling.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

साइपुत्तिज्जं णामज्झयणं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण-त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् सातिपुत्र बुद्ध ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Satiputra Buddha, the seer) do pronounce.

सातिपुत्र बुद्ध नामक अट्ठाईसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२८।

३६. एगूणचत्तालीसं संजइज्जज्झयरणं

जे इमं पावकं कम्मं, नेव कुज्जा ण कारवे ।
देवावि तं णमंसन्ति, धितिमं दित्ततेजसं ॥१॥

१. जो मानव इन पाप कर्मों को न स्वयं करता है और न दूसरों से करवाता है उस धृतिमान और दीप्ततेजस्वी को देवता भी नमस्कार करते हैं ।

1. The conduct of a man who neither indulges in sin nor abets others to do it merits highest respect from angels.

जे णरे कुव्वती पावं, अन्धकारं महं करे ।
अणवज्जं पण्डिते किच्चा, आदिच्चेव पभासती ॥२॥

२. जो मानव पाप कर्म करता है वह अन्धकार की वांछा करता है, अथवा अन्धकार का मंथन करता है। जो पण्डित पुरुष पापरहित कर्त्तव्य करता है वह सूर्य की तरह प्रकाशित होता है ।

2. A sinful creature cherishes and cultivates dark forces of evil. The wise who carries through sin-free conduct is akin to the sun in splendour.

सिया पावं सइं कुज्जा, तं ण कुज्जा पुणो पुणो ।
णाणि कम्मं च णं कुज्जा, साधु कम्मं वियाणिया ॥३॥

३. पाप का प्रसंग आने पर कदाचित् एक बार पापकृत्य का आचरण हो भी जाए तब भी बारम्बार उस पापकृत्य को न करे। ज्ञानवान शुभ कृत्यों को पहचान कर उन्हीं का आचरण करे ।

3. If, perchance, one is led into the alley of sinful deed,. one should subsequently, steer clear of such a monstrous conduct. The wise should perform exclusively virtuous acts.

सिया [.........] कुज्जा तं तु पुणो पुणो ।
से निकायं च णं कुज्जा साहु भोज्जो वि जायति ॥४॥

रहस्से खलु भो पावं कम्मं समज्जिणित्ता दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ कम्मओ अज्झवसायओ सम्मं अपलिउंचमाणे जहत्थं आलोएज्जा । सं ज ए णं अरहता इसिणा बुइतं ।

४. यदि कदाचित् पापकृत्य हो भी जाय तब भी पुनः-पुनः उसका आचरण कर उसका समूह न बनावे जिससे कि उसे पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करना पड़े।

प्रच्छन्न रूप से पाप किया हो तब भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से, कर्म और अध्यवसाय पूर्वक सम्यक् प्रकार से निष्कपट—निश्छल हृदय होकर यथार्थरूप से उसकी आलोचना करे।

ऐसा अर्हत् संजय ऋषि बोले।

4. A sin once committed need not be repeated lest such acts might multiply and attain huge magnitude and result in reincarnation. If it were a sin in disguise or by implication, one should objectively scrutinize it spatially, temporally, metaphysically and ethically in a pure and dispassionate manner.

णवि अत्थि रसेहिं भद्दएहिं संवासेण य भद्दएण य।
जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए संजए ॥५॥

५. मुझे सुस्वादु रसों और भव्य आवास-स्थानों से कोई प्रयोजन नहीं है। जहां संजय जंगलवासी मृग का वध करने के लिये जाता है अथवा मृग का वध करता है।

5. I have little regard for sumptuous meals and regal mansions where Sanjaya brings wild deer for sacrifice.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

संजइज्जं नामज्झयणं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् संजय ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of re-incarnations.

Thus I (Sanjaya, the seer) do pronounce.

संजय नामक उनचालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥३९॥

४०. चत्तालीसं दीवायणिज्जज्झयणं

इच्छमणिच्छं पुरा करेज्जा। दी वा य णे ण अरहता इसिणा बुइतं।

पहले इच्छा को अनिच्छा में परिवर्तित करे।

ऐसा अर्हत् द्वैपायन ऋषि बोले—

Transmute desire into desirelessness, said Dwaipayan, the seer :

इच्छा बहुविधा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छमणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधती ॥१॥

१. लोक में विविध प्रकार की इच्छाएँ हैं। इच्छाओं से बद्ध होकर जीव क्लेश पाता है। अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतने वाला जीव सुख पाता है।

1. Yearnings are countless. An individual docketed in yearning attracts miseries numberless. The sole means of getting rid of miseries is by being yearningless.

इच्छाभिभूया न जाणन्ति, मातरं पितरं गुरुं।
अधिक्खिवन्ति साधू य, रायाणो देवयाणि य ॥२॥

२. इच्छाभिभूत मानव माता-पिता और गुरुजनों को भी नहीं जानते हैं। अर्थात् इच्छाभिभूत की दृष्टि में इनका भी कोई महत्व या स्थान नहीं है। ऐसा मानव साधु, राजा और देवता को भी अपमानित कर देता है।

2. One engrossed in desires would not recognise his parents and teachers. To him they are of no significance. Such a being is prone to run down saints, princes and gods.

इच्छामूलं नियच्छन्ति, धणहाणिं बन्धणाणि य।
पियविप्पओगे य बहू, जम्माइं मरणाणि य ॥३॥

३. इच्छा धनहानि और बन्धनों का मूल है। प्रियवियोग और अनेक जन्म-मरणों का मूल भी यही है।

3. Desire is the root of all bondage. It causes bereavement as well as multiple reincarnations.

इच्छन्तेणिच्छते इच्छा, अणिच्छं तं पि इच्छति ।
तम्हा इच्छं अणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेहती ॥४॥

४. इच्छा चाहने वालों को नहीं चाहती, अपितु अनिच्छुक को चाहती है। अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतकर (जीव) सुख पाता है।

4. Desire-fulfilment obliges him who has scorned it. One who conquers desire with desirelessness is the heir to lasting happiness.

दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ जहाथामं जहाबलं जधाविरियं अनिगूहन्तो आलोएज्जासि त्ति ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और यथा वैर्य, पराक्रम और पुरुषार्थ को न छिपाकर आलोचना-प्रायश्चित्त करे।

All situations and circumstances, temporal, spatial, metaphysical and ethical should be examined ruthlessly and amends made for any moral lapse on these accounts.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

इइ दीवायणिज्जमज्झयणं ॥

ऐसा मैं (अर्हत् द्वैपायन ऋषि) कहता हूँ।

Thus I, (Dwaipayan, the seer) do pronounce.

द्वैपायन नामक चालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥४०॥

४१. एगचत्तालीसं इन्दनागिज्जज्झयणं

जेसिं आजीवतो अप्पा, णराणं बलदंसणं ।
तवं ते आमिसं किच्चा, जणा संणिचते जणं ॥१॥

१. जो जीव अपनी आजीविका के लिये तपोबल का प्रदर्शन कर मानव समूह को एकत्रित करते हैं वे वस्तुतः अपने तपोबल को आसक्ति से दूषित करते हैं ।

1. Those who draw huge crowds to themselves by expending their moral acquisition for their livelihood are, in fact, polluting their virtue by attachment.

विकीतं तेसि सुकडं तु, तं च णिस्साए जीवियं ।
कम्मचेट्ठा अजाता वा, जाणिज्जा ममका सढा ॥२॥

२. उन जीवों का सुकृत मानो बिकाउ होता है और उस सुकृत पर आधारित उनका जीवन भी बिका हुआ होता है । उनका क्रियाकलाप निकृष्ट होता है । वे अहंकारी और शठ/धूर्त होते हैं ।

2. Their virtue is like a purchaseable commodity and their life, thriving on such a virtue, is also a saleable commodity. Their conduct is base. They are damned by their vanity and depravity.

गलुच्छिन्ना असोते वा, मच्छा पावन्ति वेयणं ।
अणागतमपस्सन्ता, पच्छा सोयन्ति दुम्मती ॥३॥

३. निर्जल स्थान में अथवा छेदित कण्ठ वाला मत्स्य जैसे वेदना को प्राप्त करता है, इसी प्रकार भविष्य को न देखने वाला दुर्मति जीव बाद में शोक करता है ।

3. A fish without water and one angled in a hook is a damned one. Similar is the unenviable fate of one who is ignorant of one's future destiny.

मच्छा व झीणपाणीया, कंकाणं घासमागता ।
पच्चुप्पण्णरसे गिद्धा, मोहमल्लपणोल्लिया ॥४॥

४. जैसे मत्स्य अल्प पानी के कारण कंकास घास में आकर फंस जाता है, वैसे ही मोहमल्ल से उद्वेलित जीव वर्तमान में प्राप्त रसों (सुखों) में लुब्ध हो जाता है ।

4. Like a fish drawn to waterless moss, an attached individual lured by the immediate temptations meets a hapless end.

दित्तं पावन्ति उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणा ।
आहारमेत्तसंवद्धा, कज्जाकज्जणिमिल्लिता ॥५॥

५. जैसे जल में रहा हुआ हस्ति उत्कट उद्दीपन को प्राप्त करता है वैसे ही आहार मात्र से सम्बन्ध रखने वाला कार्याकार्य की विचारणा से आंखें मूंद लेता है अर्थात् विवेक रहित हो जाता है ।

5. As an elephant sporting ecstatically in wild waters, a gourmendiser is befuddled to close eyes to all sense of perspective.

पक्खिणो घतकुम्भे वा अवसा पावेन्ति संखयं ।
मधु पास्यति दुर्बुद्धी, पवातं से ण पस्सति ॥६॥

६. घी के घड़े में पड़ी हुई मक्खी विवश होकर मृत्यु को अवश्य प्राप्त करती है। मधुविन्दु को प्राप्त करने वाला दुर्बुद्धि मनुष्य नीचे के प्रपात (गहरी खाई) को नहीं देखता है ।

6. A fly in ointment is nearing its sure death. An obtuse individual greedily sucks droplets of nectar dripping from above but is forgetful of the deep abysm beneath.

आमिसत्थी झसो चेव, मग्गते अप्पणा गलं ।
आमिसत्थी चरित्तं तु, जीवे हिंसति दुम्मती ॥७॥

७. मांसलोलुप मत्स्य स्वयं गल (मछली पकड़ने के कांटे) को खोजता है। मांसार्थी के चरित्र के समान दुर्बुद्धि मनुष्य प्राणियों की हिंसा करता है ।

7. The voracious fish seeks the angling fork of its own accord similarly ill-witted folk cause bodily loss to other individuals.

अणग्घेयं मणिं मोत्तुं, सुत्तमत्ताभिनन्दती ।
सव्वण्णुसासणं मोत्तुं, मोहादीएहिं हिंसती ।
सोत्र-मत्तेण विसं गेज्झं, जाणं तत्थेव जुंजती ॥८॥

८. जैसे अज्ञानी महामूल्यवान मणि को फेंककर केवल सीप को पाकर प्रसन्न हो जाता है वैसे ही अज्ञानी सर्वज्ञ के शासन को छोड़कर मोहादिक कषायों

से स्वचरित्र का हनन करता है।

श्रोत्र मात्र से ही विष ग्रहण करने योग्य है (मुख से ग्रहण करने पर मृत्यु है।) यह जानकर भी अज्ञानी उसी को ग्रहण करता है।

8. Like an ignorant being discarding gems for mere oysters a stupid man turns his back to omniscience and opts for vices that explode his morals. Hemlock may not do harm to one's ears, in one's mouth it is instantaneous death. And still human beings are prone to commit such follies.

आजीवत्थं तवो मोत्तुं, तप्पते विविहं बहुं।
तवनिस्साए जीवन्तो, तवाजीवं तु जीवती ॥९॥

९. आजीविका के लिये तप को छोड़कर विविध रूपों में अनेक प्रकार का तप करता है। तप का आश्रय करके जीने वाला तपोमय जीवन को जीता है।

9. Wise people never harness their austerities to earn their livelihood. They dedicate themselves to austerities and penances in right earnest.

णाणमेवोवजीवन्तो, चरित्तं करणं तहा।
लिंग च जीवणट्ठाए, अविसुद्धं ति जीवती ॥१०॥

१०. कोई ज्ञान से जीवन-यापन करते हैं। कुछ चारित्रिक क्रिया से जीवन जीते हैं। जिन्होंने वेष (मुनिवेष) को जीविका का साधन बनाया है, वे अशुद्ध–दोषपूर्ण जीवनयापन करते हैं।

10. Certain individuals expend their knowledge for earning their bread. Certain others encash their morals. Those who thus put their monkhood to bread-earning are vicious.

विज्जामन्तोपदेसेहिं, दूतीसंपेसणेहिं वा।
भावीभवोवदेसेहिं, अविसुद्धं ति जीवति ॥११॥

११. विद्या, मन्त्र-तन्त्र के उपदेश से, दूतिक-संदेशवाहक के कार्य से, भविष्य के कथन से अर्थात् निमित्तशास्त्र से और भवों की बातें बताते हुए उपदेश के माध्यम से जो जीवन निर्वाह करते हैं वे दोषपूर्ण जीवन जीते हैं।

11. They are equally sinful who teach occultism, run errands, predict astrology and who preach and choose such vocations for their bread.

मूलकोउयकम्मेहिं, भासापणइएहि या ।
अक्खाइओवदेसेहिं, अविसुद्धं तु जीवति ॥१२॥

इ न्द ना गे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१२. मूल कौतूहलजन्य कार्यकलापों (इन्द्रजाल) से, वाणी चातुर्य से, कहानियों के माध्यम से अथवा द्यूतकला से जीवन जीते हैं उनका जीवन दोषपूर्ण है ।

ऐसा अर्हत् इन्द्रनाग ऋषि बोले ।

12. Such careers are least imitable, who entertain as necromancers, quizzical speakers and narrators of tables or gamblers, said Indranag, the seer.

मासे मासे य जो बालो, कुसग्गेण आहारए ।
ण से सुक्खायधम्मस्स, अग्घती सतिमं कलं ॥१३॥

१३. जो बाल–अज्ञानी महीने-महीने में कुशाग्रमात्र आहार-भोजन करता है वह श्रुताख्यात धर्म (आत्मिक धर्म) की सौंवी कला भी प्राप्त नहीं करता ।

13. The demonstrator of his own virtue by living austerely on one meagre meal a month remains satisfied by infinitesimal virtue.

मा ममं जाणऊ कोयी, माहं जाणामि किंचि वि ।
अण्णातेणऽत्थ अण्णातं, चरेज्जा समुदाणियं ॥१४॥

१४. मुझे कोई नहीं जाने और न मैं किसी को जानूं । अज्ञात के साथ अज्ञात बनकर समाज में (भिक्षा के लिये) विचरण करे ।

14. Let none know me and I know none. One should move incognito along the face of the globe and beg for one's meals.

पंचवणीमगसुद्धं, जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा ।
तस्स सुलद्धा लाभा, हणणादीविप्पमुक्कदोसस्स ॥१५॥

१५. जो दोष-प्रमुक्त मुनि है वह पांच प्रकार के वनीपकों का बाधक न [illegible] हुआ, सम्यक् प्रकार से अन्वेषण करता हुआ भिक्षा ग्रहण करता है तो उसे [illegible] का लाभ सुलभ है ।

15. A monk freed of all vices and surviving on carefully chosen alms of food (without usurping the food claimed by dog, guest, beggar, weak or Brahmin) frees himself spontaneously of all Karmas.

जहा कवोता य कविंजला य
गावो चरन्ती इह पातडाश्रो ।
एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा
णो वीलवे णो वि य संजलेज्जा ॥१६॥

१६. जैसे कबूतर, कपिंजल (गौरा) पक्षी और गाय प्रातःकाल भोजन (चरने) के लिये भ्रमण करते हैं। इसी प्रकार मुनि गौचरी के लिए भ्रमण करे। भ्रमण करता हुआ किसी के साथ संभाषण न करे और इच्छित वस्तु प्राप्त न होने पर न किसी पर मन में कुढ़े या जले।

16. Like a pigeon and a cow he should roam about for his meals. He should utter no word during his beat nor dislike unwelcome meal thus received.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए श्रलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

इइ इन्दनागिज्जज्झयणं ॥

ऐसा मैं (अर्हत् इन्द्रनाग ऋषि) कहता हूँ।

Thus I, Indranag, the seer, do pronounce.

इन्द्रनाग नामक इकतालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥४१॥

४२. बायालीसं सोमिज्जज्झयणं

अप्पेण बहुमेसेज्जा जेट्ठमज्झिमकण्णसं।

णिरवज्जे ठितस्स तु णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्तए।

सो मे ण अरहता इसिणा बुइतं।

मुमुक्षु! ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ किसी भी पद या अवस्था में हो वह अल्प से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

निरवद्य स्थिति में रहे हुए को पुनः सावद्य का सेवन करना नहीं कल्पता है।

ऐसा अर्हत् सोम ऋषि बोले—

An aspirant should keep an eye on spiritual elevation further and further, be he a novice, a moderately accomplished one or a doyen. One who has renounced everything, hardly does justice to oneself by further reverting to attachment, said Soma the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इइ सोमिज्जं णामज्झयणं॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् सोम ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Soma, the seer, do pronounce.

सोम नामक बयांलीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ॥४२॥

४३. तिचत्तालीसं जमज्झयणं

लाभम्मि जे ण सुमणो, अलाभे णेव दुम्मणो ।
से हु सेट्ठे मणुस्साणं, देवाणं व सयक्कऊ ॥१॥

ज मे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१. जो लाभ में सुमन (प्रसन्न) नहीं होता और अलाभ में दुर्मन (नाराज) नहीं होता वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, जैसे देवों में शतक्रतु—इन्द्र ।

ऐसा अर्हत् यम ऋषि बोले ।

1. One untouched by excitement in prosperity and anguish in adversity is the salt of earth like the prince of gods Lord Indra, said Yama, the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ जम-णामज्झयणं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् यम ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Yama, the seer, do pronounce.

यम नामक तयालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥४३॥

४४. चउआलीसं वरुणज्झयणं

दोहिं अंगेहिं उप्पलन्तेहिं आता जस्स ण उप्पीलति ।

रागंगे य विदोसे य से हु सम्मं णियच्छती ।
वरुणेणं अरहता इसिणा बुइतं ॥

कर्म के दोनों अंग—राग और द्वेष की उत्पीड़ना से जिसकी आत्मा उत्पीड़ित नहीं होती वही सम्यक् प्रकार से निश्चय करता है ।

ऐसा अर्हत् वरुण ऋषि बोले ।

One, who is least perturbed by attachment and aversion, the twin wings of Karma, alone is endowed with a true discretion and decisive capacity, said Varuna, the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ वरुण-णामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है, और भविष्य में इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् वरुण ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Varuna, the seer, do pronounce.

वरुण नामक चवांलीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥४४॥

४५. पणयालीसं वेसमणिज्जज्झयणं

अप्पं च आउं इह माणवाणं
सुचिरं च कालं णरएसु वासो ।
सव्वे य कामा णिरयाण मूलं
को णाम कामेसु बुहो रमेज्जा ? ॥१॥

१. यहां मनुष्यों की आयु अल्प है और नरक में सुदीर्घ काल तक निवास होता है । समस्त काम-वासनायें नरकवास का मूल हेतु हैं । अतः कौन बुद्धिमान इन वासनाओं में रमण करेगा ?

1. Human beings are shortlived on earth while a stay in inferno is marked by an existence lasting aeons. While desires and passions lead to hell, what ails a wise man that he would indulge in passion and desire ?

पावं ण कुज्जा, ण हणेज्ज पाणे
अतीरसे णेव रमे कदायी ।
उच्चावएहिं सयणासणेहिं
वायु व्व जालं समतिक्कमेज्जा ॥२॥

वे स म णे णं अरहता इसिणा बुइतं ।

२. न पाप करे, न प्राणियों की हिंसा करे, न स्वादिष्ट षड्रस भोजन में आसक्त होवे और न कदापि उच्च-नीच शयनासनों में प्रसन्नता अनुभव करे, अपितु जिस प्रकार वायु जालों को उड़ा देती है उसी प्रकार मुमुक्षु इन सब का अतिक्रमण कर दे । अर्थात् वायु की तरह अप्रतिबद्ध रहे ।

ऐसा अर्हत् वैश्रमण ऋषि बोले ।

2. Let the aspirant avoid sin and violence and have an utter indifference to delectable viands and soft mattresses. Such a one listeth as the wind bloweth, said Vaishraman, the seer.

जे पुमं कुरुते पावं, ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ ।
अप्पणा हि कडं कम्मं, अप्पणा चेव भुज्जती ॥३॥

३. जो पुरुष पाप करता है निश्चयतः उसे अपनी आत्मा प्रिय नहीं है; क्योंकि आत्मा स्वकृत कर्मों को स्वयं ही भोगती है ।

3. A vile indulgent is no well-wisher to his own self for it is the self that has to suffer the outcome of its own deeds.

पावं परस्स कुव्वन्तो, हसते मोहमोहितो ।
मच्छो गलं गसन्तो वा, विणिघायं ण पस्सति ॥४॥

४. मोहग्रस्त जीव दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हंसता है। मछली (आटे की गोली) गले में उतारते समय नाशकारी कांटे को नहीं देखती है।

4. An engrossed individual wishing ill to others takes his sin jocularly. He is like an angled fish unaware of the hook swallowed by it.

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लितो ।
दित्तं पावति उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणो ॥५॥

५. जैसे जल में रहा हुआ हाथी अत्यधिक उत्तेजित होता है वैसे ही मोहमल्ल द्वारा प्रेरित आत्मा वर्तमानिक तात्कालिक भोगों में अत्यासक्त और उत्तेजित होता है।

5. An inebriated elephant in abandonment in aquatic frolic is devoid of all sobriety. So is a man truly tipsy with engrossment of momentary pleasures.

परोवघाततल्लिच्छो, दप्पमोहबलुद्धुरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं ण विन्दती ॥६॥

६. दूसरे का घात करने वाला लिप्सु व्यक्ति अहंकार और मोहमल्ल से उद्धत होने के कारण गुण और दोष से शून्य अर्थात् विवेकशून्य हो जाता है। जैसे जर्जर वृद्धसिंह निर्बल प्राणियों का वध करते समय विवेक-शून्य हो जाता है।

6. A sadist bent upon harming others is power-drunk, egocentric and totally blind to moral judgment. He is like a decrepit tiger still capable of perpetrating untold tyrannies on the feeble beasts.

सवसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।
आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्कधारो दुहट्टिओ ॥७॥

७. पूर्वकृत पाप कर्म के वशीभूत होकर दुर्मति जीव दुःख का अनुभव करता है। वह गले में फंदा कसकर दुःख और विपदाओं की धारा में अपने आपको छोड़ देता है।

7. Woe is the direct repercussion of earlier sins committed by man. He unwittingly ropes in his own neck and embraces utter miseries.

पावं जे उ पकुव्वन्ति, जीवा सोताणुगामिणो ।
वड्ढते पावकं तेसिं, अणग्गाहिस्स वा अणं ।।८।।

८. जो सुखाभिलाषी जीव सुख के लिये पाप करते हैं। जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण (कर्ज) बढ़ता जाता है वैसे ही उनके पापों की राशि भी बढ़ती जाती है।

8. Pleasure-seekers who indulge in sinful conduct, endlessly enhance their debit account.

अणुबद्धमपस्सन्ता, पच्चुप्पण्णगवेसका ।
ते पच्छा दुक्खमच्छन्ति, गलुच्छित्ता जधा झसा ।।९।।

९. जो केवल वर्तमानिक—तात्कालिक सुख को खोजते हैं किन्तु उससे अनुबद्ध फल को नहीं देखते हैं, वे बाद में उसी प्रकार से दुःख पाते हैं जैसे कण्ठ से बिंधी हुई मछली।

9. A hedonist caring for the present jolly well ignorant of the corresponding moral liability, is like a stupid fish out to swallow the hook.

आताकडाण कम्माणं, आता भुंजति जं फलं ।
तम्हा आयस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ।।१०।।

१०. आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है और आत्मा ही उसके फल का भोक्ता है। अतः आत्मोत्कर्ष के लिये (मुमुक्षु) पापग्रहण करने के मार्ग का त्याग कर दे।

10. The self is the doer and also the sufferer of the reward and punishment of his acts. Hence the aspirant should give up this sinful option and sublimate his self.

जे हुतासं विवज्जेति, जं विसं वा ण भुंजति ।
जं णं गेण्हति वा वालं, णूणमत्थि ततोऽभयं ।।११।।

११. जो अग्नि का त्याग कर देता है, जो विषभक्षण नहीं करता है और जो सर्प को पकड़ लेता है उस व्यक्ति को भय नहीं होता। अर्थात् वह अभय है।

11. One who gives up the use of fire (in cooking), consumption of toxic substances and can handle serpents has no reason to fear aught.

धावन्तं सरसं नीरं, सच्छं दाढि सिंगिणं।
दोसभीरू विवज्जेन्ती, पावमेवं विवज्जए ॥१२॥

१२. (जैसे) तीव्र वेग से प्रवहमान स्वच्छ मधुर जल तथा दौड़ने वाले दाढ और शृंग वाले पशुओं को देखकर दोपभीरु (चोट आदि लग जाने के भय से) उस मार्ग से हट जाते हैं। उसी प्रकार दोपभीरु (पापादि दोपों से भय खाने वाले मुमुक्षु) को पापों के मार्ग से परे हो जाना चाहिए।

12. As a cautious being keeps off the track of tempestuous torrents and wild horny beasts for his own safety, so a morally vigilant soul should never so much as approach trails fraught with sinful inertia.

पावकम्मोदयं पप्प, दुक्खतो दुक्खभायणं।
दोसा दोसोदई चेव, पावकज्जा पसूयति ॥१३॥

13. पाप कर्मों का उदय होने पर जीव दुःखों से और अधिक दुःखों का भाजन बनता है। दोपी व्यक्ति और अनेक प्रकार के दोपों को ग्रहण करने वाले पाप कार्यों को उत्पन्न करता है।

13. Once the chain of evil destiny sets in there is misery and woe s a n s end. An evil doer is hurled headlong into sins abounding.

उव्विवारा जलोहन्ता, तेतणीए मतोट्ठितं।
जीवितं वा वि जीवाणं, जीवन्ति फलमन्दिरं ॥१४॥

१४. भूकम्प, जलसमूह, अग्नि अथवा तृणगुच्छ से मरकर भी प्राणियों का जीवन पुनः आरम्भ हो जाता है। फल का मन्दिर-आश्रय स्थान कर्म जब तक विद्यमान है तब तक जीवों का पुनर्जीवन भी चलता रहेगा।

14. An individual meeting his death by earth-quake, water, fire or nettled creepers does not cease to be There is a sequel of his certain transmigration. So long as Karmas exist to breed destiny transmigration is predestined.

देज्जाहि जो मरन्तस्स, सागरन्तं वसुंधरं ।
जीवियं वा वि जो देज्जा, जीवितं तु स इच्छती ॥१५॥

१५. मरते हुए प्राणी को समुद्र पर्यन्त पृथ्वी दी जाए या जीवन दिया जाए तो वह मरने वाला प्राणी जीवन की ही चाहना करेगा ।

15. A man breathing his last would prefer survival to a reign of world-wide empire.

पुत्तदारं धणं रज्जं, विज्जा सिप्पं कला गुणा ।
जीविते सति जीवाणं, जीविताय रती श्रयं ॥१६॥

१६. पुत्र, पत्नी, धन, राज्य, विद्या, शिल्प, कला और गुण ये सभी प्राणियों को जीवित दशा में ही उनके जीवन को आनन्दित कर सकते हैं ।

16. Progeny, spouse, wealth, empire, education, art, craft and versatility-all yield happiness so long as a human being is alive.

श्राहारादि तु जीवाणं, लोए जीवाण दिज्जती ।
पाणसंधारणट्ठाय, दुक्खणिग्गहणा तहा ॥१७॥

१७. लोक में प्राणियों के द्वारा प्राणधारी जीवों को आहारादि इसलिए दिये जाते हैं कि वे प्राणों को आश्वस्त होकर धारण कर सकें और दुःख का निग्रह कर सकें ।

17. Living beings offer food to other living beings to grant them a secure existence and freedom from misery.

सत्थेण वण्हिणा वा वि, खते दड्ढे व वेदणा ।
सए देहे जहा होति, एवं सव्वेसि देहिणं ॥१८॥

१८. जैसे स्वयं के शरीर में शस्त्र और आग से घाव, जलन श्रौर वेदना होती है, वैसे ही समस्त देहधारियों को भी होती है ।

18. As we experience distress due to injury, burn, irritation and pain, so do other organisms.

पाणी य पाणिघातं च, पाणिणं च पिया दया ।
सव्वमेतं विजाणित्ता, पाणिघातं विवज्जए ॥१९॥

१६. प्राणियों को प्राणिघात अप्रिय है। प्राणियों को दया प्रिय है। इन सबको समझकर मुमुक्ष प्राणिघात–हिंसा का त्याग करे।

19. All beings dislike death and injury. They cherish kindness. Keeping this in view, the aspirant should shun violence and killing.

अहिंसा सव्वसत्ताणं, सदा णिव्वेयकारिका।
अहिंसा सव्वसत्तेसु, परं बम्भमणिन्दियं ॥२०॥

२०. अहिंसा समस्त प्राणियों के लिये निर्वेद–अभयदायक है अथवा वैराग्य-कारक है। अहिंसा समस्त प्राणियों में अतीन्द्रिय परब्रह्म है।

20. Non-violence consoles and reassures every body. Non-violence is like the immanent God in all beings.

देविंदा दाणविंदा य, णरिंदा जे वि विस्सुता।
सव्वसत्तदयोवेतं, मुणीसं पणमन्ति ते ॥२१॥

२१. जो भी विश्रुत-विख्यात देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्र हैं वे सत्त्वधारी समस्त प्राणियों पर दयाभाव धारण करने वाले मुनीन्द्र को नमस्कार करते हैं।

21. All the majestic and glorious emperors, demons and regal beings bow to the compassionate saints.

तम्हा पाणदयट्ठाए, तेल्लपत्तधरो जधा।
एगग्गयमणीभूतो, दयत्थी विहरे मुणी ॥२२॥

२२. अतः दयावान मुनि प्राणियों पर दया के लिये तैलपात्रधारक के समान एकाग्रमन होकर विचरण करे।

22. That enjoins upon such merciful monks to vigilantly cultivate it in their fearless conduct.

आणं जिणिन्दभणितं, सव्वसत्ताणुगामिणिं।
समचित्ताऽभिणन्दित्ता, मुच्चन्ती सव्वबन्धणा ॥२३॥

२३. समस्त सत्त्वधारी जीवों का अनुगमन करने वाली जिनेश्वर देव कथित आज्ञा को प्रसन्नता और समचित्त से स्वीकार कर (मुमुक्षु) समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

23. The aspirant follows the commandment of the Jain prophet that inspires every living being, willingly and eagerly and attains deliverance.

वीतमोहस्स दन्तस्स, धीमन्तस्स भासितं जए ।
जे णरा णाभिणन्दन्ति, ते धुवं दुक्खभायिणो ।।२४।।

२४. वीतमोह (वीतराग), दान्त और प्रज्ञावान द्वारा कथित आज्ञा को जो अच्छी नहीं मानकर पालन नहीं करते हैं वे निश्चय से दुःख के अधिकारी, दुःखों के भाजन बनते हैं ।

24. The edict of such non-attached, charitable and profoundly wise beings, if not followed leads to miseries.

जेऽभिणन्दन्ति भावेण, जिणाणं तेसि सव्वधा ।
कल्लाणाइं सुहाइं च, रिद्धीओ य ण दुल्लहा ।।२५।।

२५. जो जिनेश्वर की आज्ञा को पूर्णरूपेण प्रसन्नता के साथ शिरोधाय करते हैं वे कल्याणादि सुखों को सहजभाव से प्राप्त करते हैं । उनके लिए ऋद्धियां भी दुर्लभ नहीं हैं ।

25. Those who adopt Jainism as their mode of life and conduct willingly, automatically, earn all rewards. They are endowed with mastery over natural forces and elements.

मणं तधा रम्ममाणं, णाणाभावगुणोदयं ।
फुल्लं व पउमिणीसण्डं, सुतित्थं गाहवज्जितं ।।२६।।

२६. जैसे विविध भावों और गुणों के उदय से हृदय आह्लादित होता है । जैसे ग्राहवर्जित—मगरमच्छों से रहित सुतीर्थ (द्रह) विकसित कमल-लताओं के समूह से शोभित होता है ।

26. These instructions cheer up all and tone each one's moral conduct. They are like lotus-spangled holy lakes free from crocodiles.

रम्मं मन्तं जिणिन्दाणं, णाणाभावगुणोदयं ।
कस्सेयं ण प्पियं होज्जा, इच्छियं व रसायणं ? ।।२७।।

२७. इसी प्रकार विविध भावों और गुणों के प्राचुर्य से जिनेश्वरों का मन्तव्य (मन्त्ररूप सिद्धान्त) रमणीय होता है। मनोवांछित रसायन के समान जिनेश्वरों का मन्तव्य किसको रुचिकर न होगा ?

27. The preachings of Jainism are richly endowed and beneficially pleasant. Who will not relish such instructions that be-token spiritual elevation, welcome to all ?

णण्हातो व सरं रम्मं, वाहितो वा रुयाहरं ।
छुहितो व जहाऽऽहारं, रणे मूढो व बन्दियं ।।२८।।

२८. अस्नात व्यक्ति को सरोवर प्रिय है, रोगी को वैद्य या चिकित्सालय प्रिय है, भूखे को भोजन प्रिय है और युद्धभूमि में मूर्ख या व्याकुल व्यक्ति और कैदी अथवा मागध को सुरक्षित स्थान प्रिय है।

28. One unabluted seeks ponds and lakes, a patient seeks a clinic, a starving one cherishes meals and fearful individual in a battle field seeks a cosy refuge.

वण्हि सीताहतो वा वि, णिवायं वाऽणिलाहतो ।
तातारं वा भउव्विग्गो, अणत्तो वा धणागमं ।।२९।।

२९. भीषण सर्दी से पीड़ित को अग्नि प्रिय है, पवन से पीड़ित को हवा-रहित स्थान प्रिय है, भयत्रस्त को सुरक्षा प्रिय है और ऋणी को धनप्राप्ति प्रिय है। (वैसे ही मुमुक्षु को नानाभावगुणोपेत जिनेश्वर की आज्ञा प्रिय है।)

29. A freezing man dreams of a hearth; one tossed by hurricanes–a closed niche; a frightened being–a reassurance and a debtor wealth. (An aspirant on this analogy seeks the flourishing Jain moral code.)

गम्भीरं सव्वतोभद्दं, हेतुभंगणयुज्जलं ।
सरणं पयतो मण्णे, जिणिन्दवयणं तहा ।।३०।।

३०. गम्भीर, सर्वतोभद्र, हेतु, भंग और नय से उज्ज्वल जिनेश्वर वाणी की शरण जाने वाला भी ऐसे ही आनन्द का अनुभव करता है।

30. Jain philosophy is sober, versatile, rational and logical. One resorting to it is rewarded with bliss.

सारदं व जलं सुद्धं, पुण्णं वा ससिमण्डलं ।
जच्चमणि अघट्टं वा, थिरं वा मेतिणीतलं ॥३१॥

३१. जैसे शरद् ऋतु का जल शुद्ध होता है, चन्द्र मण्डल पूर्ण होता है, अघट्ट—तराशी हुई अखण्डित उत्तम मणि होती है और पृथ्वी स्थिर होती है ।

31. As the water in winter is clear, moon full-orbed, duly cut gem shapely and terra firma stable, —

साभावियगुणोवेतं, भासते जिणसासणं ।
ससीतारापडिच्छण्णं, सारदं वा णभंगणं ॥३२॥

३२. वैसे ही स्वाभाविक गुणों से युक्त जिनेश्वर देव का शासन—जिन-शासन शोभायमान होता है । जैसे चन्द्र और तारागण से परिपूर्ण शरत्पूर्णिमा का आकाश मण्डल शोभायमान होता है ।

32. —So Jainism is splendid like the star-studded sky on a full *moon day in winter.*

सव्वण्णुसासणं पप्प, विण्णाणं पवियम्भते ।
हिमवन्तं गिरिं पप्पा, तरूणं चारु वागमो ॥३३॥

३३. जो सर्वज्ञशासन—जिनशासन प्राप्त कर लेता है उसका आत्मिक विज्ञान भी वैसा ही विकसित हो जाता है । जैसा कि हिमवन्तगिरि—हिमालय को प्राप्तकर वृक्षों में सुन्दरता का प्रादुर्भाव हो जाता है ।

33. One who accomplishes himself after Jain ethics, attains glory akin to lush greenery along the Himalayas.

सत्तं बुद्धी मती मेधा, गंभीरत्तं च वड्ढती ।
ओसधं वा सुयक्कन्तं, जुज्जए बलवीरियं ॥३४॥

३४. जो सर्वज्ञशासन प्राप्त कर लेता है उसमें सत्त्व, बुद्धि, मति, मेधा और गम्भीर्य की प्रशस्त वृद्धि होती है । जैसे पवित्र औषध के सेवन से तेज, बल और वीर्य की वृद्धि होती है ।

34. One well-versed in Jainism automatically attains truth, wisdom, discretion, intellect and profundity as one is rendered healthy, and robust by the use of *elixir.*

पयंडस्स णरिंदस्स, कन्तारे देसियस्स य ।
आरोग्गकारणो चेव, आणाकोहो दुहावहो ।।३५।।

३५. प्रचण्ड शासक राजा का, अटवी के मार्गदर्शक का या संसार वन के मार्गदर्शक गुरु का और रोगहारक वैद्य की उग्र आज्ञा का पालन न करना दुःखकारक है ।

35. It is injurious to neglect the obligatory command of a great monarch, supreme guide in the vast labyrinthine wild world and a versatile physician.

सासणं जं णरिन्दाओ, कन्तारे जे य देसगा ।
रोगुग्घातो य वेज्जातो, सव्वमेतं हिए हियं ।।३६।।

३६. नरेन्द्र के शासन का, वन के मार्गदर्शक या संसार वन के मार्गदर्शक गुरु का और रोगहन्ता वैद्य की आज्ञा का पालन करना अति हितकारी है ।

36. It is sheer bliss to obey the command of such a monarch, guide and physician.

आणाकोवो जिणिन्दस्स, सरण्णस्स जुतीमतो ।
संसारे दुक्खसंबाहे, दुत्तारो सव्वदेहिणं ।।३७।।

३७. द्युतिमान शरण्य (शरण ग्रहण करने योग्य) जिनेन्द्र की उग्र आज्ञा दुःख से परिपूर्ण संसार में समस्त देहधारियों के लिए कष्ट से पालन करने योग्य है (तथापि उसका पालन आवश्यक है) ।

37. The commandment of the Lord of Jainism is tedious and still it is incumbent upon every individual to obey it unflinchingly.

तेलोक्कसारगरुयं, धीमतो भासितं इमं ।
सम्मं काएण फासेत्ता, पुणो ण विरमे ततो ।।३८।।

३८. त्रैलोक्य के सारभूत धीमान महापुरुषों ने जो कहा है—कठोर आदेश प्रदान किया है उसका सम्यक् प्रकार से जीवन से स्पर्श कर अर्थात् हृदय में धारण कर पालन करें । उससे पीछे न हटे ।

38. Whatever these accomplished beings have uttered should be scrupulously comprehended and carried out in toto.

वद्धचिन्धो जधा जोधो, वम्मारूढो थिरायुधो ।
सीहणायं विमुंचित्ता पलायन्तो ण सोभती ॥३९॥

३९. राजचिह्न बांधकर कवचधारी एवं आयुधों से सुसज्जित योद्धा सिंहनाद करता हुआ भी यदि युद्धस्थल से पलायन करता है तो वह शोभास्पद नहीं है।

39. It behoves not an abundantly equipped and armed and shielded valiant warrior to flee from the battle ground.

अगन्धणे कुले जातो, जधा णागो महाविसो ।
मुंचित्ता सविसं भूतो, पियन्तो जाती लाघवं ॥४०॥

४०. जैसे अगन्धन कुल में उत्पन्न हुआ सर्पराज महाविष को छोड़कर यदि उस विष का पुनः पान करता है तो वह लघुता/हीनता को प्राप्त होता है।

40. If a mighty serpent born in the fabled Agandhan breed sheds his venom, it befits him not to repollute his fangs with the vomitted venom.

जधा रुप्पिकुलुब्भूतो, रमणिज्जं पि भोयणं ।
वन्तं पुणो स भुंजन्तो, धिद्धिकारस्स भायणं ॥४१॥

४१. जैसे रुक्मि कुल (उच्च-कुल) में पैदा हुआ स्वादिष्ट भोजन कर और उसे वमन कर पुनः उसको खाता है तो वह धिक्कार का पात्र होता है।

41. Cursed be one of the fabled Rukmi clan if he consumes delicious food, vomits it and again stoops to consume the vomit.

एवं जिणिन्दआणाए, सल्लुद्धरणमेव य ।
णिग्गमो य पलित्ताओ, सुहिओ सुहमेव तं ॥४२॥

४२. इसी प्रकार जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन करने वाला (मुमुक्ष साधक) आत्मा के शल्यों का उन्मूलन कर देता है, भवभ्रमण की ज्वाला से निकल जाता है, सुखी होता है। वस्तुतः वही सच्चा सुख है।

42. One dedicated to Jainism frees himself of all misery and defect. He is not required to suffer reincarnation nor woes any longer. This is happiness par excellence.

इन्दासणी ण तं कुज्जा, दित्तो वण्ही, अणं अरी ।
आसादिज्जन्तसम्बन्धो, जं कुज्जा रिद्धिगारवो ।।४३।।

४३. इन्द्र का वज्र, जाज्वल्यमान अग्नि, ऋण (कर्ज) और शत्रु इतनी हानि नहीं पहुंचाते जितना कि मन से आस्वादित की हुई ऋद्धि का गौरव, वैभव का अहंकार हानि पहुंचाता है ।

43. The thunderbolt of Indra, the King of gods, burning cinders, debt and foe inflict less injury than the vanity of accomplishment and pride.

सगाहं सरबुद्धं, विसं वामणुजोजितं ।
सामिसं वा णदीसोयं, सातकम्मं दुहंकरं ।।४४।।

४४. मगर से प्रेरित सरोवर, विषमिश्रित नारी (विष-कन्या) और मांस-युक्त नदी-प्रवाह के समान साता–सुखकारक कर्म भी अन्ततः दुःखदायी होते हैं ।

44. Deeds yielding pleasures are also in an ultimate analysis woeful like a crocodile-infested lake, f e m m e f a t a l e and dangerous stream.

कोसीकिते व्वऽसी तिक्खो, भासच्छण्णो व पावओ ।
लिंगवेसपलिच्छण्णो, अजियप्पा तहा पुमं ।।४५।।

४५. जैसे तीक्ष्णधार वाली तलवार म्यान में रहती है और आग भस्म से ढकी रहती है वैसे ही अजितात्मा/पराजित पुरुष भी बहुविध लिंग और वेषों में छिपे रहते हैं ।

45. Unaccomplished and defeated individuals are seen in various guises like a word in a sheath and embers under ashes.

कामा मुसामुही तिक्खा, साता कम्माणुसारिणी ।
तण्हासातं च, सिग्घं च, तण्हा छिन्दति देहिणं ।।४६।।

४६. वासना से तीक्ष्ण मृषामुखी (असत्यवादी) कैंची साता कर्मानु-सारिणी है । किन्तु शरीरधारियों की यह तृष्णा सुख या शान्ति और आशा को शीघ्र ही काट देती है ।

46. Hydra-headed passion has a voluptuous bait but such estiny-generating ventures shear away peace and happiness.

सदेवोरगगन्धव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं ।

वत्तं तेहिं जगं किच्छं, तण्हापासणिबन्धणं ॥४७॥

४७. जिसने तृष्णारूपी पाश का बन्धन तोड़ दिया है उसने देव, नाग, गन्धर्व, तिर्यंच और मानवों के साथ सम्पूर्ण जगत् का त्याग कर दिया है।

47. One who has renounced desire, has abandoned the entire universe comprising angels, gods, demigods, animals and men.

अक्खोवंगो, वणे लेवो, तावणं जं जउस्स य ।

णामणं उसुणो जं च, जुत्तितो कज्जकारणं ॥४८॥

४८. आँख में अंजन लगाना, घाव पर लेप लगाना, लाख को तपाना और बाण को झुकाना, इन सबके पीछे उचित कार्य-कारणों की परम्परा होती है।

48. Reason relates the application of ointment to eye, analgesic salves to wound, softening the lacquer and bending the arrow.

आहारादीपडीकारो, सव्वण्णुवयणाहितो ।

अप्पाहु तिव्वचण्हिस्स, संजमट्ठाए संजमो ॥४९॥

४९. जीव संयम का पालन करने हेतु क्षुधा की तीव्र आग का प्रतिकार करने के लिये आहारादि का ग्रहण करता है, वह सर्वज्ञवचनों से अनुमोदित है और संयम के लिये हितकारी है।

49. It is for practising austerity that food is consumed to ward off hunger. This is endorsed by the knowledgeable and is beneficial to an ascetic.

हेमं वा आयसं वा वि, बन्धणं दुक्खकारणं ।

महग्घस्सावि दण्डस्स, णिवाए दुक्खसंपदा ॥५०॥

५०. सोने का वन्धन हो या लोहे का, वह दुःख का ही कारण होता है। महामूल्य वाला दण्ड पड़ने पर भी दुःखप्रद तो होता ही है।

50. Fetters of gold are as distressing as those of iron. A gem-decked rod will hit as painfully as a plain one,

आसज्जमाणे दिव्वम्मि, धीमता कज्जकारणं ।
कत्तारे अभिचारित्ता, विणीयं देहधारणं ॥५१॥

५१. स्वर्ग के प्रति भी अनासक्त होकर प्रज्ञाशील कर्त्तव्य की कार्य-कारण परम्परा को अनिवार्य रूप से दूर करता हुआ देहधारण-शरीर को भी (प्रायोपगमनादि अनशन के द्वारा) समाप्त करे ।

51. Abjectly indifferent to the heavenly rewards, the aspirant should wisely unravel the mystery of cause and effect and may discard the body by denying it food ultimately.

सागरेणावणिज्जोको, आतुरो वा तुरंगमे ।
भोयणं भिज्जएहिं वा, जाणेज्जा देहरक्खणं ॥५२॥

५२. समुद्र में नाविक नौका का, युद्ध में (सारथि) घोड़े का और भिज्जक–भूखा व्यक्ति भोजन का ध्यान रखता है, इसी प्रकार (मुमुक्षु आत्मसाधन हेतु) देह का रक्षण करता है ।

52. As a sailor watches his vessel on high seas, a cavalry his steed in battle ground and a starving being his food, so should an aspirant care for his physique as an instrument of sallvation.

जातं जातं तु विरियं, सम्मं जुञ्जेज्ज संजमे ।
पुप्फादीहि पुप्फाणं, रक्खन्तो आदिकारणं ॥५३॥

५३. स्वयं में प्रकट होने वाली पराक्रम–शक्ति का सम्यक् प्रकार से संयम में उपयोग करे । पुष्पादि का उपयोग करने वाला पुष्पों का आदिकारण/बीज की रक्षा करता है ।

53. Divert your entire strength to restraint. A floral faddist protects the floral seed.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

वेसमणिज्जं णाम अज्झयणं ॥

इसिभासियाइं समत्ताइं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् वैश्रमण ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Vaishraman, the seer, do pronounce.

वैश्रमण नामक पैंतालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥ ४५ ॥

ऋषिभाषित सूत्र सम्पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट–1

ऋषिभाषित की दो संग्रहणियाँ

[ऋषिभाषित सूत्र से सम्बद्ध दो संग्रहणियां प्राप्त हैं। संग्रहणी का अर्थ है—संक्षिप्त रूप से पदार्थ-प्रतिपादन अथवा सार/निष्कर्षों का संकलन। इनमें प्रथम संग्रहणी नामाधिकार कहलाती है दूसरी संग्रहणी अर्थाधिकार। दोनों प्राकृत भाषा में हैं और क्रमश: 6 और 5 गाथाओं में निबद्ध हैं।

ऋषिभाषित में जिन पैंतालीस अर्हत् ऋषि/महात्माओं/प्रत्येकबुद्धों के अनुभूति पूर्ण एवं जीवन-स्पर्शी सन्देशों/आध्यात्मिक एवं नैतिक उपदेशों का संकलन/चयन किया गया है, उन्हीं का इसमें लेखा-जोखा है।

प्रथम संग्रहणी की प्रथम गाथा में यह प्रतिपादन किया गया है कि इन पैंतालीस अर्हतर्षियों में कितने-कितने अर्हतर्षि किन-किन तीर्थंकरों के शासन काल में हुए हैं? पश्चात् की 5 गाथाओं में अर्थात् 2 से 6 तक प्रत्येक अर्हतर्षि के नाम गिनाये गये हैं।

द्वितीय संग्रहणी में ऋषिभाषित में प्रतिपादित 45 अध्ययनों के नाम दिये गये हैं। इन नामों की विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ के प्रथम शब्दों को ग्रहण कर अध्ययन का नामकरण किया गया है।]

[Two appendices of the Rishibhashit are available. Appendix means compilation of briefs about contents or themes discussed in the book. The first appendix is compilation of titles and second that of subjects. Both are in Prakrit and contain 6 and 5 couplets respectively.

The appendices have mention of the fortyfive seers/ascetics/sages whose messages/philosophical and moral teachings have been compiled in the Rishibhashit.

The first couplet of the first appendix mentions which of these forty-five seers were contemporary to which Tirthankar. The following five couplets, that is 2 to 6, contain the names of each of them.

The second appendix mentions the titles of the forty-five chapters contained in Rishibhashit. These names have been given by taking the first word of every chapter].

प्रथम संग्रहणी

पत्तेयबुद्धमिसिणो, तित्थे वीसं अरिट्ठणेमिस्स ।
पासस्स य पण्णर दस वारस्स विलीणमोहस्स ॥१॥

१. वीस प्रत्येक बुद्ध ऋषि अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पन्द्रह पार्श्वनाथ और दस विगतमोह महावीर के तीर्थ/शासन में हुए हैं।

1. Twenty of these seers were contemporary to Arishthanemi (Neminath), fifteen lived during the life of Parshwanath and ten during the period of Mahavir.

णारद-वज्जित-पुत्ते, असिते अंगरिसि-पुप्फसाले य ।
वक्कल-कुम्मा केतलि, कासव तह तेतलिसुते य ॥२॥

२. १. नारद, २. वज्जिय (वाज्रिक) पुत्र, ३. असित, ४. अंग ऋषि (अंगिरस) ५. पुष्पशाल, ६. वल्कल (चीरी) ७. कूर्म (कूर्मा पुत्र) ८. केतलि (पुत्र), ९. काश्यप तथा १०. तेतलिपुत्र।

2. 1. Narada, 2. Vajjiya (Vajrik) putra, 3. Asit, 4. Angarishi (Angiras), 5. Pushpashal, 6. Valkal (chiri), 7. Kurma (putra), 8. Kaitali (putra), 9. Kashyap, and 10. Taitaliputra.

मंखलि जण्ण-भयालि, बाहुय महु सोरियायण विद्दू य ।
वरिसे कण्हे आरिय, उक्कल गाहावई तरुणे ॥३॥

३. ११. मंखली (पुत्र), १२. यज्ञ (याज्ञवल्क्य), १३. भयालि, १४. वाहुक १५. मधु (मधुरायण), १६. शौर्यायन, १७. विदु, १८. वर्षप् कृष्ण, १९. आर्य (आर्यायण) २०. उत्कलवादी और २१. गाथापति तरुण।

3. 11. Mankhali (putra), 12. Yagy (Yagyavalkya), 13. Bhayali 14. Bahuk, 15. Madhu (Madhurayan); 16. Shauryayan, 17. Vidu, 18. Varshap Krishna, 19. Arya (Aryayan), 20. Utkalvadi, 21. Gathapati Tarun.

गद्दभ रामे य तहा, हरिगिरि अम्बड़ मयंग वारत्ता ।
तत्तो य अद्दए वद्धमाणे वाऊ य तीसतिमे ॥४॥

४. २२. गर्दभ, २३. राम, २४. हरिगिरि, २५. अम्बड, २६. मातंग, २७. वारत्तक, २८. आर्द्रक, २९. वर्द्धमान, और ३०. वायु, ये तीसवें हैं।

4. 22. Gardabh (Gardabhiya), 23. Rama, 24. Harigiri, 25. Ambad, 26. Matanga, 27. Varattaka, 28. Ardrak, 29. Vardhman and Vayu is thirtieth.

पासे पिंगे अरुणे, इसिगिरि अद्दालए य वित्ते य ।
सिरिगिरि सातियपुत्ते, संजय दीवायणे चेव ॥५॥

५. ३१. पार्श्व, ३२. पिंग, ३३. अरुण, ३४. ऋषिगिरि, ३५. अद्दालक, ३६. वित्त (तारायण), ३७. श्री गिरि, ३८. सातिपुत्र, ३९. संजय और ४०. द्वैपायन ।

5. 31. Parshwa, 32. Ping, 33. Arun, 34. Rishigiri, 35. Addalak, 36. Vitta (Tarayan), 37. Shrigiri, 38. Satiputra, 39. Sanjay and 40. Dvaipayan.

तत्तो य इंदणागे, सोम यमे चेव होइ वरुणे य ।
वेसमणे य महप्पा, चत्ता पंचेव अक्खाए ॥६॥

६. अनन्तर ४१. इन्द्रनाग, ४२. सोम, ४३. यम, ४४. वरुण, ४५. वैश्रमण । इस प्रकार पैंतालीस महात्मा अर्हतर्षि हैं ।

6. then, 41. Indranaga, 42. Soma, 43. Yama, 44. Varun and 45. Vaishraman. As such there are forty five holy seers.

द्वितीय संग्रहणी

अध्ययनों के नाम

सोयव्वं जस्स भवि० लेवो, आदाणरक्खि माणा य ।
तमे सव्वं आराए, जाव य सद्धेय णो-एय ॥१॥

१. १. सोयव्व, २. जस्स, ३. अविलेव (भविदव्वं), ४. आयाणरक्खी, ५. माणा, ६. तम, ७. सव्वं, ८. आरं, ९. जाव, १०. सद्धेय, ११. णो-एय ।

1. 1. Soyavva, 2. Jassa, 3. Avileva (Bhavidavvam), 4. Ayanarakkhi, 5. Mana, 6. Tama, 7. Savvam, 8. Aaram, 9. Java, 10, Saddheya, 11. No-eya.

लोगेसणा किमत्थं, जुत्तं साता तधेव विसये य ।
विज्जा वज्जे आरिय, उक्कल णाहं ति जाणामि ॥२॥

२. १२. लोएसणा, १३. किमत्थं, १४. जुत्तं, १५. साया, १६. विसय, १७. विज्जा, १८. वज्जं, १९. आरिय, २०. उक्कल, २१. णाहं (णाहं पुरा किंचि) जाणामि ।

2. 12. Loyesana, 13. Kimattham, 14. Juttam, 15. Saya, 16. Visaya, 17. Vijja, 18. Vajjam, 19. Ariya, 20. Ukkal, 21. Naham (Naham pura kinchi).

पडिसाडी ठवए दुवे मरणा सव्वं तधेव बंभे य ।
धम्मे य साहू सोते, सवंति अहसच्चतो समे लोए ॥३॥

३. २२. परिसाडी, २३. दुवे मरणा, २४. सव्वं, २५. तएणं, २६. धम्मे (कतरे धम्मे), २७. साधु, २८. छिण्णसोते, २९. सवंति, ३०. अहसच्चतो (अधासच्चमिणं), ३१ समे लोए (केयं लोए) ।

3. 22. Parisadi, 23. Duve Marana, 24. Savvam, 25. Tayenam, 26. Dhamme (katare dhamme), 27. Sadhu, 29. Chhinna sotay, 29. Savanti, 30. Aha sachchato (Adhasachaminam), 31. Samey loye (Keyam loye).

किसी बाले य पण्डित, सहणा तह कुप्पणा य बोद्धव्वा ।
उप्पत उदए य सुहे, पावे तह इच्छणिच्छा य ॥४॥

४. ३२. किसिं (दिव्वं भो किसिं), ३३. वाले (दोहिं ठाणेहिं वालं), ३४. सहणा, ३५. कुप्पणा, ३६. उप्पत (उप्पतता), ३७. उदगं, ३८. सुहे (जं सुहेंण), ३९. पावगं, (जे इमं पावगं), ४०. इच्छमणिच्छं ।

4. 32. Kisim (Divvam bho kisim), 33. Baley (Dohim thanehim balam), 34. Sahana, 35. Kuppana, 36. Uappat (Uppatata), 37. Udagam, 38. Suhe (Jam suhena), 39. Pavagam (Je imam pavagam), 40. Ichham-nichham.

अजीवतो य अप्पा अप्पेण य एसितव्व बहुयं तु ।
लाभे दो ठाणेहि य अप्पं पापाण हिंसाऽऽयु ॥५॥

५. ४१. आजीवतो (जेसिं आजीवतो), ४२. अप्पेण, ४३. लाभम्मि ४४. दो ठाणे हिं और ४५. अप्पं च ।

5. 41. Aajivato (Jesim aajivato), 42. Appena, 43. Labhammi, 44. Do thanehim and 45. Appam cha

परिशिष्ट–2

ऋषिभाषित का पद्यानुक्रम

[निम्नांकित परिशिष्ट में पद्यांश के बाद अध्ययन एवं गाथांक दिये हैं तथा अन्त में पृष्ठांक।]

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

के प्रकाशन

क्रमांक	नाम	लेखक/सम्पादक	मूल्य	विषय
1	2	3	4	5
1.	अपभ्रंश और हिन्दी (हिन्दी)	डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन	30/–	भाषा विज्ञान
2.	आचारांग चयनिका (प्रा० एवं हि०) (द्वितीय संस्करण)	डॉ० कमलचंद सोगानी –सजिल्द –अजिल्द	 25/– 18/–	जैनागम
3.	उपमिति-भव-प्रपंच कथा (हिन्दी)	म० विनयसागर	150/–	कथा साहित्य
4.	ऋषि-भाषित सूत्र (प्रा०/हि०/अं०)	म० विनयसागर कलानाथ शास्त्री डी० सी० शर्मा	60/–	जैनागम
5.	एस्ट्रोनोमी एण्ड कास्मोलोजी (अंग्रेजी)	प्रो० एल० सी० जैन	15/–	विज्ञान
6.	कल्प-सूत्र (सचित्र) (प्रा०/हि०/अं०) (द्वितीय संस्करण)	म० विनयसागर	200/–	जैनागम
7.	गणधरवाद (हिन्दी)	म० विनयसागर	50/–	जैन दर्शन
8.	चन्दनमूर्ति (हिन्दी)	गणेश ललवानी	20/–	उपन्यास
9.	जाति स्मरण ज्ञान (हिन्दी)	उपाध्याय महेन्द्र मुनि	3/–	मनोविज्ञान
10.	जैन इन्सक्रिप्सन्स ऑफ राजस्थान (अंग्रेजी)	रामवल्लभ सोमानी	70/–	पुरातत्व
11.	जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	14/–	जैन दर्शन
12.	जैन कहानियां (हिन्दी)	उपाध्याय महेन्द्र मुनि	4/–	कथा साहित्य
13.	जैन धर्म और दर्शन (हिन्दी)	गणेश ललवानी	9/–	जैन दर्शन
14.	जैन पोलिटिकल थॉट (अंग्रेजी)	डॉ० जी० सी० पाण्डे	40/–	राजनीति
15.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन— भाग 1 और 2 (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	140/–	दर्शन
16.	जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	16/–	समाज शास्त्र
17.	जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	20/–	साधना
18.	जैनागम दिग्दर्शन (हिन्दी)	डॉ० मुनि नगराज जी	20/–	जैनागम
19.	जैनिज्म (अंग्रेजी)	दलसुख मालवणिया	30/–	दर्शन
20.	दशवैकालिक चयनिका (प्रा०/हि०)	डॉ० कमलचन्द सोगानी	12/–	जैनागम
21.	नीतिवाक्यामृत (संस्कृत/हि०/अं०)	डॉ० एस० के० गुप्ता	100/–	नीति

1	2	3	4	5
22	नीलांजना (हिन्दी)	गणेश ललवानी	12/–	कथा साहित्य
23.	प्राकृत काव्य मंजरी (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	16/–	व्याकरण
24.	प्राकृत गद्य सोपान (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	16/–	व्याकरण
25.	प्राकृत स्वयं शिक्षक (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	15/–	व्याकरण
26.	वेसिक मैथेमेटिक्स (अंग्रेजी)	प्रो० एल० सी० जैन	15/–	गणित
27.	महावीर का जीवन संदेश (हिन्दी)	काका कालेलकर	20/–	निबन्ध
28.	मिले मन भीतर भगवान (हिन्दी)	विजय कलापूर्ण सूरि म० विनय सागर	30/–	भक्ति योग
29.	रसरत्नसमुच्चय (सं०/अं०)	डॉ० जे० सी० सिकदर	15/–	रसायन
30.	वाक्पतिराज की लोकानुभूति (प्रा०/हिन्दी)	डॉ० के० सी० सोगानी	12/–	सुभाषित
31.	समणसुत्तं चयनिका (प्रा०/हिन्दी)	डॉ० के० सी० सोगानी	12/–	जैनागम
32	सामायिक धर्म : एक पूर्ण योग (हि०)	विजय कलापूर्ण सूरि	10/–	धर्म
33.	स्मरण कला (हिन्दी)	मोहन मुनि 'शार्दूल'	15/–	मनो विज्ञान
34.	हाफ-ए-टेल (अंग्रेजी) (अर्धकथानक)	डॉ० मुकुन्द लाठ	150/–	आत्म-कथा
35.	हेम–प्राकृत–व्याकरण शिक्षक (प्रा०/हि०)	डॉ० उदय चन्द जैन	16/–	व्याकरण

प्राप्ति स्थान

प्राकृत भारती अकादमी

३८२६, यति श्यामलाल जी का उपाश्रय
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर–३०२००३ (राज०)